प्रकाशक :
कैलाशचन्द्र जैन
(प्रो० राजा टायज)
डिप्टीगंज, दिल्ली ।

प्रथम संस्करण
मूल्य ४) : चार रुपया
रक्षावन्धन वीर नि० सं० २४९२

मुद्रक :
नवलक्ष्मी प्रेस,
कूंचा वुलाकी वेगम,
दरीवा कलाँ, दिल्ली-६

आमुख

जैन संस्कृति अध्यात्म प्रधान है। जैन धर्म की आत्मा ऐहिक सुखों की अपेक्षा पारलौकिक सुख को परम प्रेय मानती रही है। इस लोक का इन्द्रिय भोग सम्बन्धी सुख तुच्छ है, किन्तु परलोक का इन्द्रियातीत सुख अधिक वांछनीय है। वूर के नकद लड्डुओं को छोड़कर मोतीचूर के उधार लडडुओं की कामना और स्पृहा जैसी यह बात अटपटी लगती है। किन्तु गहराई से देखेंगे तो वूर के लड्डुओं में भला क्या रक्खा है, भले ही वे हमें अभी मिल सकते हैं। लेकिन अगर कुछ प्रतीक्षा के पश्चात् मोतीचूर के लड्डू मिलने की आशा और संभावना उज्वल हो तो वह प्रतीक्षा करने में कोई हानि नहीं है। इसी प्रकार इहलोक के ये इन्द्रिय-भोग देखने में मधुर लगते हैं, किन्तु इनकी मधुरता के नीचे जो कटुता छिपी हुई है, वह जैन मनीषियों की दृष्टि से छिपी नहीं है। इसलिये उन्होंने उस सुख को स्पृहणीय बताया है, जो स्वाधीन हो, क्षणिक न हो, जिसका फल दुःख न हो। इन्द्रिय-सुख इन्द्रियाधीन होते हैं, क्षणिक हैं और दुःख मूलक हैं। इसलिये इन्द्रिय-सुख काम्य नहीं है।

जन मनीषियों ने सुख और दुःख की परिभाषा संक्षेप में एक और ही दृष्टिकोण से की है—'सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं स्वात्मवशं सुखम्' अर्थात् जितना पराधीन है, वह सब दुःख रूप है और अपने आधीन सुख होता है। आत्मिक या आध्यात्मिक सुख स्वाधीन होता है, उसमें अन्य किसी परवस्तु की अपेक्षा नहीं

होती। यदि पूर्ण आत्मिक सुख एक बार प्राप्त हो जाय तो वह कभी नष्ट नहीं होता। यदि पूर्ण आत्मिक सुख न मिले, आंशिक सुख ही प्राप्त हो, तब भी उस सुख की तुलना संसार के अन्य इन्द्रिय सुखों से नहीं की जा सकती। इन्द्रिय-सुखों की एक सीमा है, उसके साथ नाना प्रकार के बन्धन हैं, किन्तु आत्मिक सुख की कोई मर्यादा नहीं होती। उसके लिये कोई बन्धन नहीं हैं। वह स्वानुभवगोचर है। उस सुख की महत्ता वाणी से नहीं कही जा सकती।

किन्तु इस आत्मिक सुख की उपलब्धि हमारे दूषित दृष्टिकोण के कारण हमें हो नहीं पाती। हमारे दृष्टिकोण का दोष मूलतः यह है कि हम सुख की तलाश पदार्थों में करते हैं, जबकि सुख आत्मा के भीतर विद्यमान है। दूसरा दोष यह है कि पर पदार्थों—शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि में अपनत्व की कल्पना करके उन्हें ही आत्मा समझ बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके सुख-दुःख और लाभ-हानि को अपना सुख-दुःख या लाभ-हानि मान लेते हैं। और इसी में उलझे रहते हैं। किन्तु यह गोरखधन्धा कभी सुलझ नहीं पाता। तीसरा दोष यह है कि हम अपने आपको पर पदार्थ का कर्ता, भोक्ता और स्वामी मान बैठे हैं। इस अहंकार बुद्धि के कारण हममें वास्तविकता को हृदयंगम करने की क्षमता नहीं रह गई है।

जैन धर्म व्यक्ति को उसकी आध्यात्मिक वास्तविकता से परिचित कराने का प्रयत्न करता है। जब व्यक्ति इससे परिचित हो जाता है तो उसका दृष्टिकोण वास्तविक बन जाता है। और वह आत्मा को आत्मा और अनात्मा को अनात्मा समझने और मानने लगता है। तब वह वस्तुतः जो है अपने आपको वही मानता है। पहले वह वस्तुतः जो नहीं है, अपने आपको वह समझता था तथा जो उसका नहीं है, उसे अपना मानता था। किन्तु दृष्टि ठीक होने पर वह ठीक दिशा में सोचता है, उसकी मान्यता सही हो जाती है। और तब उसका व्यवहार भी सही हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम योगामृत है। यह एक अध्यात्म शास्त्र है। इसके कर्ता मुनि बालचन्द्र हैं। ग्रन्थ की उपलब्ध श्लोक संख्या ६६ है। इससे अधिक इस ग्रन्थ और इसके रचयिता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं हो सका। मुनि बालचन्द्र का वास्तविक परिचय क्या है, इनके माता-पिता-काल या गुरु आदि के सम्बन्ध में भी कुछ पता नहीं चलता। ग्रन्थ के प्रारम्भ में अवश्य ग्रन्थकर्ता का नाम आया है, जिससे ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में नाम का तो पता चल गया। अन्यथा अन्यत्र कहीं पर ग्रन्थकर्ता ने अपना विशेष परिचय नहीं दिया। ग्रन्थ की उपलब्ध प्रति के आधार पर ग्रन्थ की समाप्ति जिस प्रकार की गई है, उससे हमें सन्देह होता है कि यह ग्रन्थ अभीं अपूर्ण है। वर्तमान स्थिति में तो हम यह भी कहने में समर्थ नहीं हैं कि ग्रन्थ रचयिता ने ही ग्रन्थ का निर्माण ६६ श्लोकों में किया और किसी कारणवश आगे ग्रन्थ-रचना नहीं कर पाये अथवा ताड़पत्र की जिस प्राचीन प्रति के आधार पर इस ग्रन्थ की नकल की गई, वह प्रति ही अपूर्ण है।

इन दोनों संभावनाओं और विकल्पों में से कोई भी बात हो। किन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि ग्रन्थ अपूर्ण है। और हमारा विश्वास है, जैसा कि कनड़ी भाषा के अन्य कवियों की शैली रही है, ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति अवश्य दी गई होगी, जिसके आधार पर कवि के काल और अन्य ज्ञातव्य बातों के सम्बन्ध मे परिचय प्राप्त हो सकता। किन्तु फिलहाल तो हम कवि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते।

कवि ने कनड़ी जैसी जनपदीय भाषा में अध्यात्म की मन्दाकिनी बहाकर सरस्वती मां की जो सेवा की है, वह जैन आचार्य परम्परा के अनुकूल ही है। जैन आचार्यो, मुनियों और लेखकों का दृष्टिकोण उन्मुक्त गगन की भांति निर्बन्ध, मुक्त और व्यापक रहा है। उनमें कभी किसी पूर्वाग्रह की जड़ता घर नहीं कर पाई, किसी भाषा विशेष का व्यामोह नहीं रहा। भाषा को उन्होंने विचारों

की अभिव्यक्ति का साधन मात्र समझा। फलतः उन्होंने अपने आपको कभी किसी भाषा विशेष के वन्धन में जकड़ा नहीं। अपितु सभी भारतीय भाषाओं को उन्होंने अपने साहित्य का माध्यम बनाया। जैन लेखकों की इस वौद्धिक क्षमता के लिये भारतीय वाङ्मय का इतिहास सदा ऋणी रहेगा कि जैन लेखकों ने भारत की विभिन्न जनपदीय भाषाओं को साहित्य के सभी अंगों का माध्यम वनाकर यह सिद्ध कर दिया कि विषय के अनुरूप भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की जा सकती है। जब जनपदीय भापाओं में अध्यात्म जैसा नीरस विषय सरस शैली में लिखा जा सकता है तो वैज्ञानिक, तकनीकी तथा अन्य विषय तो उन भापाओं में लिखने में कोई कठिनाई नहीं है। आवश्यकता है केवल उदार और व्यापक दृष्टिकोण की। वह प्रचलित शब्दों को आत्मसात् करके अथवा यौगिक शब्द-रचना द्वारा उन भाषाओं का शब्द-भण्डार समृद्ध किया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ योगामृत में कवि वालचन्द्र ने कनड़ी भाषा के शब्दभण्डार को संस्कृत भापा के तत्सम या तद्भव शब्दों द्वारा खूब पुष्ट किया और अपने विधेय विषय का सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। कवि का यह साहस और यह सूझवूझ श्लाघनीय है।

टीकाकार आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने इस ग्रन्थ का अनुवाद और व्याख्या की है। आचार्य महाराज की वहुज्ञता और विद्वत्ता असंदिग्ध है। उनका जीवन सरस्वती की साधना का मूर्तिमान उदाहरण है। उन्होंने अव तक लगभग ५० ग्रन्थों का मौलिक प्रणयन किया है अथवा विभिन्न भाषाओं के और विविध विषयों के ग्रन्थों का अनुवाद किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कनड़ी, तामिल, मराठी, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं के समर्थ विद्वान् हैं। अपनी वहुमुखी प्रतिभा द्वारा उन्होंने सरस्वती के भण्डार को समृद्ध किया है। जव हम एक जैन

मुनि के आध्यात्मिक साधनापूर्ण जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो उनका साहित्य-सृजन के लिये इतना समय निकाल लेना विस्मयकारक प्रतीत होता है, किन्तु आचार्य श्री की कार्यक्षमता और निपुणता अद्भुत है। इसलिये ही वे ध्यान-अध्ययन में सतत निरत रहकर भी साहित्य-सृजन का यह भगीरथ प्रयत्न करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त एक आचार्य के नाते चतुर्विध संघ और जैन धर्म की प्रभावना के महान् दायित्वों का भी निर्वाह करते रहते हैं। उनका जीवन क्रिया-शीलता की ऐसी मिसाल है, जो युगयुगों तक सभी को प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करती रहेगी। जैन धर्म, संस्कृति और वाङ्मय उन जैसी महान् विभूतियों के अपार पुरुषार्थ के सदा ऋणी रहेंगे।

मेरा यह सौभाग्य है कि इस ग्रन्थ के संपादन का मुझे सुयोग प्राप्त हो सका। आचार्य श्री के कई अन्य अनूदित ग्रन्थों का भी संपादन करने का मैं पुण्य-लाभ प्राप्त कर चुका हूँ। किन्तु मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि प्रस्तुत योगामृत ग्रन्थ के संपादन करते हुए मुझे वस्तुतः पूर्व की अपेक्षा अधिक आह्लाद और मनस्तुष्टि प्राप्त हुई है। यह ग्रन्थ अध्यात्म प्रेमियों का प्रिय मननीय ग्रन्थ वनेगा, ऐसा मुझे हार्दिक विश्वास है।

आभार-प्रदर्शन

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में कई धर्मलिप्सु महानुभावों का अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है। उनमें उल्लेखनीय हैं—ब्रह्मचारिणी जैनमती जी (धर्मपत्नी स्व० लाला पूरनचन्द जी दिल्ली), ला० दौलतसिंह जी, धर्मपत्नी स्व० लाला रतनलाल जी विजली वाले तथा ला० अमरचन्द जी दिल्ली इन्होंने एक-एक हजार रुपया इस ग्रंथ के निमित्त आहार दान में निकालकर जैन भारती को वहुमूल्य अर्घ्यदान किया है। इसी प्रकार इस ग्रंथ में जितने व्लाक दिये गये हैं, वे सभी वा० पवन कुमार जी ने अपने व्यय से वनाकर दिये हैं। मैं इन सभी महाभाग दानदाताओं का हृदय से आभारी हूं।

भगवान जिनेन्द्र देव की असीम अनुकम्पा और पूज्य आचार्य श्री के आशीर्वाद से ग्रंथ-प्रकाशन हो रहा है, एतदर्थ मैं उनके चरणों में भक्ति का अर्घ्य समर्पित करता हूं।

दिव्यध्वनि कार्यालय, दिल्ली
श्रावण शुक्ला पूर्णिमा, वीर सं० २४९२

वलभद्र जैन
संपादक

आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषणजी महाराज पद्मासन मुद्रा में ध्यान कर रहे हैं।
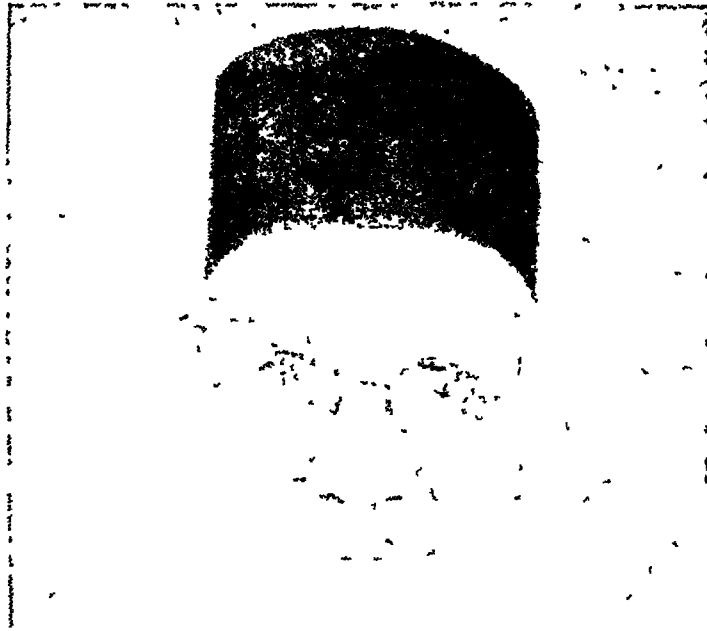
ला० दौलतरामजी जैन रईस हांसी निवासी
(जयपुर मोटर्स) क्वींस रोड, दिल्ली।
आपने इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिए १०००) प्रदान किये हैं।

इस ग्रंथ के टीकाकार

आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज

का

शुभाशीर्वचन

प्रस्तुत 'योगामृत' ग्रंथ मुनि बालचन्द्र की आध्यात्मिक रचना है। सम्भवत: ग्रंथ अपूर्ण है। ग्रंथ की समापन प्रशस्ति इसमें नहीं है, जिससे ग्रंथकार के सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं हो सका। ज्ञात हुआ है, इस ग्रंथकार की और भी कुछ रचनायें कनड़ी भाषा में मिलती हैं। किन्तु उन्हें देखने का हमें अभी अवसर नहीं मिल सका। वे रचनायें ताड़पत्र पर हैं। यदि समय और साधनों की अनुकूलता रही तो हमारा विचार उनका भी हिन्दी अनुवाद करने का है।

योगामृत में उसके नाम के अनुरूप योग का अमृत प्रवाहित हो रहा है, जिसे पीकर व्यक्ति सांसारिक वासनाओं से ऊपर उठकर, आत्मा के यथार्थ स्वरूप के दर्शन कर सकता है। इसमें परद्रव्य, और परभाव से निर्लिप्त आत्मा की उपलब्धि का उपाय बताया गया है। ग्रंथ की रचना-शैली अत्यन्त मधुर है, प्रसाद गुण से युक्त है, ओजमयी है। इसे पढ़ते समय अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है।

हमने हिन्दी भाषा भाषी जनता को भी इस आनन्द का अवसर देने की इच्छा से इस ग्रंथ की हिन्दी टीका की है। इस ग्रंथ के पाठक ग्रंथ को पढ़कर आत्म-स्वरूप को समझने और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें, उन्हें हमारा यही शुभाशीर्वाद है।
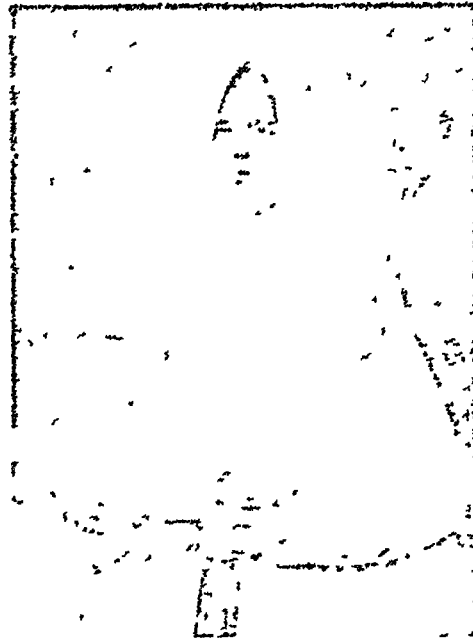
ब्रह्मचारिणी जैनमतीजी (धर्मपत्नी
स्व० ला० पूरनचन्दजी दिल्ली)

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए आपने
एक हजार रुपये प्रदान किये हैं।
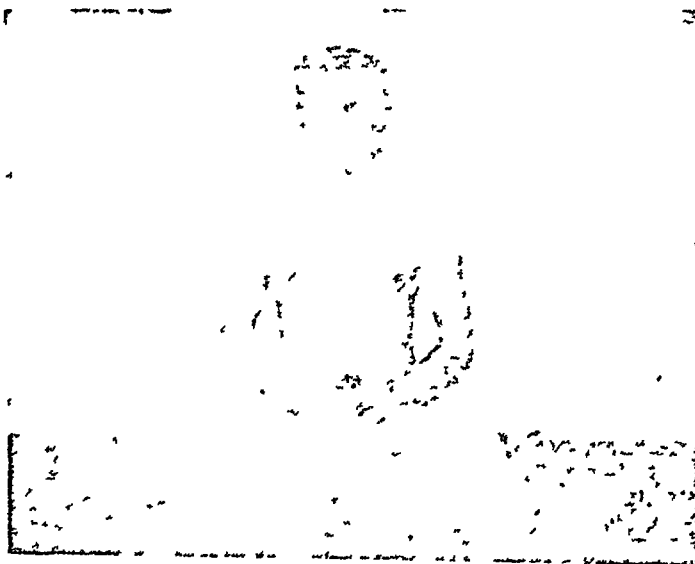
गुरुभक्त बाबू पवनकुमार जी जैन दिल्ली

इस ग्रन्थ में छपे हुए सभी ब्लाक आपने अपने व्यय से
बनवाये हैं।

विषय-सूची

मुनि श्री बालचन्द्र विरचित

योगामृत

कानड़ी ग्रन्थ

वसुधेंद्र व्रातदेवप्रभृतातिविनुतं नित्यनत्यमंत शांतं ।
रसगंध स्पर्शवर्ण व्रजनघहर न भवं विश्वतत्वप्रकाशं ।।
स्वसहायं निष्कलंकं सुखद परमचिद्रूपनप्पात्मनं वं ।
दिसि भव्यानंद योगामृतद महिमेयं भव्यलोकक्के पे ल्वें ।।१।।

इंद्र, देवेंद्र, चक्रवर्ती धरणेंद्र आदि महान् व्यक्तियों के द्वारा पूजनीय, नित्य, स्तुत्य, शांत, रस गंध स्पर्श और वर्णादिकों से रहित, भव-रहित, संपूर्ण तत्वों को जानने वाले, सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा, परमपूज्य, जानने आदि में पंचेन्द्रियादि की सहायता से रहित अर्थात् असहाय यानी अपने आप ही अपने को सहायभूत है। कर्मरूपी कलंक से रहित शुद्ध परमात्मारूप मोक्ष लक्ष्मी के नायक हैं, सदा सुखामृतमय रस के स्वादी हैं। शांति के सागर और सुखमय हैं। ऐसे शुद्धात्म-तत्व को नमस्कार करके अत्यंत विशुद्ध निर्मल दिव्य-ज्योति से युक्त निजानंद परम-पद के धारक तथा सुखामृत को प्रदान करने वाले ऐसे योगामृत की महिमा है, मैं उसे भव्य मानव जीवों के लिये कहूंगा ।।१।।

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने शुद्ध निर्मल सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया है। वह सिद्ध परमात्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरणादि आठों कर्मो से रहित है और शुद्ध चैतन्य चिच्चमत्कार चिदानंद मूर्ति है, ऐसा शुद्ध परमात्मा हमारे भीतर भी अनादिकाल से निवास करता है। उसको स्वपर-भेद-विज्ञान के द्वारा जानकर एकाग्रता से उसका ध्यान करने से वह सिद्ध परमात्मा अपने अन्दर मिलेगा,-अन्य जड़ रूप पर द्रव्य में नहीं मिलेगा। ऐसे समझकर योगियों के लिये उसका ध्यान करना आवश्यक है। ऐसे आचार्य ने भव्य ज्ञानी योगियो के लिये समझाया है।

श्री कुंदकुंदाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है कि—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ।।

जो सदा निश्चयनय से अपने भाव प्राण से और व्यवहारनय से द्रव्य प्राणों से जीता है, इसलिए जीव है । वह निश्चय नय की अपेक्षा अपने गुण से अभिन्न एक वस्तु है, व्यवहार नय की अपेक्षा गुण भेद से चेतना गुण सहित है । इस कारण जानने देखने वाला है । पुनः कैसा है ? जानने देखने रूप परिणामों से सहित उपयोगमयी है ।

प्रश्न—चेतना और उपयोग इन दोनों में क्या भेद है ?

इसका उत्तर—

चेतना तो गुण रूप है, उपयोग उस चेतना की जाननेरूप पर्याय है । यही इनमें भेद है ।

पुनः यह आत्मा कैसा है ? आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष इन पदार्थों में निश्चय से अपने भाव कर्मों की समर्थता संयुक्त (प्रभु) है । व्यवहार नय से द्रव्य कर्मों की ईश्वरता से युक्त है, इस कारण प्रभु है । पुनः कैसा है ?

निश्चयनय से तो पौद्गलिक कर्मों का निमित्त पाकर जो जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनका (भाव कर्मों का) कर्त्ता है । व्यवहारनय से आत्मा के अशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर जो पौद्गलिक कर्म बनते हैं उनका कर्ता है । फिर कैसा है ? निश्चयनय से तो शुभ अशुभ कर्मो के निमित्त से उत्पन्न हुआ जो सुख दुःख परिणाम उसका भोक्ता (भोगने वाला) है और व्यवहार नय से शुभ अशुभ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए इष्ट अनिष्ट विषयों का भोक्ता है । फिर कैसा है ? निश्चय से यद्यपि लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है । तथापि व्यवहारनय की अपेक्षा संकोच विस्तार शक्ति से नाम कर्म के द्वारा निर्मापित लघु या दीर्घ शरीर प्रमाण है । फिर कैसा है ? यद्यपि व्यवहारनय से कर्म सहित होने से मूर्तिक है । तथापि निश्चय से स्वाभाविक भाव से अमूर्त है । फिर कैसा है ? निश्चय से पुद्गल कर्मो का निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ जो अशुद्ध चैतन्य विभाव परिणमन (भाव कर्म) से युक्त है, व्यवहार से अशुद्ध चैतन्य परिणामों (भाव कर्मों) का निमित्त पाकर होने वाले द्रव्य कर्मो से सहित है । ऐसा यह संसारी आत्मा शुद्ध अशुद्ध नयों की विवक्षा से सिद्धान्त के अनुसार समझ लेना ।

मोक्ष में स्थित आत्मा का स्वरूप उपाधिरहित है और किसी प्रकार की

भी वाधा सिद्धात्माओं में नहीं है, वे कर्म कलंक से रहित हैं। और सदा अपने अनन्त ज्ञानादि गुणों में मग्न हैं, जैसा कि श्री कुंदकुंद आचार्य ने कहा है कि:—

कम्ममल विप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।

सो सव्वो णाणदरसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥

—पंचास्तिकाय

यह संसारी आत्मा पर द्रव्य के सम्बन्ध से जव छूटता है उसी समय सिद्ध क्षेत्र में जाकर विराजमान हो जाता है। इस कारण उससे नीचे के लोक में नहीं आता, वहीं पर ठहरता है। मुक्त आत्मा अनंतज्ञान, अनंत दर्शन स्वरूप से युक्त अनंत अतीन्द्रिय सुख को भोगता है। मोक्ष अवस्था में भी उसके अविनाशी भाव प्राण हैं। उनसे सदा जीता है। इस कारण वहाँ भी जीवशक्ति होती है। अपने चैतन्य-स्वभाव शुद्ध स्वरूप के अनुभव से चेतयिता कहलाता है और उस ही शुद्ध चैतन्य परिणाम से यह उपयोगी भी कहा जाता है। उसके अपनी समस्त अनन्त शक्तियों की समर्थता प्रगट हुई है, इस कारण प्रभु भी कहा जाता है। उसका निज स्वरूप अन्य पदार्थो में नहीं है, ऐसे अपने स्वरूप में सदा परिणमता है, इसलिये वही मुक्त जीव कर्ता है और स्वाधीन सुख की प्राप्ति से वही भोक्ता भी है। चरम शरीर की अवगाहना से किंचित् ऊन पुरुषाकार आत्म-प्रदेशों की अवगाहना लिए होने के कारण देहमात्र भी कहलाता है। पौद्गलिक उपाधि से सर्वथा रहित हो जाता है। इस कारण अमूर्तिक कहलाता है। और वही द्रव्यकर्म, भावकर्म से मुक्त हो गया है, इस कारण कर्म-संयुक्त नहीं है, कर्ममुक्त है।

प्रश्न—आत्मा का लक्षण तो चेतन-स्वभाव है, वह विभावरूप कैसे होता है ?

समाधान—संसारी जीव के अनादि काल से ज्ञानावरणादि कर्मो का सम्वन्ध है। उन कर्मों के संयोग से आत्मा की चैतन्य शक्ति निज स्वरूप से गिरी हुई है। इसलिये संसारी आत्मा विभावरूप होता है। जैसे कि कीच के सम्वन्ध से जल अपने स्वच्छ स्वरूप को छोड़ देता है, उसी तरह कर्म के सम्वन्ध से चेतना विभाव रूप हो गई है। इसी कारण संसारी जीव समस्त पदार्थो के जानने में असमर्थ है। क्षयोपशम की योग्यता के अनुसार कुछ पदार्थो को जानता है। जब काललब्धि होती है तब सम्यग्दर्शन का उदय होता है। जव ज्ञानावरणादि कर्मो का सम्वन्ध नष्ट हो जाता है तब शुद्ध चैतन्य प्रगट होता है। उस शुद्ध चेतना के प्रगट होने से यह जीव त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक ही समय में प्रत्यक्ष जान लेता है। निश्चय अवस्था को प्राप्त होता है, अतः और भांति नहीं होता। कुछ अन्य जानना रहा नहीं, इस कारण अपने स्वरूप से निवृत्ति नहीं होती, ऐसी शुद्ध

चेतना से निश्चल होता हुआ यह आत्मा सर्वदर्शी सर्वज्ञ भाव को प्राप्त हो जाता है, तब इसके द्रव्यकर्म और भावकर्म के कर्तृत्व का उच्छेद हो जाता है। कर्म उपाधि के उदय से उत्पन्न होने वाले सुख दुःख आदि विभाव परिणाम भी नष्ट हो जाते हैं। अनादिकाल से विभाव पर्यायों के कारण होने वाली आकुलता के विनाश होने से स्वरूप में स्थिर अनन्त चैतन्य स्वरूप की अनुभूतिरूप अनाकुल अनन्त सुख प्रगट होता है, उसका अनन्तकाल तक भोग बना रहेगा। यह मोक्ष अवस्था में शुद्ध आत्म स्वरूप जानना।

सिद्ध भगवान् सर्व उपाधि से रहित है :—

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।

पप्पोदि सुहमणंतं अव्वावाधं सगममुत्तं ॥२६॥

—पंचास्तिकाय

विशेषार्थ—यह आत्मा निश्चयनय से केवल ज्ञान, केवल दर्शन व परम सुखमय स्वभाव को रखने वाला होने पर भी संसार की अवस्था में कर्मो से आच्छादित होता हुआ क्रम से जानने वाला, क्षयोपशमरूप इन्द्रिय ज्ञान कुछ कुछ जानता है तथा चक्षु अचक्षु दर्शन से कुछ कुछ देखता है और इंद्रियों से उत्पन्न बाधा सहित पराधीन सुख का ही अनुभव करता है। वही चेतने वाला आत्मा जब कर्मो का नाश करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है तब अतीन्द्रिय, बाधा रहित स्वाधीन अमूर्तिक सुख का अनुभव किया करता है।

शंका—मीसांसक मतानुयायी कहते हैं कि 'सर्वज्ञ कोई नहीं है क्योंकि कोई देखने में नहीं आता है जैसे गधे के सींग देखने में नहीं आते हैं।'

समाधान—तुमने (मीमांसक ने) कहा कि कहीं सर्वज्ञ दिखलाई नहीं पड़ता है तो क्या यहाँ इस काल में नहीं दिखलाई पड़ता है या तीन जगत, तीन काल में, कोई सर्वज्ञ नहीं होता है ? सो यदि तुम्हारा यह कहना है कि इस देश या इस काल में सर्वज्ञ नहीं है तो यह हमें भी मान्य है। और जो तुम यों कहो कि तीन जगत या तीन काल में कोई सर्वज्ञ नहीं है, तो ऐसा तुमने कैसे जाना। यदि तुमने तीन जगत और तीन काल को सर्वज्ञ हुए बिना जान लिया है तो तुम ही सर्वज्ञ हो गये, क्योंकि सर्वज्ञ वही होता है जो कोई तीनों लोकों तीनों कालों को जानता है। यदि तुम सर्वज्ञ नहीं हो अतः तुम तीन जगत तीन काल को नहीं जानते तब तुम यह कैसे निषेध कर सकते हो कि तीन जगत व तीन काल में कोई सर्वज्ञ नहीं होता है।

दृष्टांत कहते हैं—जैसे कोई देवदत्त घट विना पृथ्वीतल को आंखों से देख फिर कहता है कि यहां इस पृथ्वीतल पर घट नहीं है तो उसका कहना ठीक ही है, अन्य कोई अन्धा पुरुष विना देखे क्या यह कह सकता है कि वहाँ कहीं भी घट नहीं अर्थात् वह नहीं कह सकता। इसी तरह कोई तीन लोक व तीन काल को देखकर प्रत्यक्ष यह जान सके कि सर्वज्ञ नहीं है वही सर्वज्ञ का निषेध कर सकता है। दूसरा तो सब जानता ही नहीं, वह अन्धे के समान निषेध नहीं कर सकता है, परन्तु जो तीन लोक तीन काल को जानता है वह सर्वज्ञ का निषेध किसी तरह नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो स्वयं सर्वज्ञ हो गया। उसको तीन लोक तीन काल के विषय का ज्ञान है।

आपने यह हेतु कहा कि सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें प्रश्न है कि आपको सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है या तीन जगत व तीन काल के पुरुषों को भी सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है ? यदि आपको सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है तो इससे सर्वज्ञ का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि आप तो परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों को व दूसरे के चित्त की वातों को भी नहीं जानते हैं तो आपके न जानने से ये सब नहीं हैं, ऐसा माना जायगा, सो हो नहीं सकता।

यदि कहो कि तीन जगत व तीन काल के पुरुषों को भी सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है, तो यह आपने कैसे जाना, इसका पहले भी विचार कर चुके हैं। यह दोष आपके हेतु में आता है।

जो आपने गधे के सींग के समान दृष्टांत कहा सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि गधे के सींग नहीं हैं परन्तु सभी पशुओं के सींग नहीं होते ऐसा नहीं है। गधे आदि के सींग नहीं हैं, यह प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। वैसे ही सर्वज्ञ भी इस देश में इस काल में यहां नहीं है किन्तु सर्वज्ञ सर्वत्र सदा नहीं है, ऐसा नहीं है। इस तरह आपके हेतु तथा दृष्टांत में दोष आता है।

फिर शंकाकार कहता है कि सर्वज्ञ के अभाव में तो आपने दूषण दिया, परन्तु यह तो बताइये कि सर्वज्ञ के सद्भाव में क्या प्रमाण है ?

समाधान—सर्वज्ञ कोई है, क्योंकि जैसा पहले कहा है उस तरह उसके लिये बाधक प्रमाण कोई नहीं है जैसे अपने अनुभव में आने योग्य सुख दुःख है। तथा दूसरा अनुमान प्रमाण है कि सूक्ष्म पदार्थ, अव्यवहित या नहीं कहे हुए पदार्थ, दूरदेशवर्ती पदार्थ, भूत भावीकाल के पदार्थ, स्वभाव से इन्द्रिय अगोचर पदार्थ किसी भी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष हैं, यह साध्य है। उसमें साधक हेतु यह है कि इन पदार्थों का

अनुमान होता है, जो २ पदार्थ अनुमान का विषय होता है, वह किसी को प्रत्यक्ष अवश्य दिखाई पड़ता है, जैसे अग्नि आदि, क्योंकि ये सब पदार्थ अनुमान के विषय हैं इसलिये किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इस तरह संक्षेप से सर्वज्ञ की सिद्धि जानना चाहिए। यह अध्यात्म ग्रन्थ है इससे विशेष नहीं कहा है।

श्री पद्मसिंह मुनिकृत ज्ञानसार में कहा है कि—

जरमरणजम्मरहियं कम्मविहीणो विमुक्कवावारो ।
चउगइगमणागमणो णिरंजणो निरूवमो सिद्धो ॥३३॥
परमट्ठगुर्णेहिं जुदो अणंतगुणमायणो णिरालंवो ।
निच्छेओ निब्भेओ अणंदिदो मुणइ परमप्पा ॥३४॥

भावार्थ—सिद्ध भगवान जन्म, जरा-मरण से रहित हैं, कर्मों से छूट गए हैं, सर्व व्यापार व चार गति में जाने आने के प्रपंच से शून्य हैं, मल रहित निरंजन हैं, उपमारहित हैं, परम आठ गुण सहित हैं, अनंत गुणों के पात्र हैं परावलम्वन से रहित हैं, अच्छेद्य हैं, अभेद्य हैं, आनन्दमय परमात्मा हैं।

जीव का अन्य लक्षण—

पार्णेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाण पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

—पंचास्तिकाय

विशेषार्थ—यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध चेतना प्राण से जीता है तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य रूप चार प्राणों से तथा अशुद्ध निश्चयनय से भाव रूप चार प्राणों से वर्तमान काल में ही जी रहा है, भविष्य में भी जीवेगा, और पहले जीचुका है। वे द्रव्य प्राण तथा भावप्राण अभेद से वल, इन्द्रिय, आयु, श्वास निःश्वास हैं। गोम्मटसार में भी कहा है कि:—

वाहिरपार्णेहिं जहा, तहेव अब्भंतरेंहिं पार्णेहिं ।
पार्णंति जेहिं जीवा, पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा ॥१२८॥
इंदियकायाऊणि य, पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा ।
वीइंदियादिपुण्णे, बचोमणोसण्णिपुण्णेव ॥१३१॥
दस सण्णीणं पाणा सेसेअगूणंतिमस्स बेऊणा ।
पज्जत्तेसिदरेसु य, सत्तदुगे सेसगेगूणा ॥१३२॥

जो बाहरी द्रव्य प्राणों से जैसे जीते है, वैसे ही भीतरी भाव प्राणों से भी जीते हैं, वे जीव हैं। वे प्राण आत्मा के धर्म कहे गये हैं। ज्ञानावरण और वीर्य अन्तराय के क्षयोपशम आदि से प्रगट चेतना के व्यापार रूप भाव प्राण हैं।

इन्द्रिय, कायबल, आयु ये तीन प्राण पर्याप्त अपर्याप्त दोनों के होते हैं। श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्त जीवों के ही होता है। द्वीन्द्रियादि पर्याप्त जीवों के वचन बल होता है। सैनी पर्याप्तों के ही मन बल होता है। इस तरह पर्याप्त सैनी पंचेन्द्रिय के दस प्राण हैं, फिर द्वीन्द्रिय तक एक २ घटते हुए असैनी पंचेन्द्रिय के नौ, चौइन्द्रिय के आठ, तेन्द्रिय के सात, द्वीन्द्रिय के छह प्राण होते हैं। असैनी के मन नहीं होता है। फिर एक एक इन्द्रिय घटती जाती है। अंतिम एकेन्द्रियों के दो कम हो जाते हैं अर्थात् रसनाइन्द्रिय व वचन वल नहीं होता, केवल स्पर्शन इन्द्रिय, कायवल, आयु, श्वासोच्छ्‌वास ये चार प्राण होते हैं।

जो जीव अपर्याप्त हैं उनमें असैनी सैनी पंचेन्द्रिय के मन, वचन, श्वास के बिना सात प्राण होते हैं। फिर एक एक प्राण घटता हुआ चौइन्द्रिय के छह, तेइन्द्रिय के पांच, द्वीन्द्रिय के चार, एकेन्द्रिय के तीन प्राण होते हैं अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय, काय बल और आयु। जब प्राणों का वियोग होता है तब ही स्थूल शरीर का वियोग या मरण होता है।

इसी प्रकार जीव में अगुरुलघुत्व, असंख्यात प्रदेशपना, व्यापकत्व, अव्यापकत्व, मुक्तत्व और संसारीपने को भी बतलाते हैं।

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा सिच लोगं सव्वमावण्णा ॥३१॥

केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।
विजुदा य तेहिं वहुगा सिद्ध संसारिणे जीवा ॥३२॥

अर्थ—अगुरुलघु गुण अनंत है उन अनंतगुणों से परिणमन करते हुए सर्वजीव प्रदेशों से असंख्यात-प्रदेशी हैं। किसी अपेक्षा से सर्व लोक में व्याप्त होते हैं परन्तु कितने ही व्याप्त नहीं होते हैं। मिथ्यादर्शन, कषाय व योग सहित बहुत संसारी जीव हैं तथा उनसे रहित सिद्ध हैं।

सिद्ध भगवान अपने स्वभाव में सिद्ध हैं उनका किसी भी अन्य कारण से सम्बन्ध नहीं। वे परम संतोषी परम कृतकृत्य व परम आनन्दमयी हैं।

जीव का अभाव हो जाना ही मुक्ति है ऐसे बौद्ध का मत है। इसका समाधान करने के लिये आचार्य ने बतलाया है कि:—

सस्सदमधउच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ॥३७॥

विशेषार्थ—सिद्ध भगवान की सत्ता सदा बनी रहती है इसी से उनमें नीचे लिखे आठ स्वभाव सिद्ध होते हैं। (१) शाश्वतपना इसलिये है कि सिद्ध भगवान अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टामय एक स्वभाव रूप से सदा बने रहते हैं। (२) उच्छेद या व्ययपना उनमें इसलिये है कि पर्याय की अपेक्षा अगुरुलघुगुण द्वारा षट्स्थान पतित हानि वृद्धि की अपेक्षा सदा ही पर्यायों का नाश हुआ करता है—ये व्ययपना उत्पाद का अविनाभावी है। यह उत्पाद व्यय होना प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का स्वभाव है। (३) भव्यपना इसलिये कि विकार रहित चिदानंदमय एक स्वभाव से वे सदा परिणमन करते रहते हैं, यह उनमें होनापना या भव्यपना है। (४) अभव्यपना इसलिये है कि वे कभी भी मिथ्यात्व व रागादि विभाव परिणामों में परिणमन नहीं करेंगे। इन रूप न होना, यही अभव्यपना है। (५) शून्यपना-इसलिये कि अपने शुद्धात्मद्रव्य से विलक्षण जो परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव चतुष्टय हैं, इनका नास्तिपना या शून्यपना या अभाव सिद्धों के विद्यमान है। (६) अशून्यपना-इसलिये कि अपने परमात्मा सम्बन्धी निजद्रव्य, निजक्षेत्र, निजकाल व निजभाव रूप चतुष्टय से उनमें अस्तिपना है। वे कभी अपने शुद्ध गुणों से रहित नहीं होते हैं (७) उनमें विज्ञान-इसलिये है कि वे सर्व-द्रव्य के सर्व-गुण व सर्व-पर्यायों को एक समय प्रकाश करने को समर्थ पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान गुण से पूर्ण हैं। (८) अविज्ञान-इसलिये है कि उनमें अब मतिज्ञानादि क्षयोपशम-रूप अल्पज्ञान का अभाव है अर्थात् अब वे इन विभावरूप अशुद्ध ज्ञानों से शून्य हैं। इस तरह ये नित्यपना अनित्यपना, भव्यपना, अभव्यपनां, शून्यपना अशून्यपना, विज्ञान, अविज्ञान ये आठ स्वभाव सिद्धों में हैं। यदि जीव की सत्ता मोक्ष में न मानी जावे तो सिद्ध नहीं हो सकते हैं। जीव की सत्ता रहते हुए ही सिद्ध होते हैं इनके अस्तित्व से ही मुक्ति में शुद्ध जीव की सत्ता रहती है।

परमात्मा का स्वरूप इस प्रकार है—

स स्वयम्भूः स्वयंभूतं, सज्ज्ञानं यस्य केवलं।
विश्वस्य ग्राहकं नित्यं, युगपद्दर्शनं तदा ॥२२॥
येनाप्तं परमैश्वर्यं, परानन्दसुखास्पदम्।
बोधरूपः कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥२३॥
शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शांतमक्षयं।
वाप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥२४॥

महामोहादयो दोषा ध्वस्ता येन यदृच्छया।
महाभवार्णवोत्तीर्णो महादेवः स कीर्तितः ॥२६॥
रौद्राणि कर्मजालानि शुक्लध्यानोग्रवन्हिना।
दग्धानि येन रुद्रेण तं तु रुद्रं नमाम्यहम् ॥३०॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं स्थानमात्मस्वभावजम्।
प्राप्तं परमनिर्वाणं येनासौ सुगतः स्मृतः ॥४१॥

अर्थ—वह परमात्मा स्वयम्भू है, क्योंकि उसके अपने आप ही सर्व विश्व को जानने देखने वाला और सदा नित्य रहने वाला केवलज्ञान और केवल दर्शन प्रगट हो गया है। वही ईश्वर है, वही कृतार्थ है ऐसा बुद्धिमानों ने माना है, क्योंकि उनने परमानन्द सुख का स्थान और ज्ञानमयी परम ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है। वही परमात्मा शिव कहा गया है। जिसने सुखमयी व परम हितरूप शांत व अविनाशी निर्वाण या मुक्ति पद को प्राप्त कर लिया है। क्योंकि वह अपने दृढ़ भावों से महा मोह आदि बड़े २ दोषों को नष्ट करके संसार रूपी महान समुद्र के पार पहुँच गया है इसलिये वही महादेव कहा जाता है। वही परमात्मा रुद्र है क्योंकि उसने महा भयानक कर्म के जालों को शुक्लध्यान की तेज अग्नि से दग्ध कर डाला है। उसी रुद्र को मैं नमन करता हूँ। वही सुगत कहा गया है जिसने सर्व बाधाओं से रहित अपने आत्मस्वभाव मे उत्पन्न परम निर्वाण के स्थान को प्राप्त कर लिया है।

वास्तव में परमात्मा की महिमा वचनगोचर नहीं है। सिद्ध भगवान सर्वोत्कृष्ट व परम पवित्र आत्मा है उन्हीं के समान मैं भी हूँ ऐसा ध्यान में लाकर हमें सदा स्वरूप का अनुभव करना योग्य है।

योगामृत की परम्परा :—

अरहंतावळियिदंनादिनिधनं द्रव्यश्रुतं पुट्टे वि।
स्तरदिंदं गणनाथरि रचनेवेत्ताचार्यसंतानदिं ॥
बरलंती श्रुतमल्लि सारकथनं द्रव्यानुयोगं करं।
दोरेवेत्तिर्दुदु पाहुडत्रयदिनात्म ज्ञानविज्ञानदिं ॥२॥

जिस प्रकार बादल सूर्य की किरण पर आवरण करते हैं उसी के समान आत्मा के महान् ज्ञानगुण को आवरण करने वाला कर्म ज्ञानावरण है—वस्तु के सामान्य आकार के ग्राहक महान् दर्शनगुण को आवरण करने वाला कर्म दर्शनावरण है। आत्मा के निराकुल सुख गुण को विकृत करने वाले या आत्मा

को परपदार्थ में मोहित करने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं। आत्मा के अनंत शक्ति गुण को घात करने वाले कर्म को अंतराय कर्म कहते हैं। इन चार कर्मो को घाति कर्म कहते हैं। इन कर्मो को तपस्या के द्वारा नाश करने वाले अमृत आत्मा को अरहंत कहते हैं। श्रुतनाम सिद्धांत का है। श्रुत दो प्रकार का है, भावश्रुत और द्रव्यश्रुत। अमृत-आत्मा के अपने भाव से जानने योग्य कारणरूप सिद्धांत को भावश्रुत कहते हैं। और वचन के द्वारा दूसरे को बोध कराने के लिये कार्यरूप ऐसे सिद्धांत को द्रव्यश्रुत कहते हैं। अरहंत के मुख्य शिष्य को गणधर कहते हैं। जीवन मुक्त अरहंत देव की परंपरा से अनादि अनिधन द्रव्यश्रुत उत्पन्न होता है, यह गणधरों से तथा महान् आचार्य-परम्परा से धारावाही रूप से चला आ रहा है। यह शास्त्र महापुरुषों का वर्णन करने वाला प्रथमानुयोग है। लोक अलोक विभाग, युगपरिवर्तन और चतुर्गति का प्ररूपण करने वाला करणानुयोग है। गृहस्थ श्रावक और साधुओं के आचार विचार का वर्णन करने वाला चरणानुयोग है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, वन्ध, मोक्ष तत्व का निरूपण करने वाला द्रव्यानुयोग है। इस प्रकार अनुयोग चार प्रकार के हैं। इन चारों में से जो चौथा द्रव्यानुयोग है वह द्रव्यानुयोग अत्यंत सारभूत अध्यात्म-योग से परिपूर्ण है। यह पाहुड़ आत्मविज्ञान से प्राप्त होता है। पाहुड़ नाम प्राभृत का है। अर्थात् प्राभृत का अर्थ शास्त्र है। कुंदकुंदाचार्य के पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार इन तीन शास्त्रों को पाहुड़त्रय कहते हैं। इस प्रकार यह सारभूत द्रव्यानुयोग इस पाहुड़त्रय द्वारा आत्म-ज्ञान विज्ञान से प्राप्त होता है। ऐसा समझना चाहिये।

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने आचार्य-परम्परा का प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय इसमें चार अनुयोग का निर्देश किया है। वह अनुयोग प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें पहले प्रथमानुयोग में परम्परा से महान् पुरुषों का इतिहास, उनके वैराग्य, सम्पत्ति, सुख दुःख, आदि का वर्णन होता है। करणानुयोग में तीनलोक का वर्णन, लोक का स्वरूप, त्रसनाड़ी का वर्णन, अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का वर्णन किया है। जिसमें अनादि काल से जीव पाप और पुण्य से जन्म लेकर इसमें जन्म-मरण करते हैं। अधोलोक में अशुभ (पाप) कर्म के उदय के द्वारा जाते हैं और वहां जाकर के नरक के दुःख भोगते हैं। नरक सात हैं। करणानुयोग में उन सात नरकों का वर्णन किया गया है।

मध्य लोक में पाप और पुण्य के अनुसार जीव जन्म लेकर किस तरह से सुख दुःख भोगते हैं, पाप और पुण्य के द्वारा सुख दुःख का अनुभव करते हैं इसका वर्णन तथा नदी, समुद्र आदि का इसमें वर्णन किया है।

इस मध्य लोक में जन्म लेकर पुण्योपार्जन करने वाले जीव स्वर्ग में कहां जन्म लेते हैं, इन्द्रिय विषयादि कैसे भोगते हैं, उनके आचार विचार कैसे रहते हैं।

किस स्वर्ग में कितने पटल हैं। आदि ऊर्ध्व लोक का वर्णन है। इसे मध्य लोक कहते हैं।

साधु के आचार विचार का वर्णन करने वाला यह चरणानुयोग है। इसमें मुनिधर्म की तरह श्रावक धर्म का भी विवेचन होता है। षट् द्रव्य, पांच अस्ति-काय, सात तत्व, नौ पदार्थों का वर्णन करने वाला अनुयोग द्रव्यानुयोग है। यहां ग्रन्थकार ने चारों अनुयोगों में से अंतिम सारभूत भव्य जीवों के ग्रहण करने योग्य निश्चय आत्मतत्व का कथन किया है। इस कथन द्वारा ग्रन्थकार ने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करने वाले भव्य जीवों को इस महान विषम संसार समुद्र से निकालने के लिये प्रयास किया है। इसलिये भव्यजीव इस द्रव्यानुयोग का मनन करके अपने आत्मा को कर्म कीचड़ से निकालने की शक्ति प्राप्त करें, इस प्रयोजन से पवित्र योगामृत ग्रन्थ को कहने की प्रतिज्ञा की है। यह ग्रन्थ योगामृत उन्हीं के लिये है जो संसार से विरक्त होकर वीतराग अवस्था धारण किये हुए हैं। हे भव्यजीव ! इस ग्रन्थ का मनन करो और योगामृत का पान करके आत्मा को अजरामर बनाओ।

ग्रन्थ-रचना का आधार—

आचार्योत्तमराप्तरिं तिळिद तत्वज्ञानिगळ् कोडंकुं-
दाचार्य सर्कलानुयोग दोळगं तत्सारमंकोंडु पू-
र्वाचार्यावळियोजेयिं समयसारग्रंथमंमाडि वि-
द्याचातुर्यमनी जगक्के मेरेदर् चारित्रचक्रेश्वरर् ॥३॥

भावार्थ—आप्त-स्वरूप आचार्यों में श्रेष्ठ महान तत्वज्ञानी, चारित्र चक्रवर्ती श्री कुंदकुंदाचार्य ने सम्पूर्ण अनुयोगों के सार को निचोड़ कर पूर्वाचार्य-परम्परा से प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान को समयसार (आत्मसार) ग्रन्थ की रचना द्वारा अपनी विद्याचातुरी को इस जगत में प्रकाशित किया है या प्रसारित किया है।

विवेचन—ग्रंथकार ने ऊपर के श्लोक में ग्रंथ की परिपाटी तथा प्रमाणता को बतलाते हुए श्री कुंदकुंदाचार्य की ख्याति प्रगट की है। श्री कुंदकुंदाचार्य ने चारो अनुयोगों का मनन करके उसके सार को निचोड़ कर भव्य जीवों को पान कराया है। अनादि काल से यह आत्मा वाह्य वस्तु में रमण करते हुए विविध विषय कषाय के आधीन होता हुआ अनेक प्रकार के कष्ट उठाता आ रहा है। इन शरीर आदि वाह्य पदार्थों में इस जीव को सुख और शांति मिलती है, ऐसी झूठी मान्यता से वाह्य वस्तु में ही सुख मानकर सांसारिक प्राणी अपना जीवन विता रहा है। संसार में वह अनेक वस्तुओं का परिचय करता आया परन्तु शुद्ध सम्य-ग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, जो निज स्वभाव है उस स्वभाव का विलकुल भी उस जीव को

परिचय नहीं हुआ। यह निजी स्वरूप सम्पूर्ण वस्तुओं से भिन्न है। निर्विकार है, निर्मल है, शुद्ध है, अनेक गुणों से परिपूर्ण है। इतना होने पर भी यह जीव इसकी ओर दृष्टि न रखते हुए बाह्य पदार्थ में दृष्टि डालकर उसी को अपना मानकर उसमे रमण कर रहा है। इसलिये कुंदकुंदाचार्य ने सार असार दोनों को ठीक समझ करके स्व और पर के स्वरूप को समझकर निस्सार वस्तु को हेय बतलाकर, अपने आप में रत होकर निज-अमृत का पान किया। इस अमृत पान से तृप्त होकर अज्ञानी भव्य जीवों को यही सार ग्रहण करने योग्य है, इससे भिन्न जितनी पर वस्तु हैं, वह हेय है, ऐसा समझकर योगियों को सम्बोधन करते हुए उस योगामृत को पीने की प्रेरणा की है। उसी का सार लेकर श्री मुनि बालचन्द्रोदय ने इस ग्रंथ द्वारा अध्यात्म सार को समझाने का प्रयास किया है। जो भव्य जीव अपना कल्याण करना चाहता है, वह इस ग्रन्थ का मनन करता हुआ निज आत्मा को शुद्ध करे और अपने अविनाशी पद को सिद्ध करे। परमात्म तत्व को जाने बिना इस जीव को निजात्म तत्व का अनुभव नहीं हो सकता, ऐसा आचार्य बतलाते हैं—

अरियदवररिदरोळमरिवुदु परमात्मनंगुणमनरिविकर्म ।
परिपडुगुमरियदिर्दडे नरेयट्टिट सगुळ्दु सुत्तुत्तिर्कु कर्म ।।४।।

परमात्म तत्व को जिन्होंने आज तक नहीं जाना है उन्हें अध्यात्म-ज्ञानी के पास जाकर उसको मनन करना चाहिये। अध्यात्म तत्व को जानने से, मनन करने से तथा रुचिपूर्वक ग्रहण करने से कर्मो का नाश होता है। इस परम पवित्र परमात्म तत्व को यदि हम नहीं समझेंगे तो ये दुष्ट कर्म हमारा पीछा करते रहेंगे। आत्मा में प्रवेश करके वे नरकादि चार गतियों में भ्रमण कराते रहेंगे। इसलिये भव्य जीव को सबसे पहले आत्म-तत्व को ठीक तरह से समझ लेना चाहिये। इससे ही कर्म की निर्जरा होगी। बिना समझे हुए कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती।

आचार्य महाराज भव्य जीवों को उपदेश देते हुए

अर्थ—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह दर्शाया है कि जब तक आत्म-तत्व को जानकर उसके प्रति रुचि न होगी तब तक उससे भिन्न पदार्थों को आत्मा से अलग नहीं कर सकते। इसलिए इस तत्व को भले प्रकार जानने के लिए सद्गुरु के समाधान की आवश्यकता है। जिन्होंने आत्म-तत्व भली प्रकार जाना है उनसे तत्व को समझकर उसका मनन करेंगे तब कर्म की निर्जरा होने में देर नहीं लगेगी। जब इस तत्व को न समझ कर अगर यद्वा तद्वा पदार्थ को मानेंगे, आराधना करेंगे तो कर्म की निर्जरा न हो सकेगी। कर्म-बन्ध ही होता रहेगा। आत्म-तत्व को जानने के लिए अजीव आस्रव आदि तत्व जानना भी आवश्यक है—

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थ पंचमयं।

तिरयणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११४

हे योगी ! सबसे पहले तुम जीव तत्व को ठीक समझो। दूसरा जो अजीव तत्व है, तीसरा आस्रव तत्व है, चौथा बन्ध तत्व है, पांचवाँ संवर तत्व है उनको तदनन्तर अच्छी तरह समझो। फिर मन, वचन, काय को शुद्ध बनाकर अनादिनिधन आत्म-तत्व का ध्यान करो। धर्म, अर्थ, काम में रत न होने दो।

भावार्थ—प्रथम जीव तत्व की भावना ऐसी करो कि जीव दर्शन ज्ञान मय चेतन स्वरूप है। वही चेतन स्वरूप मैं हूँ, ऐसे आत्म-तत्व की भावना करे। दूसरा अजीव तत्व है। जो कि अचेतन है और पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल रूप ५ प्रकार का है। इनको ठीक तरह से विचार करके मनन करो। तत्पश्चात् मैं इस अजीव रूप नहीं हूँ, मैं इस पररूप हूँ, इस तरह से भावना भाओ। तीसरा आस्रव तत्व है। वह जीव पुद्गल के संयोगजनित भाव है। जीव के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये भावास्रव हैं। इनके द्वारा कर्मवर्गणा खिचकर आत्मा में आना द्रव्यास्रव है। इस तरह से इसको समझकर इसको त्यागने की भावना करनी चाहिए। खिच कर आई हुई कर्म

हे योगी ! पहले तुम जीव तत्व को समझो।

वर्गणाओं का आत्म प्रदेशों के साथ मिलकर एकमेक हो जाना बन्ध है, इससे जन्म मरण रूप संसार होता है। इस विषय में विचार करना चाहिए कि मैं, रागद्वेष, मोहरूप परिणत होता हूँ जो कि मेरा विभाव है, मेरा स्वभाव नहीं है। और जो मुझसे बंधा हुआ है वह कर्म पुद्गल है। वह कर्म पुद्गल ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का होकर इस आत्मा से बंधा हुआ है। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप चार प्रकार होकर बंधा हुआ है। वे ज्ञानावरण मोहनीय आदि कर्म मेरे गुणों को विकृत करते हैं। वे कर्म मुझसे, मेरे से भिन्न हैं और संसार के कारण हैं। मुझे रागद्वेष, मोहरूप न होना चाहिए। पांचवाँ संवर तत्व है जो कि कर्म आस्रव को निरोध करता है। वह सम्यक्त्व तथा व्रत, समिति, गुप्ति आदि चारित्र द्वारा होता है। कर्म आस्रव न होने पर कर्म का बन्ध नहीं होता। इससे आत्मा आगामी कर्म मल से शुद्ध रहता है। इस प्रकार इन पाँच तत्वों की भावना करनी चाहिए। संवर होने पर पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। पूर्वबद्ध कर्मों का तप द्वारा दूर होते जाना निर्जरा और सब कर्मो का अभाव होना मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार सात तत्व की भावना करनी चाहिए। शुद्ध आत्म-तत्व की भावना व्यवहार धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का अभाव करती है। त्रिवर्ग से भिन्न चौथे मोक्ष पुरुषार्थ को प्रकट करती है। यह आत्मा ज्ञान दर्शन, चेतन स्वरूप अनादि निधन है। इस प्रकार बारम्बार अभ्यास करना, मनन करना, भावना करना, दूसरे को इस दिशा में प्रेरित करना, ऐसा करने वाले को भला कहना ऐसे कृत, कारित, अनुमोदना से भावना करना, यही शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए साधन है। माया, मिथ्या और निदान शल्य से रहित होना, ख्याति, लाभ, पूजा का आश्रय न लेकर आत्म तत्व,की भावना करने से भाव शुद्ध होता है।

मन को एकाग्र एवं शुद्ध करने के लिए पुरुष या स्त्री के विषय में यों विचार करना कि यह स्त्री है ? नहीं, यह तो जीव तत्व की एक पर्याय है। इसका शरीर पुद्गल की पर्याय है। यह जो राग द्वेषादि भाव करती है वह इस जीव के विकार भाव हैं। विकार भाव आस्रव के कारण हैं। इसकी बाह्य चेष्टा पुद्गल की है। इस विकार से इस आत्मा के कर्म का बन्ध होता है। यह विकार न हो तो कर्म आस्रव और बन्ध भी न हो। यदि मैं इसको देखकर विकार भाव करूँ तो मेरे भी आस्रव तथा बन्ध होगा। इसलिए मुझे विकार रूप नहीं होना चाहिए इस तरह मेरे संवर होगा। जहाँ तक बने वहाँ तक विकार से अपना भाव अशुद्ध न होने देना चाहिए। यह हितकारिणी तत्व-भावना है। जब तक ऐसी भावना नहीं बनती तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चितेह् चिंतणयाइं ।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं थाणं ॥११५॥

हे योगी ! जब तक इस जीव आदि की भावना न भावे या ठीक चिन्तवन जब तक न करे जब तक तुम जन्म मरण आदि रहित मोक्ष स्थान को नहीं पहुँच सकते । अरहंत, सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए । इसलिए शुद्ध तत्व निज आत्मा की भावना और शुद्ध स्वरूप के ध्यान का उपाय ग्रहण करना, यही मोक्ष के लिए कारण है । कहा भी है कि—

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा ।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥११६॥

अर्थ—आत्मा के अशुभ परिणामों से समस्त पाप बन्ध होता है, शुभ परिणामों से शुभ कर्म-बन्ध होता है और राग द्वेष रहित शुद्ध भावों से मोक्ष होती है. ऐसा जैन शासन में बतलाया है ।

मिथ्यात्व, हिंसा आदि पापों से तथा दुर्व्यसनों से पापबन्ध हुआ करता है । जो पंच परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर दया, अणुव्रत, महाव्रत पालन, बन्ध बन्दनादि शुभलेश्यारूप परिणाम होता है, उससे पुण्यास्रव तथा पुण्य बन्ध होता है । यानी शुद्ध परिणाम-रहित भावों से बन्ध होता है । शुद्ध भाव के सन्मुख रहना उसके अनूकूल शुभ परिणाम को रखना तथा अशुभ परिणाम का सर्वथा त्याग करना इस प्रकार जो जीव करता है, उसका ऐसा करना ही सिद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय है ।

पुण्य पाप का बन्ध जिस भावना से होता है वह बतलाते हैं—

मिथ्यात्व भाव यानी अतत्वश्रद्धा तथा असयंम, इनका जब तक त्याग नहीं हो तब तक इन्द्रिय-विषयों में राग और जीव की विराधना का भाव होता है । मन, वचन और काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का चलायमान होना यह योग है । कषाय सहित योग की प्रवृत्ति कृष्ण, नील, कापोत अशुभलेश्या रूप जब तक होती है तब तक इस जीव को पाप कर्म का बन्ध होता है । ऐसे पाप कर्म करने वाला जीव जिन-वचन की श्रद्धा नहीं रखता । अन्य मत के श्रद्धान सें कदाचित् शुभलेश्या से पुण्य बन्ध होता है तो वह भी मिथ्यात्व के कारण पाप रूप ही परिणाम है । सम्यक् दृष्टि की सराग प्रवृत्ति पुण्य गिनी जाती है । ऐसे पाप और पुण्य या शुभ और अशुभ बन्ध का कारण है । इसलिये हे जीव ! तू केवल अपने शुद्धात्मा की भावना कर, यही मोक्ष के लिये कारण है । इससे भिन्न जितने भी पर-तत्व हैं वे आत्मा को संसार के लिये कारण हैं । इस प्रकार श्री गुरु ने समझाया है ।

अब आगे बतलाते हैं—शुद्धात्म-तत्व का ध्यान ही मोक्ष का कारण है।

गुरुडनमुद्रयिं विषमसर्पविषं किडुवले तीव्रथा ।
कर किरणंगलिं तमद पर्वु तेरकडुगिवते कोपदोक् ॥
पोरेयदे रागददोल् सततमोंददे शुद्ध निजात्म तत्वमं ।
स्मरियि से तोकडु पोकुमघ संकुलपें बुद्धि दाव विस्मयं ॥५॥

भावार्थ—अत्यंत विषमय सर्प का विष गरुड़ मुद्रा से एकदम नष्ट होता है। इसी तरह चारों दिशा में फैला हुआ अंधकार सूर्य की किरणों से विलीन हो जाता है। इसी प्रकार निष्कपाय शान्त मन एवं एकाग्र चित्त से आत्म-तत्व का चिन्तन करने से सम्पूर्ण कर्म समूह नष्ट होने में क्या आश्चर्य है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में आत्म-ध्यान ही कर्म की निर्जरा का निमित्त बतलाया है। जिस प्रकार उग्र विषधर सर्प चंदन के वृक्ष में सुगंध से लुब्ध होकर उससे लिपटा रहता है। उसी चन्दन के पेड़ पर गरुड़ पक्षी आकर आवाज दे तो वह सर्प तुरन्त वहां से भाग जाता है। सर्प का प्राणहारी विष भी गरुड़ मंत्र से दूर होजाता है। चारों दिशाओं में फैला हुआ अंधकार किसी साधारण दीपक के प्रकाश से दूर नहीं होता है। जब सूर्य का उदय होता है तो उसकी किरणों के चारों तरफ फैलते ही अंधकार दूर होजाता है। इसी तरह आत्म-चिन्तन करने वाले योगी के हृदय में अनादि काल से अज्ञान रूपी अंधकार को फैलाने वाले क्रोधादि कषाय पलायमान हो जाते हैं। तब आत्मा शुद्ध निर्मल, निरंजन, हो जाता है। जब यह आत्मा सम्पूर्ण कर्म बन्ध से दूर होकर अपने स्वरूप में विचरण करने लगता है, उसी का नाम मोक्ष है। इस प्रकार मोक्ष का चिन्तन करने वाला जीव संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। और वह हमेशा के लिये सुख शांति रूप मोक्षलक्ष्मी में निरंतर रमण करता रहता है।

इस आत्म-तत्व को समझने के पहले दस प्रकार के धर्म ध्यान के स्वरूप को समझना चाहिये। वह धर्म ध्यान उपायों के भेद से दस प्रकार का है—अपाय विचय, उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विपाक विचय, विराग विचय, भव विचय, संस्थानविचय, आज्ञा विचय, कारण विचय। ऐसे धर्म ध्यान के दस भेद हैं।

१. अपायविचय का स्वरूप कहते हैं। आदि अंत रहित इस संसार में अशुभ मन, वचन, काय के व्यापारों से उपार्जन किये हुए कर्मों का नाश किस प्रकार होगा, इस प्रकार चिन्तवन करना यह अपायविचय धर्म ध्यान है।

२. उपायविचय—प्रशस्त मन वचन, काय बिना अशुभ कर्म का नाश नहीं हो सकता है। इस प्रकार चिन्तन करना यह उपाय विचय धर्म ध्यान है।

३. जीवविचय—यह जीव ज्ञान दर्शन उपयोग लक्षण वाला है। द्रव्यार्थिक नय से आदि अंत रहित है। असंख्यात प्रदेश वाला है। अपने द्वारा उपार्जन किये हुए अपने आत्मा के साथ सूक्ष्म कार्माण और स्थूल औदारिक आदि शरीर को धारण करता है। प्रदेश के संकोच और विस्तार स्वरूप वाला है। ऊर्ध्व गमन स्वभाव वाला है। कर्मों के साथ अनादि काल से इसका सम्बन्ध है। कर्म के क्षय से मोक्ष को प्राप्त करने वाला है। अशुद्ध नय से चौदह गुणस्थान वाला है। चौदह मार्गणा स्थान, चौदह जीव समास आदि को प्राप्त करने वाला है। निश्चयनय से यह आत्मा अमूर्त रूप वाला है। इस प्रकार सभी जीवों का स्वरूप है। ऐसे चिन्तन करना यह जीव विचय धर्म ध्यान है।

४. अजीवविचय—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पांच अजीव द्रव्यों के स्वभाव का चिन्तन करना अजीवविचय धर्म ध्यान है।

५. विपाकविचय—ज्ञान सच्चारित्र, आठ प्रकार के कर्म, नाम स्थापना द्रव्य भाव और मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति के भेदों को और आत्म गुण का घात करने वाले कर्म के मन्द तीव्र परिणाम अनुसार लता, दारु, अस्थि, गाड़ी के पहिये की रेखा के समान ऐसे फल देने वाली शक्ति को और अघाति कर्मों में अशुभ कर्मों के मंद तीव्र परिणामों के नीम, कांजी के समान, कालकूट विष के समान फल देने वाली शक्ति को और अघाति कर्मा में शुभ कर्मों के मन्द तीव्र भावों के अनुसार होकर गुड़, शक्कर, घी और अमृत के समान उदय में आने वाले और जिस जिस योग में जो जो अवस्था प्राप्त होती हैं उसको चिन्तन करना इसका नाम विपाक विचय धर्म ध्यान है।

६. विरागविचय—यह शरीर अनित्य और क्षणिक है, सार रहित है, वात, पित्त, और कफ इन त्रिदोषों से युक्त है, रस रुधिर, मांस, मज्जा, हड्डी, और शुक्र आदि सप्त धातुमय है, मलमूत्र और अनेक कृमि कीटकों से भरा हुआ है। मिट्टी के कच्चे बर्तन में पानी डालने से जैसे वह गलकर चारों ओर से चूता रहता है, उसी तरह पसीना, मल, मूत्र, नाक, कान, आंखों से सदा मल बहता रहता है। यह महान दुर्गन्धमय है। गंध, पुष्प आदि सुगंध शुचि वस्तु को भी अशुचि कर देता है। इस शरीर से संबंधित पांचों इन्द्रियों के सुख स्थायी, निराकुल नहीं हैं, वे अंत मे विरस वन जाते हैं। किंपाक फल के समान पंचेन्द्रियों के विषय जन्म और मरण को प्राप्त कर देने वाले हैं। अर्थात् इस आत्मा को वार बार चतुगति में भ्रमण करा कर अत्यंत दुर्धर दुःखों को उत्पन्न करने वाले हैं। संसार के अन्य अनेक दुःखों के लिये कारण हैं। इनके सेवन करने पर कभी तृप्ति नहीं होती, घृणा उत्पन्न करने वाले हैं। इस तरह यह सभी विषय सम्यक्दृष्टि को वैराग्य उत्पन्न करने में निमित्त कारण हैं। इस प्रकार चिंतवन करना विराग विचय है।

७. भवविचय—सचित्त योनि, अचित्त योनि, सचित्ताचित्त मिश्रयोनि, शीत योनि, उष्णयोनि, मिश्रयोनि, संवृत, विवृत मिश्रयोनि जीवोत्पत्ति की निमित्त कारण हैं। इन नौ प्रकार की योनियों में झिल्ली जरा नाल आदि से वेष्टित होकर उत्पन्न होने वाले गर्भज, स्वर्ग में उपपाद शय्या पर उत्पन्न होने वाले, नरकों के छिद्रों में उपपाद शय्यारूप में उत्पन्न होने वाले, जहाँ तहाँ पुद्गलों को अपने शरीर रूप बनाकर उसमें उत्पन्न होने वाले सम्मूर्छन प्राणी आदि हैं। एक भव से दूसरे भव में जाने के समय एक ही समय में छोड़े हुए तीर के समान सीधा जाने वाले (इषुगति) है, दो समय में हाथ से छोड़े जाने वाले जल के समान एक मोड़े वाली पाणिमुक्ता गति से जाने वाले, तीन समय में दो मोड़ा लेकर जाने वाले जीवों की लांगली गति है। तीन मोड़ा खाकर चार समय में गोमूत्र के समान जाने वाले जीवों की गोमूत्रिका विग्रहगति होती है। संसारी जीव एक शरीर को छोड़कर ऊपर कहे अनुसार एक, दो, तीन या चार समय में नवीन शरीर को प्राप्त करता है। इस तरह यह जीव इस संसार रूपी अत्यंत भयानक वन में भ्रमण करते रहते हैं। इस जीव को सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रय की प्राप्ति अगर नहीं होती है तो प्राप्त किया हुआ यह मनुष्य भव व्यर्थ ही समझना चाहिये। इस प्रकार चिन्तवन करना यह भवविचय धर्म ध्यान है।

८. संस्थान विचय—ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक रूप लोकाकाश का, त्रसनाड़ी, वातबलय, सिद्धशिला आदि के स्वरूप का चिन्तन करना संस्थानविचय धर्म ध्यान है।

९. आज्ञाविचय—सूक्ष्म होने के कारण आत्मा, कर्म, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि को परोक्ष ज्ञान से जानना असंभव है। इसलिये कहा भी है कि—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः ॥

जिनेश्वर के द्वारा कहे हुए तत्व अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी हेतु से उनका बचन बाधित नहीं होता है। इसलिये उनका वचन ही प्रमाण है, इस प्रकार उनके वचन पर श्रद्धान रखने का चिंतवन करना आज्ञा विचय है।

१०. कारणविचय—सूक्ष्म परमागम के अर्थ में विस्मरण उत्पन्न होजाय तो नय, निक्षेप, प्रमाणों द्वारा अविरोध रूप से विचार करके जैनागम के अनुसार स्व समय भूषण, पर समय दूषण के रूप में समझकर चिंतवन करना कारणविचय धर्म ध्यान है। यह दस प्रकार के भेद वाला धर्म ध्यान पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या वाले असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तनामक ४, ५, ६, ७ वें गुणस्थान तक होता है।

यह धर्मध्यान बाह्य और आभ्यंतर भेदों से दो प्रकार का भी है । उसमें ध्यान का दृढ़ अकम्प आसन, हाथ, पांव, मुख, आंख, आदि शरीर-अंगों का तथा वचन के व्यापार का रोकना आदि दूसरों को भी जानने में आने के कारण बाह्य धर्म ध्यान होता है।

अपने द्वारा जानने में आने वाला आभ्यंतर धर्मध्यान है । वह धर्मध्यान मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य से रहित होता है ।

१. पहली शल्य जो है वह पर पदार्थरूप पुत्र, स्त्री आदि की वांछारूप रागविकार रूप और परवध बंधन छेदादि वांछारूप द्वेष विकार कदाचित् अपने मन में उत्पन्न हो जाय तो सावधान होकर पश्चात्ताप या आत्मनिंदा करते हुए उसी क्षण में निज शुद्ध परमात्म भावना के सन्मुख होकर परम समरसी भावना रूपी निर्मल जल से विभाव मलीन कलंक को धो डालना चाहिये । परन्तु जो अपने अंतरंग में उत्पन्न हुए विकार को अन्य कोई लोग नहीं समझ सकते हैं, ऐसा समझ-कर उदासीनता से बहिरंग में बगुला के समान वेषधारी बनकर जनता को मनोरं-जन से विभोर करदेता है अर्थात् अपने वश में कर लेने की चेष्टा करता है, अपने मन को शुद्ध नहीं करता उसे माया-शल्य वाला समझना चाहिये ।

२. शुद्धात्म स्वरूप ही साक्षात् उपादेय है, ऐसे न समझ करके उसमें विश्वास नहीं रखना, उससे उदासीन रहना अनात्म श्रद्धालु बनकर ध्यान करना, यह मिथ्यात्वशल्य का स्वरूप है ।

३. आत्मभावना से उत्पन्न हुए परमानंद से रहित दृष्ट, श्रुत, अनुभूत पंचें-द्रिय विषयों की प्राप्ति की इच्छा करके ध्यान करना, यह निदान-शल्य है । इस प्रकार की शल्यों को त्यागकर निज शुद्धात्म-भावना से उत्पन्न हुए सुखामृत को अनुभव करने वाले वीतराग निर्विकल्प स्व-संवेदन भावना जो है वह आभ्यंतर निश्चय धर्म ध्यान कहलाता है ।

प्रकारान्तर से यह धर्मध्यान चार प्रकार का है—

पिंडस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं स्वात्मचिंतनं ।
चतुर्धा ध्यानमाख्यातं भव्यराजीवभास्करैः ॥

पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ऐसे धर्म ध्यान के चार भेद हैं । यह चार प्रकार का धर्म ध्यान भव्य जनों के हृदय कमल को खिलाने में सूर्य समान योगीश्वरों के द्वारा कहा गया है ।

पदस्थं चैव वाक्यस्थं, पिंडस्थं स्वात्म-चिंतनम् ।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरंजनम् ॥

मंत्र वाक्य में रहने वाले पदरूप अक्षरों के चिंतवन करने को पदस्थ ध्यान कहते हैं। अपने आत्म-चिंतवन को पिंडस्थध्यान कहते हैं। समस्त चित्स्वरूप को चिंतवन करने को रूपस्थ ध्यान कहते है। कर्म मल से रहित परमात्मा के चिंतवन करने को रूपातीत ध्यान कहते हैं।

पदस्थादि ध्यानों के स्वरूप—

तारेयं क्षीरोधियं, वारियोळिरदोरासि कंचिदंते यो लेसेवा।
कारद पंचपदंगळ, नारैदति शुद्ध मनदोळिरिसे पदस्थं॥

क्षीर समुद्र के बीच में चन्द्रमा को स्थापित कर प्रकाश के समान दिखने वाले आकार से युक्त पंच परमेष्ठी के मंत्र को अत्यंत प्रेम से शुद्ध निर्मल हृदय में रखकर ध्यान करना यह पदस्थध्यान है।

पळुकिन कोडदोळु सहजं, वेळुगुव शशिकांते देसेव बिंबाकृति तं।
नोळगोळगे तोळगि वेळुगुव, बेळगं निजमागि कंडोळदु पिंड़स्थं॥

स्फटिक मणि के पात्र में स्वभाव से प्रकाशित होने वाली चन्द्रमा की ज्योति अर्थात् प्रकाश के समान अपने हृदय कमल में चमकने वाले सच्चे आत्म रूप को अपने हृदय में देखना या उसी का ध्यान करना उसको पिंडस्थ ध्यान कहते हैं।

द्वादशांगणपरिव्रतनं, द्वादशकोट्यर्क तेज विभ्राजितनं।
आदरदिं मनदोळु निलिसु, बंदमे रूपस्थमप्प परमध्यानं॥

द्वादश गणों से युक्त समवशरण में विराजमान होकर बारह करोड़ सूर्यो के प्रकाशों से भी अधिक शरीर की कांति से विराजमान होने वाले अरहन्त परमात्मा के स्वरुप को अपने मन में स्थिर करके चिन्तन करना रुपस्थ ध्यान है।

सहजसुख सहजवोधं, सहजात्मकनेनिप काण्कें एंबी नलविं।
सहजमने नेलसिनिंदो, बहळते यिदघविनाश रूपातीतं॥

सहज सुख, सहज ज्ञान, सहज ही होने वाले आत्म-दर्शन को मन में स्थिर कर प्रेम से सहज रूप से अपने भीतर आप ही स्थिर होकर अपने आत्मा का ध्यान करना यही संपूर्ण पाप को नाश करने वाला रूपातीत ध्यान है। अथवा अनन्त सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व से युक्त ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना और उसके गुणों के विचार में लीन होना इसको भी रूपातीत ध्यान कहा जाता है।

एक योगी को ध्यान में जिन धारणाओं का आलम्बन करना चाहिए, वे यहाँ दी जा रही हैं—

१—एकान्त-सेवन विचार

एक ज्ञानी आत्मा विचारता है कि वस्तु का जो स्वभाव है वही मेरा धर्म है। इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमयी दर्शन ज्ञान का धारक अमूर्तिक है, लेकिन वह अनादि कर्मबंधन के कारण चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करता हुआ अनंतकाल तक अनेक पर्यायें धारण करता फिरा है, परपदार्थों से भिन्न अनंत दर्शन ज्ञान-मयी सच्चिदानंदरूप की प्रतीति सम्यग्दर्शन है और जो न्यूनाधिकता रहित सूक्ष्म भेदों सहित जाना जाता है वह सम्यग्ज्ञान है और जो स्वस्वरूप में लीन होजाना सो सम्यक्चारित्र है। इसलिये निश्चय से मेरा धर्म आत्म-स्वरूप है। इसको विना पहिचाने मेरा निस्तार नहीं होगा।

२—पृथ्वी धारणा

मैं एकांत में बैठकर विचारता हूँ कि यह संसार समुद्र के समान जीवों से भरा है। समुद्र जल से भरा है। उसमें १००० पत्तों का कमल है। बीच में सुमेरु पर्वत के समान मेरु है। उसके ऊपर एक चौकी विराजमान है। उस पर बैठा हूँ और विचारता हूँ कि सब सांसारिक झगड़ों से बचकर इस शरीर-पुद्गल से शुद्ध होने का उपाय करूँ ताकि भव-भ्रमण से छूट जाऊं।
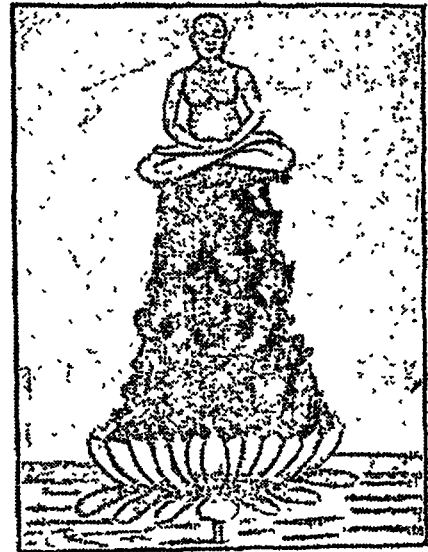
३—कमल धारणा

मैं उस चौकी पर बैठा विचारता हूँ कि मेरे नाभि-स्थान पर सोलह पत्तों का श्वेत रंग का कमल खिला हुआ है जो बहुत विस्तार में फैला है, तथा जो शुद्ध और साफ है। मैं अपनी ज्ञानदृष्टि उस पर जमा कर देखता हूँ।

४—विन्दु-कमल

मेरे नाभि-कमल में जो खिले हुए पत्ते है उनमें हरएक पत्ते पर पीत रंग के विन्दु हैं, जो हरएक पत्ते पर बारह बारह हैं। बीच के भाग में भी १२ हैं और बीच में ह्लीं अक्षर है। वही मूल मैं हूं। मैं विन्दु के ऊपर दृष्टि रखकर जप करता हूं। मेरा मंत्र है-स्वांहा २।
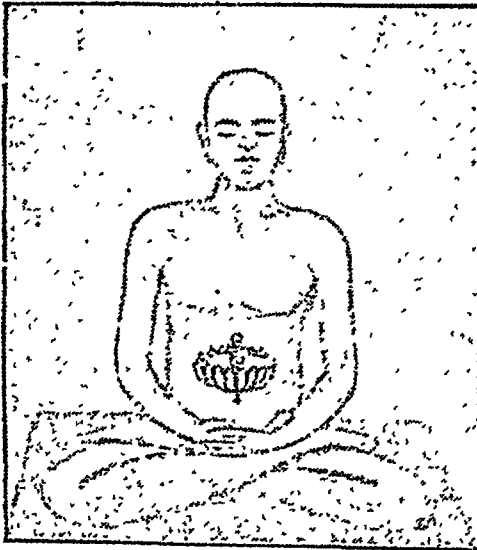
५—हूं

जो नाभि-कमल में विराजमान है, वो प्रकाशमान चमक रहा है। मैं उसमें अपने मन को रोकता हूं। और विचारता हूं कि शरीर भर में प्रकाश हो रहा है।

६—कर्मरूपी कमल

मेरी आत्मा के संग आठ कर्म अनंत-काल से लगे हैं। ये ही मेरे ज्ञान को ढांकते हैं। मैं उनको कमल के रूप में एकत्र कर हृदय-स्थान में स्थापन कर भावनारूपी ध्यान की अग्नि में उन्हें जलाना चाहता हूं।
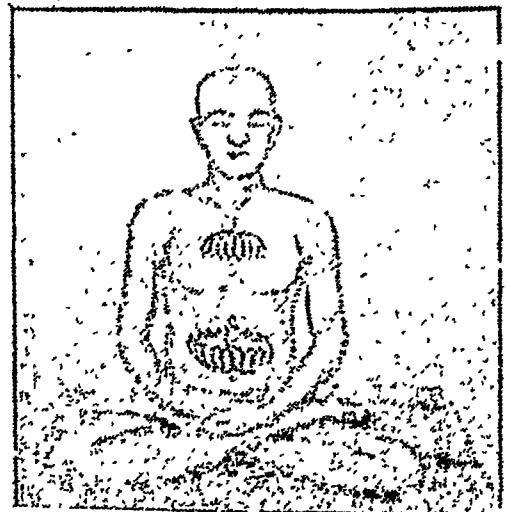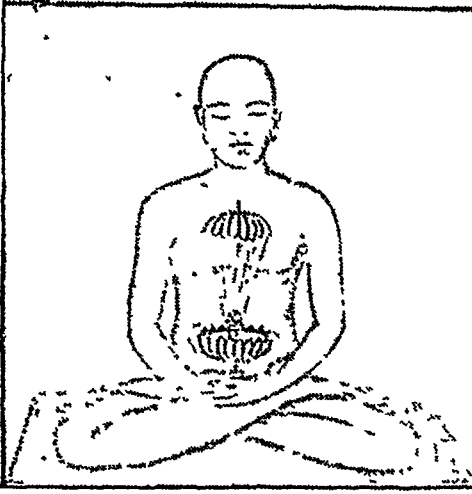
७—अग्नि धारणा

जो नाभि-कमल है उसके बीच में अग्नि विराजमान है। इसकी रेफ से ज्ञान-मई अग्नि निकलकर कर्मरूपी कमल को जलाने लगी है। इस समय शांत भाव से मन को इसी में जोड़े रहना चाहिए और स्वाहा स्वाहा बोलते रहना चाहिए।

८—अग्नि विस्तार

कर्मरूपी कमल को जलाती हुई अग्नि मस्तक पर जाकर तीन भाग होकर शरीर के चारों तरफ जलने लगी है। मस्तक पर और जंघाओं पर ॐ विराज-मान कर विचारें कि तीनों से अग्नि प्रज्वलित हो रही है।
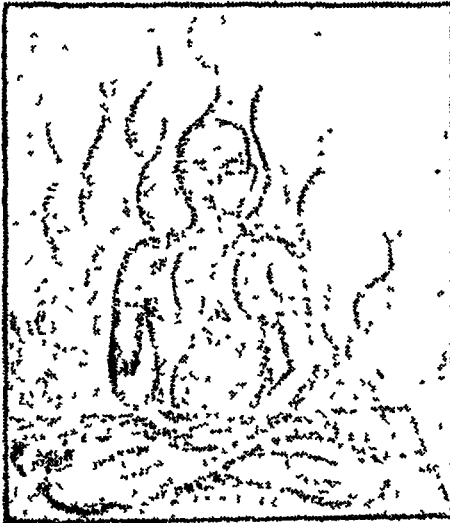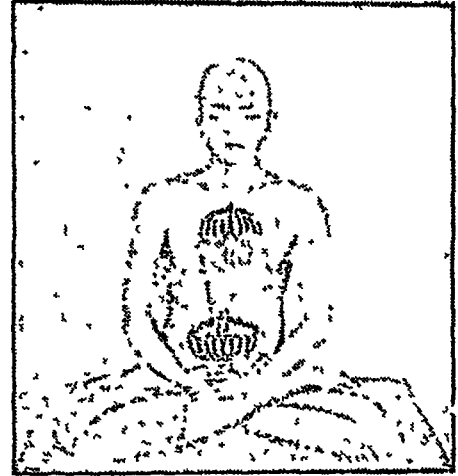
९—पूर्ण अग्नि

अन्दर की अग्नि ने कर्मरूपी कमल को भस्म कर दिया। जो शरीररूपी पुद्गल है उसको बाहर की अग्नि भस्म कर रही है। आत्मा शांतभाव से ध्यान में लीन है।

१०—शरीररूपी खाक की ढेरी

कर्मरूपी कमल को और शरीररूपी पुद्गल को ज्ञानमई अग्नि ने भस्म कर दिया है। आत्मा शरीररूपी भस्म में छिपी है, ऐसा विचार करना चाहिए।
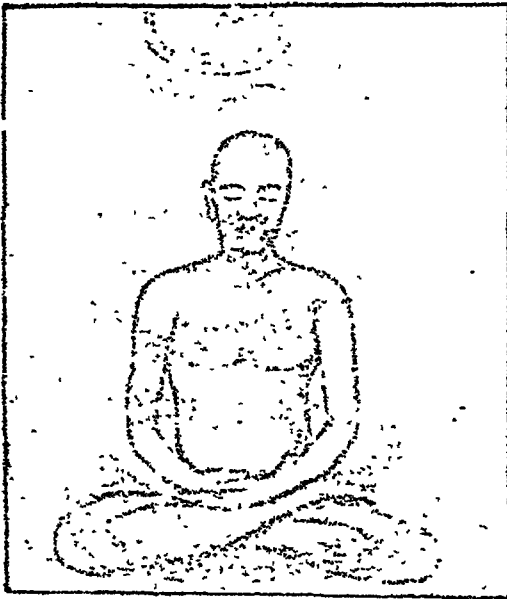
११—वायु धारणा

ज्ञानमई आत्मा विचारती है कि वायु वेग से चल रही है, शरीररूपी भस्म को उड़ा रही है और शरीर प्रमाण आत्मा शांत बैठा है।

१२—जल धारणा

ज्ञानी आत्मा विचारता है कि चारों तरफ से बादल घिर आये हैं। पानी वेग से गिर रहा है। जो कुछ कर्मरूपी और शरीररूपी रज आत्मा में है उसको धोकर साफ कर रहा है। आत्मा शांत ध्यान में मग्न है।
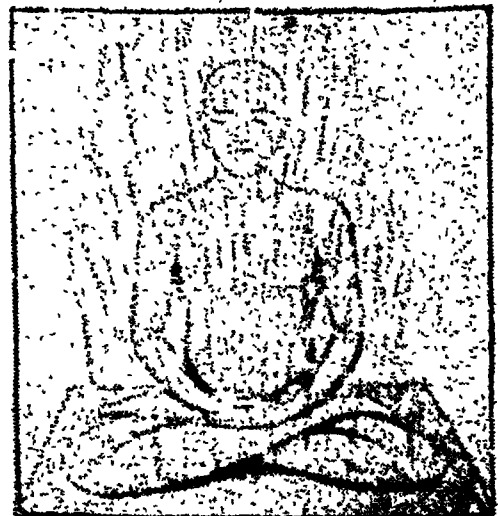
पदस्थ ध्यान के लिए विषयभूत होने वाले पंच परमेष्ठियों के मंत्र ध्यान की महिमा का वर्णन—

श्रीकर यथिष्ट सकल-सुखाकरमपवर्ग कारणं भवहरणं ।
लोकहितं मन्मन दो ळेकाग्रते निल्के निरुपमं पंचपदं ॥

सम्यक्त्व से युक्त, समस्त पदार्थ का तथा मोक्ष का कारण या चतु—र्गति भ्रमण रूप संसार दुःख का नाश करने वाला, लोक का हित करने वाला, उपमा रहित पंच-परमेष्ठी-मंत्र मेरे हृदय में सदा के लिए एकाग्रता पूर्वक बना रहे ।

पंचपदं भवभवदोळ्, संचित पापमने केडिसलाक्कुममोघं ।
पंचमगति गिर दोयूगुं-पंचपदाक्षरद महिमे साधारणमे ॥

पंच परमेष्ठियों का यह पद णमोकार मन्त्र अनन्तानन्त जन्मों में उपार्जन किये हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला है । अन्त में मोक्ष गति अर्थात् पंचम गति को प्राप्त कराने वाला है । इसलिए पंच परमेष्ठी के मंत्र की महिमा साधारण नहीं है ।

मारि रिपु वन्हि जल नृप-चोर रुजा घोर दुःखमं पिंगिसुवी ।
सारायुत पंचपदव, न्नेरिदमक्केमगे मुक्ति यप्पं नेवरं ॥

महामारी शत्रु अग्नि पानी राजभय चोरभय आदि अत्यन्त घोर दुःख का नाश करने वाला सारभूत पंचपद हमको मोक्ष प्राप्त होने तक हमारे हृदय में स्थिर होकर रहे ।

भोंकने कळेगुं भव दुः पंक मनुग्राहि शाकिनी ग्रहभूता ।
तंक मनसुरु पिशाचा, शंके यनखिळेक मंगळमं पंचपदं ॥

यह पंच नमस्कार मंत्र संसार रूपी कीचड़ को शीघ्रता से नाश करने वाला है । शाकिनी, ग्रह, भूतों के आतंक को तथा राक्षस, पिशाचिनियों के भय को नाश करने वाला है । समस्त मंत्रों का मुख्य अधिपति यह पंच नमस्कार मंत्र है ।

आपोत्तुं सद्भक्तियो ळी पंचपदाक्षरंगळं जपिसुवं ।
गापोत्तुं भवतापं-पापमुं नेरे केट्टु मुक्तियेक्कु ममोघं ॥

जो भव्य जीव सदा सद्भक्ति से इस पंच परमेष्ठी के मंत्र का जाप करते हैं, उनकी समस्त आपत्ति, संसार के संताप तथा पाप नष्ट हो जाते हैं और, मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

मंगळ कारण पंच पदंगळनपवर्ग विरचित सोपा ।
नंगळ नक्षय मंत्र पदंगळं नोडुतू नेरैय्य निश्चल मतियिं ॥

समस्त सुख को देने का कारण तथा अविनश्वर मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने के लिए सोपान के समान इस महान पंच नमस्कार मंत्र का अत्यन्त स्थिर भाव से जप करना चाहिए।

बलबदभुत पिशाच राक्षस विषं व्याळवाधयुं पिंगिकुं ।
दळियुक्कुं रिपुराज चोर भयमं दुःखाग्र शोकं गळं ॥
गळियुक्कुं घळियुक्कुनल्ल दर्शायं नोळपं जगन्मुख्यमं ।
गळमि पंचगुरुस्तवं शुभकृतिं प्रत्युहविध्वंसनं ॥

इस पंच परमेष्ठी के स्मरण करने से अत्यन्त वलवान भूत पिशाच राक्षस सर्प आदि की बाधा दूर होती है और शत्रु भय राज्य भय, आदि दुःख का नाश होता है और संसारी जीवों को इसका ध्यान करने से सब तरह का मंगल होता है।

त्रैलोक्यक्षोभ मंत्रं त्रिजगदधिप कृत पंचकल्याण लक्ष्मी ।
साम्राज्याकर्षणमंत्रं निरुपमं परमश्रीवधु वश्यमंत्रं ॥
वाक्सोमाह्वानमंत्रं त्रिभुवनजनसम्मोहन मंत्रं ।
जिह्वाग्रे संततं पंच गुरु नमस्कार मंत्रं ममास्तु ॥

यह पंच नमस्कार मंत्र तीन लोक को कम्पायमान करने वाला है। और यह तीन लोक में अभ्युदय रूप गर्भावतरण, जन्माभिषेक, दीक्षा कल्याणक, केवल-ज्ञान और मोक्ष-कल्याणक रूप सम्पत्ति को देने वाला है, स्वाधीन कर देने वाला है, उपमा रहित है, उत्कृष्ट है, ऐसा यह मंत्र मोक्ष-लक्ष्मी को वशीभूत करने वाला है। ज्ञान रूपी चन्द्रमा का उदय करने वाला है। तीन लोक के जीवों को मोहित करने वाला है। ऐसा अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु रूप पंच गुरु का नमस्कार मंत्र मेरी जिह्वा के अग्रभाग पर सदा रहे।

घणकर्मद्विधिमारणं प्रबर मिथ्यात्वोग्रहोच्चाटनम् ।
कुणियाशीर्विष निर्विषीकरण मापापास्रव स्तंभनं ॥
विनुताहिन्द्रसुरेन्द्र मुक्तिललना सम्मोहनं भारती ।
वनितावत्समिदल्ते पंचपरमेष्ठी नाम मंत्राक्षरम् ॥

यह पंच परमेष्ठी मंत्र महा कठिन कर्म का नाश करने वाला है। प्रबल मिथ्यात्व ग्रह को भगाने वाला है। आशीविष नामक सर्प के विष को निर्विष करने वाला है। पाप रूपी दुर्मार्ग को वन्द करने वाला है। श्रेष्ठ धरणेन्द्र, देवेन्द्र की पदवी को प्राप्त कराने वाला है। मोक्षलक्ष्मी को मोहित करने वाला है। सरस्वती को वश करने वाला है। इस णमोकार मंत्र की महिमा अचित्य है। इसके वर्णन करने में गणधर आदि भी थक जाते है। इसलिए मैं इसका वर्णन कैसे कर सकता हूं ? इसलिए मैंने इसका संक्षेप में वर्णन किया है।

आचार्य श्री उमास्वामी विरचित
णमोकार मंत्र का माहात्म्य

विश्लिष्यन् घनकर्मराशिमशनिः संसार भूमीभृतः
स्वर्निर्वाणपुरप्रवेशगमने, निःप्रत्यवायः सतां ।
मोहान्धावटसंकटे निपततां, हस्तावलम्वोऽर्हतां
पायान्नः स चराचरस्य जगतः संजीवनो मन्त्रराट् ॥

अर्थ—अर्हंत आदि पंच परमेष्ठियों का णमोकार मन्त्रराज ज्ञानावरण आदि कर्मसमूह को आत्मा से हटानेवाला है, अतएव संसार-रूपी पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र के समान है। सत्पुरुषों को स्वर्ग-मोक्ष जाने में सहायक है। मोहरूपी अन्धकूप में गिरे हुये प्राणियों को उससे वाहर निकालने के लिये हस्तावलंबन (हाथ के सहारे) के समान है, चर (त्रस) और अचर (पृथ्वी, वनस्पति आदि स्थावर) जगत को जीवनदाता है, ऐसा णमोकार मंत्र हमारी रक्षा करे॥१॥

एकत्र पंचगुरुमंत्रपदाक्षराणि, विश्वत्रयं पुनरनन्तगुणं परत्र ।
यो धारयत्किल तुलानुगतं तथापि, वंदे महा गुरुतरं परमेष्ठिमन्त्रं ॥२॥

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति एक ओर पंच परमेष्ठी के णमोकार मंत्र के पद —अक्षरों को और दूसरी ओर अनन्त गुणात्मक तीन लोकों को रखकर तराजू से तुलना करे तो भी वह णमोकार मन्त्र को अधिक वजनदार (भारी) अनुभव करेगा। मैं उस महान गौरवशाली णमोकार मन्त्र को नमस्कार करता हूँ॥ २ ॥

ये केचनापि सुषमाद्यरका अनंता उत्सर्पिणीप्रभृतयः प्रययुर्विवर्त्ताः ।
तेष्वायतं परतरं प्रथितं पुरापि, लब्ध्वैनमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः ॥३॥

अर्थ—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि के जो सुषमा, दुःषमा आदि अनन्त युग पहले व्यतीत हो चुके हैं, उनमें भी यह णमोकार मंत्र सबसे अधिक महत्वशाली प्रसिद्ध हुआ है। जितने जीव आज तक मोक्ष गये हैं, वे सब इसको प्राप्त करके ही गये हैं ॥३॥

उत्तिष्ठन्निपतञ्चलन्नपि धरा-पीठे लुठन् वास्मर-
ञ्जाग्रद्वा प्रहसन् स्वपन्नपि वने विभ्यन्निषीदन्नपि
गच्छन् वर्त्मनि वेश्मनि प्रतिपदं, कर्म प्रकुर्वन्नपि,
यः पंचप्रभुमंत्रमेकमनिशं किं तस्य नो वांच्छितम् ॥४॥

अर्थ—जो व्यक्ति उठते हुये, गिरते हुये, चलते हुये, पृथ्वी तल पर लोटते लुढकते हुये, सोते हुये, हँसते हुये, वन में डरते हुये, वैठते, मार्ग में चलते, घर में रहते, कोई भी कार्य करते हुए, पग-पग पर सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता है, उसकी सभी इच्छायें पूर्ण होती हैं ॥४॥

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजंगसिंह-दुर्व्याधिबन्हिरिपुबंधनसंभवानि ।
चौरग्रहभ्रमनिशाचर शाकिनीनां नश्यन्ति पंचपरमेष्ठिपदैर्भयानि ॥५॥

अर्थ—णमोकार मंत्र जपने से युद्ध, समुद्र, गजराज (हाथी) सर्प, सिंह, भयानक रोग, अग्नि, शत्रु, वन्धन (जेल आदि) का तथा चोर, दुष्ट ग्रह, राक्षस चुड़ैल का भय दूर हो जाता है ॥५॥

यो लक्षं जिनलक्षबद्धहृदयः, सुव्यक्तवर्णक्रमम्
श्रद्धावान्विजितेन्द्रियो भवहरं, मन्त्रं जपेच्छ्रावकः
पुष्पैः श्वेतसुगन्धिभिः सुविधिना, लक्षप्रमाणैरमुम्
यः संपूजयते स विश्वमहितस्तीर्थाधिनाथो भवेत् ॥६॥

अर्थ—जो जितेन्द्रिय श्रद्धालु श्रावक हृदय में जिनेन्द्र भगवान का लक्ष्य रख कर स्पष्ट शुद्ध उच्चारण सहित णमोकार मंत्र को एक लाख बार जपता है तथा विधिपूर्वक णमोकार मंत्र को शुद्ध स्पष्ट पढ़-पढ़कर एक लाख सुगन्धित सफेद फूल चढ़ाता है, वह जगत्पूज्य तीर्थङ्कर पद प्राप्त करता है ॥६॥

इन्दुर्दिवाकरतया रविरिंदुरूपः पातालमंबरमिला सुरलोक एव ।
किं जल्पितेन बहुना भुवनत्रयेपि यन्नाम तन्न विषमं च समं च तस्मात् ॥७॥

अर्थ—णमोकार मन्त्र के प्रभाव से चंद्रमा सूर्य के समान, सूर्य चन्द्रमा की तरह, पाताल आकाश के समान और पृथ्वी स्वर्ग के समान हो जाती है। बहुत क्या कहें, तीन लोक में ऐसी कोई भी विषम (दुखदायक-अनिष्ट) वस्तु नहीं जो णमोकार मन्त्र के प्रभाव से सम (सुखदायक-इष्ट) न हो जाय ॥७॥

जग्मुर्जिनास्तदपवर्गपदं तदैव विश्वं वराकमिदमत्र कथं विनास्मात् ।
तत्सर्वलोकभुवनोद्धरणाय धीरैर्मंत्रात्मकं निजवपुर्निहितं तदत्र ॥८॥

अर्थ—कषाय-विजेता योगी तब ही मुक्ति-पद प्राप्त कर सके, जब कि उन धीर-वीरों ने समस्त जगत् का उद्धार करने के लिए अपना शरीर मंत्र रूप कर दिया। इसके बिना बेचारा (संसार) किस तरह कल्याण प्राप्त करता ? यानी साधु आदि परमेष्ठी णमोकार मन्त्र के ध्यान से मुक्त होते हैं। तथा उनका पांच परमेष्ठी रूप होना इस णमोकार मंत्र का मूल आधार है ॥८॥

हिंसावाननृतप्रियः परधनाहर्त्ता परस्त्रीरतः ।
किंचान्येष्वपि लोकगर्हितमतिः पापेषु गाढोद्यतः ।
मन्त्रेशं सपदि स्मरेच्च सततं, प्राणात्यये सर्वदा ।
दुःकर्मार्जितदुर्गतिक्षतचयः स्वर्गी भवेन्मानवः ॥९॥

अर्थ—जो मनुष्य हिंसा, असत्यभाषण, चोरी, पर-स्त्री सेवन करने वाला हो तथा लोकनिंदित होकर अन्य महान पापकर्मों में तत्पर रहता हो वह यदि निरंतर सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता रहे तो कुकर्मों से उपार्जित अपनी नरक आदि दुर्गति को बदलकर मरने पर देव गति प्राप्त करता है ॥९॥

अयं धर्मः श्रेयान्नयमपि च देवो जिनपति-
र्व्रतं चैष श्रीमानयमपि तपः सर्वफलदं ।
किमन्यैर्वाग्जालैर्बहुभिरतिसंसार - जलधिः,
नमस्कारस्तत्किं यदिह शुभरूपो न भवति ॥१०॥

अर्थ—यह पंच नमस्कार मन्त्र ही कल्याणकारी है, यह मन्त्र ही जिनेंद्र भगवान रूप है, यह मन्त्र समस्त शुभ फलदायक व्रत तप रूप है। दूसरी बहुत सी बातें करने से क्या लाभ है ? संक्षेप में यों समझ लीजिये कि संसार में यह णमोकार मंत्र ऐसा महत्वशाली है जिसके प्रभाव से ऐसी कोई चीज नहीं जो शुभ न हो सके ॥१०॥

स्वपन् जाग्रत्तिष्ठन्नथ पथि चलन् वेश्मनि स्खलन्
भ्रमन् क्लिश्यन् माद्यन् वनगिरिसमुद्रेष्ववतरन् ।
नमस्कारान् पंच स्मृतिखननिखातानिव सदा
प्रशस्तो विन्यस्तान्निव वहति यः सोऽत्र सुकृती ॥११॥

अर्थ—जो मनुष्य सोते, जागते, मार्ग में चलते, घर में लडखडाते, घूमते, खेदखिन्न होते, उन्मत्त होते, बन पर्वत में चलते, समुद्र में तैरते, हुए, यानी प्रत्येक दशा में नमस्कार मंत्र को अपने हृदय पटल पर (स्मृति में) पाषाण प्रशस्ति में उत्कीर्ण (खुदे हुये) अक्षरों के समान धारण किये रहता है, वह पुण्यवान है ॥११॥

दुःखे सुखे भयस्थाने, पथि दुर्गे रणेऽपि वा
श्रीपंचगुरुमन्त्रस्य, पाठः कार्यः पदे पदे ॥१२॥

अर्थ—मनुष्य को दुख में, सुख में भयानक स्थान में, मार्ग में, वन में, युद्ध में पग-पग पर पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करना चाहिये ॥१२॥

इस प्रकार इस मंत्र को भव्य जीवों को सदा अपने हृदय में रुचिपूर्वक स्मरण करना चाहिए। यह पदस्थ ध्यान कर्म क्षय करने के लिये मूल कारण है। और ये ही ध्यान शुक्ल ध्यान के लिये निमित्त कारण है। ऐसा समझ कर भव्य जीवों को सदा इसका स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार धर्म ध्यान का संक्षेप में वर्णन किया गया। इससे पाप रूपी मैल धुलकर आत्मा अपने मूल स्वरूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार से इस मंत्र द्वारा धर्म ध्यान का वर्णन किया।

योगी को सदा इसी तरह अपना भाव बनाये रखने के लिए उपदेश देते हैं:—

एंदिन्तु वगेद वर्गेयि दंडुगमं विट्टु शुद्ध भावनेयिदं।
कुंददे नोळ्पुदु निच्चं संदेहंवडदे निन्नचित्तदे निन्नं ॥६॥

इस प्रकार की भावना से भ्रम-रहित सन्देह-रहित पर-वस्तु की आकांक्षा से रहित अपने मन में किसी प्रकार की मलिनता नहीं आने पाती। हमेशा अपने निजात्म स्वरूप को देखने से आत्मा संसार रूपी कीचड़ से निकलकर अपने मूल स्वरूप में आ सकता है। इसी का नाम मोक्ष है। इसी का नाम सिद्ध परमात्मा का स्वरूप है। इसके सिवाय कोई और संसार में सुख, शान्ति को देने वाला नहीं है।

वह भावना इस प्रकार है :—

भावीसु भावीसु भव्य मनोवचन शरीरं दक्षनिन्नं भेदसि चि।
चिद्भावमने इळिदु निच्चं भावनेन्दनदळकुळ भवनाशं ॥

मैं रागद्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ, पंचेन्द्रियों के विषय व्यापार मन, वचन, काय, भाव कर्म, द्रव्य कर्म नोकर्म, ख्याति, लाभ, पूजा, माया, मिथ्यात्व, निदान शल्यत्रय दण्डत्रयादि विभाव परिणामों से रहित हूँ। मैं नित्य निरंजन शुद्धात्म, श्रद्धा, ज्ञान, अनुष्ठान रूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुई वीतराग निजानन्द सुखानुभूति स्वरूप हूँ। निज शुद्धात्म-ज्ञान ही मेरा मुख्य स्वरूप है। वही मैं हूँ। मैं सहज शुद्ध पारिणामिक स्वभाव से युक्त हूँ। मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव से युक्त हूँ। मैं चैतन्यरत्नाकर स्वरूप हूँ, मैं चैतन्य अमर रसायन स्वरूप हूँ, मैं चैतन्य चित्स्वरूप हूँ, मैं चैतन्य कल्याण वृक्ष स्वरूप हूँ, मै ज्ञान-पुंज स्वरूप हूँ, मैं ज्ञान-ज्योति स्वरूप हूँ, मैं ज्ञानामृत स्वरूप हूँ, मैं ज्ञानावरण के अस्त स्वरूप हू, मै ज्ञानार्णव स्वरूप हूँ, मैं देव-स्वरूप वाला हूं, मैं निर्बन्ध स्वरूप वाला हूँ, मैं शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप वाला हूँ, मैं शुद्ध अखण्डैक स्वरूप हूँ,

मैं अनन्त ज्ञान स्वरूप वाला हूँ, मैं अनन्त दर्शन स्वरूप वाला हूँ, मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ, मैं अनन्त शक्ति स्वरूप वाला हूँ, मै परमानन्द स्वरूप वाला हूँ, मैं ज्ञानानन्द स्वरूप वाला हूँ, मैं निजानन्द स्वरूप वाला हूँ, मैं नित्यनिरंजन स्वरूप वाला हूँ, मैं सहज सुखानन्द स्वरूप वाला हूँ, मै नित्यानन्द स्वरूप वाला हूँ, मैं शुद्धात्म स्वरूप वाला हूँ, मैं परम ज्योति स्वरूप वाला हूँ, मैं स्वात्मोपलब्धि-स्वरूप वाला हूँ, मै सिद्धात्मानुभूति स्वरूप वाला हूँ, मैं सिद्धात्म संविहित-स्वरूप वाला हूँ, मैं भूतार्थ स्वरूप हूँ मैं परमात्म स्वरूप वाला हूँ, मैं निश्चय पंचाचार स्वरूप हूँ, मैं समयसार स्वरूप वाला हूँ, मैं अध्यात्मसार स्वरूप वाला हुँ, मैं परम मंगल स्वरूप वाला हूँ, मैं परम शरण वाला हूँ, मैं केवलज्ञानोत्पत्ति कारण स्वरूप वाला हूँ, मैं सकल कर्म क्षय कारण स्वरूप वाला हूँ, मैं परम अद्वैत स्वरूप वाला हूँ, मैं शुद्धोपयोग स्वरूप वाला हूँ, मैं निश्चय षडावश्यक स्वरूप वाला हूँ, मैं परम स्वाध्याय स्वरूप वाला हूँ, मैं परम समाधि स्वरूप वाला हूँ, मैं परम स्वार्थ स्वरूप वाला हूँ।

मैं परम भेद-ज्ञान स्वरूप हूँ, मैं परम संवेदन स्वरूप हूँ, मै परम परमरसी भाव स्वरूप हूँ, मैं क्षायिक सम्यक्त्व-स्वरूप हूँ, मैं केवल ज्ञान स्वरूप हूँ, मैं केवल दर्शन स्वरूप हूँ, मैं अनन्त वीर्य स्वरूप हूँ, मैं परम सूक्ष्म स्वरूप हूँ, मैं अवगाहन स्वरूप हू, मै अगुरुलघु हूँ, मैं अव्यावाध स्वरूप हूँ, मैं अष्टविध कर्म रहित हूँ, मै निरजन स्वरूप हूँ, मै नित्य अष्टगुण सहित हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, मै लोकाग्रवासी हूँ, मैं अनुपम हूँ। मैं अचिन्त्य हूँ, मैं अतर्क्य हूँ, मै अप्रमेय-स्वरूप हूँ, मैं अतिशय-स्वरूप हूँ, मै अक्षय-स्वरूप हूं, मैं शाश्वत हूँ, मै सिद्ध स्वरूप हूँ। इस प्रकार अपने हृदय में एकाग्र होकर जगत्त्रय तथा कालत्रय में कृत कारित अनुमोदन से तथा निश्चय नय से समस्त भव्यात्माओं को निजात्म तत्व को सविकल्प निर्विकल्प रूप से भावना करना यह निश्चय सुखदायक धर्म ध्यान है। इस प्रकार हे योगी! निरंतर अपने हृदय में एकाग्र होकर इस तरह से भावना करके तू अपनी आत्मा को कर्म कीचड़ से निकालकर सुखमय आनन्दमय हो। इस प्रकार भावना करने का उपदेश श्रीगुरुदेव ने दिया है।
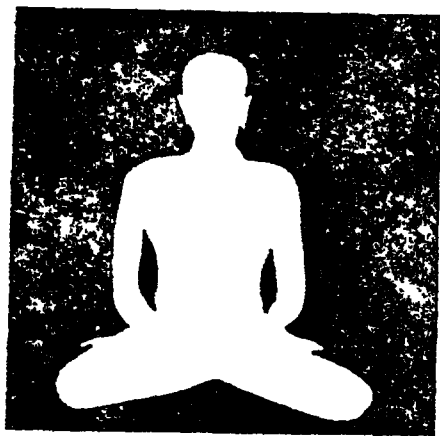
परम शुद्ध आत्म-भावना

इन्द्रिय-विषय सम्बन्धी व्यासंग को छोड़े बिना निजात्मा की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है इसलिए पर-वस्तु के व्यासंग को छोड़ने का उपदेश देते हैं—

व्यासंगदोळेतरोळं-सूसदे मनमेंब रत्नमं जिनवचना।
भ्यास दोळ्मात्मतत्वाभ्यासदोळं मडगलरि वोडातने धन्यं ॥७॥

हे योगिन् ! चित्त-रूपी रत्न को किसी अन्य व्यासंग में मत जाने दे। जो हमेशा जिन-वचन के अभ्यास में, आत्म-तत्व के अभ्यास में स्थिर हो करके केवल अपने आत्म-तत्व का ही अभ्यास करता है वही जीव धन्य है, उसको ही रत्नत्रय की प्राप्ति हो सकती है ॥७॥

विशेषार्थ—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि जब तक अज्ञानी प्राणी पर-वस्तु के व्यासंग में अपने मन को लगाता है, तब तक शुद्धात्म-तत्व की प्राप्ति उसके लिए अत्यन्त दूर है। अनादि काल से पर-वस्तु के व्यासंग से यह आत्मा अपने व्यासंग से रहित होकर पर के व्यासंग में पड़कर अनेक प्रकार के दुःख उठा रहा है। जब तक पर-वस्तु आत्मा के साथ लगी रहेगी, तब तक इस जीव को आत्म-तत्व की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए आचार्य ने पर वस्तु के व्यासंग को छोड़ने का उपदेश दिया है। हे आत्मन्। अगर तू शीघ्र ही संसार रूपी कारागार से या कुटुम्ब-रूपी बन्धन से छुटकारा पाना चाहता है तो शीघ्र ही अपने अन्दर आप ही विचार करके उस बन्धन को अपने मन के द्वारा दूर कर। जब तक मन के द्वारा पर-संबंध दूर नहीं होगा तब तक तुझे आत्म सुख की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे निर्बुद्धि आत्मन् ! संसार के विलास में मग्न होने के कारण तू अपने निज स्वरूप को बिल्कुल भूल गया है। पूर्व में किये हुए पुण्य के योग से धन, उत्तम कुल, नीरोग शरीर, मन आदि तुझे तेरे अनुकूल प्राप्त हुआ है। तू इस दुनिया के भोग-विलास में मग्न होकर मौज कर रहा है। आत्म-शक्ति का भान न होने के कारण तेरा शरीर, मन और बचन पंचेन्द्रिय-विषयों में अटक गया है, परन्तु तू विचार करके देख कि यह विलास क्या है। तू यदि विचार पूर्वक देखे तो यह विलास क्षणिक और नाशवान है। तन, मन की शक्ति इस विषय कषाय में तथा संकल्प विकल्प में लगती जा रही है, इसीलिए तेरी आत्म शक्ति कमजोर होकर उसी के साथ उसी के रूप में मिश्रित होकर उसी के अनुसार रमण करती हुए उसी के अनुसार बदल रही है। परन्तु हे आत्मन्। तू विचार कर कि यह भोग-विलास प्रारम्भ में तुझे अच्छे लगते हैं किन्तु अन्त में अनेक प्रकार के दुःख देने वाले होते हैं। यह ही विलास तुझे अधम, नीच विचार वाला बना देता है। यही तुझे पतित मानव की कोटि में या तिर्यंच की कोटि में पहुँचा देता है। हे आत्मन् ! तुझे कहां तक कहूँ तू मदोन्मत्त हुए सांड के समान अपनी सुध बुध को भूल करके पूर्व-जन्म में किये हुए पुण्य के मद से मत्त होकर अंहकार रूपी वृक्ष पर चढ़कर ऊपर को ही देखता है। नीचे देखता ही नहीं। मदोन्मत्त सांड के समान अकड़ कर चलता है। इसलिए तुझे सद्गुरु कहते है कि हे मूर्ख प्राणी ! तुझे दस प्राणों वाले उत्तम मानव पर्याय के महत्व का ज्ञान नहीं है परन्तु तुझे केवल ग्यारहवां

प्राग रुपये का ही ज्ञान है। यही ग्यारहवां धनरूपी महाप्राण तुझे भ्रमण का कारण हो रहा है। क्योंकि इसी के कारण यह आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर इस मानव रत्न का दुरुपयोग कर रहा है।

जो संपत्ति पूर्व जन्म के पुण्य के कारण मिली हुई है वह तेरे सद्विचार, विवेक आदि को नष्ट कर रही है। वह शरीर को अनेक प्रकार की विलासता की तरफ खींचती है। इसलिए तू प्राप्त हुए तन, मन, धन को अपने आत्म-कल्याण का साधन न बना कर इन्द्रिय-विषय-वासना की पुष्टि करने का साधन बना रहा है। परन्तु यह नहीं सोचता कि शरीर के साथ आयु पूर्ण होने के बाद पुण्य के निमित्त से मिली हुई पंचेन्द्रिय-विषय-भोग-सामग्री भी यहीं पर पड़ी रह जाती है। अर्थात् तू जब यहां से आयु के अवसान में शरीर को छोड़ कर अन्य गति को प्रयाण करता है उस समय तेरे पीछे यह सामग्री एक कदम भी नहीं जाती। परन्तु अरे मूर्ख ! तू उसी को सत्य मान करके हमेशा उसकी प्राप्ति के लिए तरसता है।

तेरी दशा उस हरिण के समान है जो मरीचिका को जल समझ कर उसके पीछे दौड़ दौड़ कर अपने प्राण को गंवा देता है। इसी तरह से तू इस क्षणिक वस्तु के लिए दौड़ धूप करके अपने प्राण गंवा देता है, अन्त में भव भव में अनेक दुःख के साधन बना करके प्राप्त किये हुए मनुष्य पर्याय को खो देता है। इतना होने पर भी तेरी आकुलता बढ़ती जाती है। आकुल व्याकुल होकर अन्त में मरण को प्राप्त होता है। यही काया माया की परिस्थिति है। उसी को तू सत्य शान्ति का उपाय समझ कर दौड़ धूप करता है परन्तु उसमें सुख का लेश मात्र भी नहीं मिलता है और अन्त में तुझे निराश होना पड़ता है। इसलिए काया माया के प्रपंच का त्याग करके सुख और शान्ति देने वाले सुदेव सद्गुरु और सद्धर्म की आराधना करना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि वह प्रपंच, वह पर-वस्तु क्षणिक है, तुच्छ है, इसमें इतने परिरमण से भी तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होती है। इन विषय भोगों से तिल मात्र भी शान्ति नहीं मिलती।

कुछ न होने पर गरीब एक सौ रुपये की इच्छा करता है। सौ रुपया मिलने पर वह हजार की आशा करता है। हजार की आशा में अनेक प्रकार के व्यापार करता है। हजार की इच्छा के बाद दस हजार की आशा रखता है। दस हजार की इच्छा के बाद धर्म का त्याग कर देता है और धर्म को त्याग करके अनेक प्रकार की दगाबाजी करके पैसा कमाने की दौड़ धूप करता है। सदा असन्तोषी रहता है, फिर करोड़पति बनने की इच्छा करता है। इसके बाद अरबपति होने की इच्छा करता है। उसके लिए अनेक आरम्भ करता है। इस तरह आशा और तृष्णा बढ़ती ही जाती है।

इसके लिए देवता की भी सहायता पाने की इच्छा करता है—मैं किसी देवता की आराधना करूँ तो मेरी इच्छा पूर्ण हो जायेगी। परन्तु अन्त में भाग्यहीन

बन कर बैठ जाता है। विना पुण्य के देवता कुछ नहीं कर सकते। इन्द्र भी आकर हाथ तभी जोड़ता है, जब उसके साथ पुण्य होता है। बिना त्याग के पुण्य मिलना कठिन है। मुझे अन्त में सब कुछ छोड़ना पड़ेगा, यह भावना नहीं रहती। इसको प्राप्त करने के लिए कितना कष्ट उठाता है इसकी कोई मर्यादा नहीं है।

इसलिए कहते हैं कि हे आत्मन्! जिस समय तू कूट कपट करके पंचेन्द्रिय भोग-सामग्री इकट्ठा करता है उसमें मुग्ध होकर उस सामग्री को सार्थक करने की तेरी भावना क्यों नहीं रहती। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे भाग्यशाली मानव! हे आत्मन्! आयु-चिन्ता से, परिताप से अनेक प्रकार के उपद्रव, अनेक प्रकार के रोग अशुभ कर्म के उदय से आते रहते है। वे एक दिन भी तुझे सन्तोष पूर्वक बैठने नहीं देते। तू माया में जब अशक्त हो करके बैठता है तब तुझे अपने आपकी खबर भी नहीं रहती। जब आयु समाप्त होती है तो मन में पश्चाताप करता है, परन्तु अन्त में पश्चाताप करने से क्या होगा। इससे कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

आयु समाप्त होने के समय जो कुछ करना था वह मन में ही रह जाता है। किसी भव में जो काया माया, धन सम्पत्ति आदि संभाल करके इससे जो अपनी आगे की गति को सुधारता है, उसके द्वारा तपश्चर्या, संयमभाव आचार विचार का साधन करके अपने आत्मा की पहचान करता है वह ही सफल हो सकता है। मनुष्य पर्याय को छोड़ने के बाद अन्य पर्याय में आत्म-साधन नहीं हो सकता। अन्य भव में, नीच कुल में उत्पन्न होने के कारण आत्म-साधन के लिये हजारों बाधायें आकर खड़ी हो जाती हैं। अज्ञान से अपना समय बिताना पड़ता है, पराधीन होना पड़ता है। ठीक सुख दुःख का भान नहीं रहता, इसलिए वह जीवन पशु पर्याय के समान कहलाता है। इसलिए हे आत्मन्! इस मनुष्य भव से च्युत होने के बाद तुझे अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए तुझे यह जो नररत्न मिला हुआ है विवेक-पूर्ण विचार करके यदि तू अपने साधन में लगा रहेगा तो तुझे आगे आत्म-शान्ति देने वाली सामग्री अपने अन्दर ही प्राप्त होगी इसलिए धर्म की आराधना कर जिससे आत्मा को दुःख देने वाला माया का फेर मिट जावे।

जब तक तू काया माया की झंझट में रहेगा तब तक दुखी ही रहेगा। मन को शुभ कार्य में लगाने का प्रयत्न कर क्योंकि शुभ कार्य करने के लिए इस समय शुभ अवसर है इसलिए प्राप्त किए हुए इस नर-रत्न को वृथा गंवाना ठीक नहीं है। तू खुद ही समझ ले। सत्य उपाय बतलाने वाले तुझे और किसी गति में नहीं मिलेंगे। सत्य उपाय बतलाने वाले तेरे भाग्य के उदय से सद्गुरु मिले हुए हैं। इसलिए तुझे चिन्ता आदि से छुटकारा पाने के लिए सद्गुरु तुझे जगा रहे हैं। इस लक्ष्य से उपयोग-पूर्वक तू सद्गुरु का उपदेश सुन।

जो तू पर-वस्तु के लिए इतना परिश्रम आदि करता है और पेटभर अन्न भी नहीं खाता, यदि इतनी चिन्ता और श्रम अपने आत्म-साधन में थोड़ी देर तक करता रहे तो तेरा चिन्ता जाल नष्ट हो जायेगा और तुझे आत्म-स्वरूप की पहचान हो जायेगी इसलिए तुझे आत्म-साधन करने में कभी भी प्रमाद करना ठीक नहीं है। इस तरह से मन लगा कर इस शरीर के द्वारा आत्म-साधन करने में पुरुषार्थ करेगा तो तेरे दुःख का द्वार बन्द हो जायेगा।

जगत में क्षणिक सुख की प्राप्ति के लिए तू अनेक प्रकार के खेल खेल रहा है परन्तु इतने खेल खेलने पर भी अन्त में सुख और शान्ति प्राप्त नहीं की है। इन्द्रिय सुख का गुलाम बना हुआ मनुष्य एक क्षण भी अपने आत्मा की ओर देखने की इच्छा नहीं करता है।

भक्ष्य-अभक्ष्य के आचार विचार आदि को भूल जाता है। शरीर के पालन पोषण के लिए जितनी मेहनत करता है उतनी मेहनत अपने आत्म-साधन के लिए एक क्षण भी नहीं करता। हमेशा पंचेन्द्रिय का गुलाम बना रहता है। अभक्ष्य-भक्षण में हमेशा आसक्त बना रहता है। इसलिए तेरी बुद्धि में मलिनता आती है। अपने आचार विचार कुलाचार को, मानव पर्याय को जब स्मरण नहीं रखता तो तू पशु-क्रिया करता है। तब वे मन्दिरा मांस आदि अनेक प्रकार के असेव्य पदार्थ सेवन करता है। उससे सद्बुद्धि कहां से प्राप्त हो सकती है। इसलिए हे आत्मन्! तू इन विषय-कषाय, विषय-वासना का त्याग कर दे तू पिशाच-शक्ति और शारीरिक शक्ति को लेकर विषयवासना के पीछे रात दिन दौड़ता रहता है। पंचेन्द्रिय विषय-वासना में रहने के कारण तेरी पुण्य निधि में वृद्धि नहीं होती है, उसमें जावक (खर्च) ज्यादा होकर आवक (आय) कम होती है जिससे अन्त में अनेक प्रकार की विषय-कषाय-वासना से अपने आपको तथा कुटुम्ब को दुखी करता है। इस प्रकार व्यसन में मुग्ध होकर अगर कोई व्यसन छुड़ाने वाला सद्गुरु मिले तो उससे भी मारपीट के लिए तैयार हो जाता है। व्यसनों से विचार शक्ति नष्ट हो जाती है, तब सद्गुरु का भी उपदेश लागू नहीं होता है। क्योंकि वह मदिरा पीने में मस्त होकर गाड़ी मोटर की सैर, सिनेमा आदि में लगा रहता है। कभी शराब पी कर के कहीं मोटर में बैठ कर मोटर चलाता है तो नशे में गाड़ी की टक्कर किसी दूसरी गाड़ी से या पेड़ से हो जाती है और वहीं अपनी आयु को पूर्ण कर देता है। उसी के साथ पूर्व जन्म के पुण्य से प्राप्त किये हुए दुर्लभ मानव भव को भी उसके साथ संसाप्त करना पड़ता है। इस प्रकार तू अज्ञानपने से अपनी आयु को पशु के समान नष्ट करता है और अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करता है। इसलिए गुरु पर-वस्तु का व्यसन छोड़ने का उपदेश देते हैं।

जब तक इस पर विषय वासना का व्यासंग नहीं छूटेगा तब तक तुझे निजात्म-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। सद्गुरु कहते हैं कि हे आत्मन्! सोच ले

ठीक विचार करले कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, मेरा कर्तव्य क्या है। इस मानव भव को प्राप्त करके मुझे क्या करना है। ठीक विचार करने की बुद्धि इस मनुष्य पर्याय में ही है। परन्तु इस सद्बुद्धि को क्षणिक वस्तु की प्राप्ति के विचार में व्यय करके तू अत्यन्त अज्ञान बुद्धि बना हुआ है। जितनी पर वस्तु तूने प्राप्त की हैं उनके विषय में थोड़ासा विचार कर कि जितना मैंने शरीर संबंधी भी पदार्थ इकट्ठा किया है यह अन्त में मेरा साथ देंगे या नहीं देंगे। देंगे तो कहां तक साथ ? यह अपनी बुद्धि के द्वारा विचार कर।

उदाहरणार्थ—एक युवक को अपने पूर्व उपार्जित पुण्य से अपने अनुकूल परिवार का समागम प्राप्त हुआ था। उसके ऊपर उसका अत्यन्त प्रेम था। परिवार का उसके ऊपर प्रेम था। यदि उस युवक के माथे में दर्द हो जाता है तो सभी आ करके माथे में हाथ लगा कर बैठ जाते हैं अनेक प्रकार की चिन्ता करते हैं, उनके रोने धोने से या चिन्ता से तेरा लाभ नहीं होता। वे कहते हैं कि तेरे माथे में जो दर्द है उसका मुझे दुःख है। समस्त पुत्र,स्त्री, माता, पिता तथा अन्य भाई बहिन तेरा दुःख सुन करके अनेक प्रकार की चिन्ता करते हैं और दुःख मानते हैं। वे सब कहते हैं कि तुम चिन्ता मत करो, तुम चिन्ता करते हो तो हमारे मन में बहुत दुःख होता है, तुमको जब दुःख होता है तो हमको भी दुःख होता है। इस प्रकार बार बार कहते हैं अत्यन्त प्रेम करते हैं। मन में इस प्रकार मानते हैं कि इसे पीड़ा थोड़ी हो जाय। स्त्री माता पिता अनेक प्रकार का विलाप करते हैं क्योंकि उनका प्रेम गाढ़ा है। उतना अन्य का नहीं है। परन्तु वह भी उसको देख करके दुखी होते हैं। इस प्रकार उस युवक का जितना अधिक कुटुम्ब होता है, उतना ही मोह भी बढ़ता है।

आचार्य—कहते हैं—अरे भाई ! तुझे खबर नहीं कि जितना परिवार है वह केवल आश्वासन देने वाला है। परन्तु जिस समय कष्ट आकर उपस्थित होता है तब कोई लेश मात्र भी भागीदार नहीं होता। इस प्रकार संसार का साक्षात् अनुभव है, प्रत्येक व्यक्ति को भी इसका अनुभव है। मोह माया में बंधन के सिवाय, कोई भी संसार से मुक्त करने वाला या आत्म-कल्याण का मार्ग बताने वाला नहीं है। अनेक प्रकार की आधि व्याधि विडम्बना मात्र है, वह।

आठों कर्मों से जकड़ा हुआ यह प्राणी पूर्व जन्म में किये हुए पाप और पुण्य के अनुसार दुःख-सुख भोगता है। जब अनेक प्रकार की बाधा होती है तो उसमें बटवारा करने वाला कोई नहीं होता, अपने को ही भोगनी पड़ती है। इसलिए हे आत्मन् ! इस मोह को हटाने का प्रयास कर और आत्मिक गुणों में प्रेम रख। आत्मिक गुणों में प्रेम रखने से व्याधि दूर भागती है। और अनन्त गुण प्रकट होते हैं। इस प्रकार का विचार विवेक जिस मूढ़ प्राणी के अन्दर नहीं आता है उसको आत्म तत्व का ज्ञान कहां से आ सकता है।

परिवार केवल अपने पोषण के लिए, अपने सुख के लिए ही प्रेम प्रयत्न करता है और इसीलिए सब चिन्तवन करते हैं कि यह मर न जाये, यह जितने दिन जीवे उतने दिन हमें आराम मिलेगा।

वह युवक एक दिन गुरु के दर्शन के लिए जाता है और दर्शन करके जब बैठ जाता है। तो सद्गुरु पूछते हैं—बेटा! बहुत दिनों से तू यहाँ नहीं आया, कहाँ गया था। युवक ने कहा, महाराज! क्या करूँ मेरे माता पिता स्त्री का मुझसे इतना प्रेम है कि वे मुझे बाहर नहीं जाने देते।
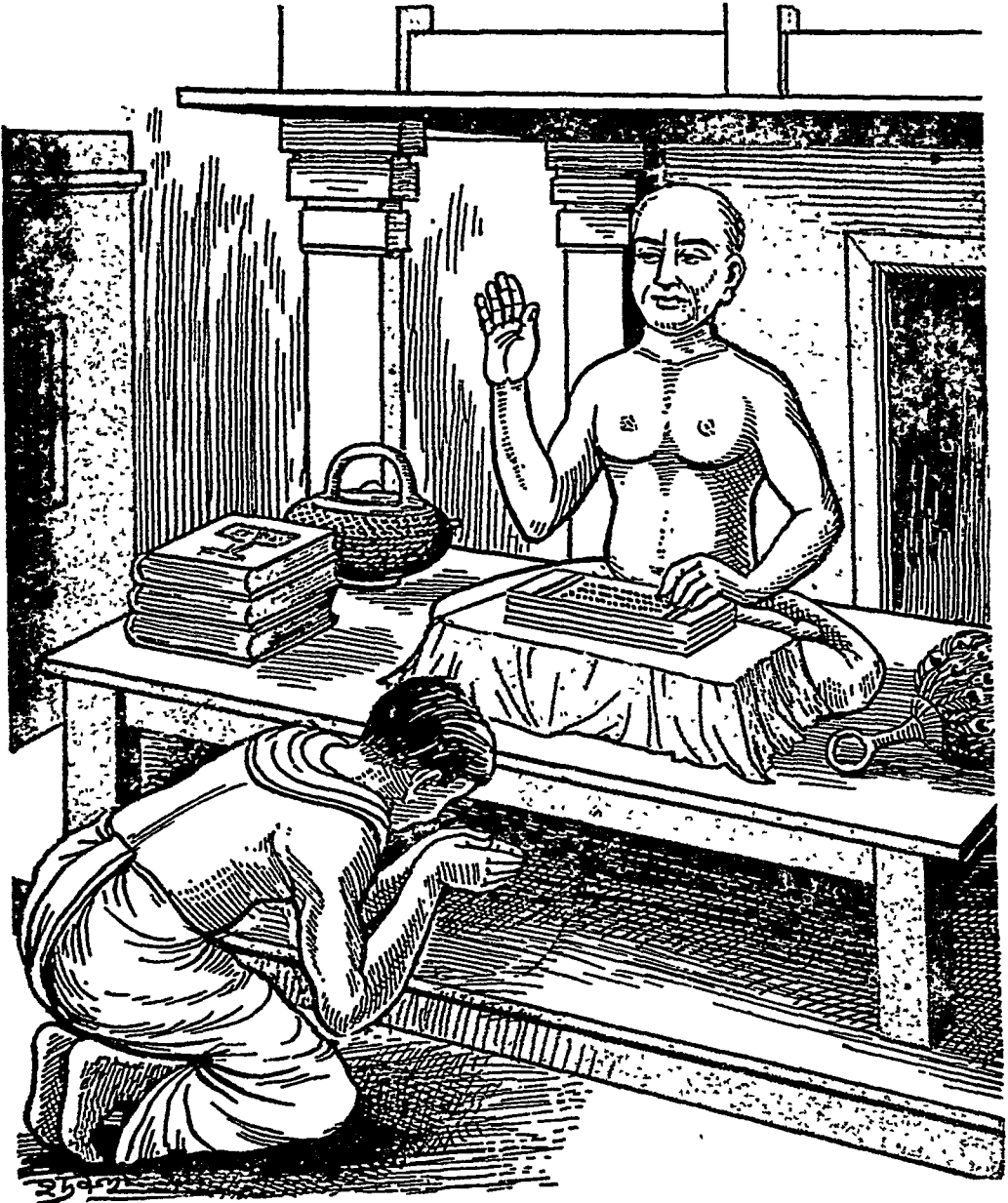
भक्त गुरु का दर्शन करते हुए।

गुरु ने कहा—तू पहले रोज आता था परन्तु अब क्या हो गया ? तब युवक उत्तर देता है कि मेरा पुत्र पत्नी आदि मेरे साथ बहुत प्रेम रखते हैं। थोड़ा भी मैं यदि जाता हूँ तो वे मेरी बहुत चिन्ता करते हैं, कष्ट का अनुभव करते हैं, इसलिए मैं उनके पालन पोषण में आसक्त रहता हूँ। अतः गुरु देव ! मैं आपके पास नहीं आ सका। यह मेरा दुर्भाग्य है।

इस बात को सुन करके गुरु कहने लगे कि अरे ! तुझे जब दुःख होता है तो क्या तेरा परिवार दुखी होता है। अगर असाता कर्म का उदय होने से तुझे पीड़ा हो तो उस दर्द में भी कोई भागीदार हो सकता है, यह भी कभी तूने विचार किया ? उसमें भाग लेने के लिए कोई भी तैयार नहीं होगा। सभी स्वार्थ के कारण दुखी होते हैं। तुम उनका पालन पोषण करना परन्तु धर्म की आराधना न भूलना, यह ख्याल रखो। अष्टमी चौदस को तो मंदिर में अवश्य आया करो। वहाँ गुरुजनों का भाषण सुना करो। मैंने तुझे मंदिर आते नहीं देखा।

युवक ने कहा कि मैं परिवार के राग के कारण आने में असमर्थ हूँ।

गुरु ने कहा—यह तेरी भूल है। यह मोह ममता का प्रताप है।

युवक बोला—महाराज ! मुझे फुर्सत नहीं मिलती।

गुरु ने कहा—परिवार का तू पालन पोषण करता है उससे तुझे क्या लाभ है। जब तेरे ऊपर आपत्ति आवेगी तो उसमें कोई भी साथ न देगा।

तब वह युवक कहता है कि वे मेरे लिए अपने प्राण देने को तैयार हैं, इसलिए मैं उनके मोह को कैसे त्यागूँ। अगर मुझे व्याधि होती है तो वे बहुत चिन्तित होते हैं।

गुरु ने कहा—ठीक है तेरा यह कहना या मानना मोह के कारण है। अगर तुझे उनकी परीक्षा करनी है तो मैं एक उपाय बताता हूँ उससे उनकी परीक्षा करना।

तब गुरु के वचन सुन करके युवक परीक्षा लेने को तैयार हो गया।

गुरु ने कहा—अच्छा, कुछ दिन तुम मेरे पास रोज आया करो मैं प्राणायाम का अभ्यास कराऊँगा। उस युवक ने गुरु जी की बात मान ली और उनके पास प्रतिदिन आता रहा। गुरु ने उसे प्राणायाम का अभ्यास कराया। इस प्रकार करते करते उसके मस्तिष्क में श्वास चार पांच घंटे तक रुकने लगा। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करा करके उसे घर भेज दिया। तथा गुरु ने कहा कि बेटा अब जा करके मेरे प्राणायाम का प्रयोग करो। गुरु के कहे अनुसार वह युवक अपने घर में आ करके दर्द का बहाना करके लेट जाता है। सोते ही सभी कुटुम्बी आकर उसे घेर लेते हैं और पूछते हैं क्या हो गया। किन्तु वह चुपचाप पड़ा रहा

तो वे वहुत चिन्ता करने लगे। अनेक उपचार करने लगे परन्तु वह मृत की भांति पड़ा रहा। वे लोग अनेक प्रकार का शोक करने लगे। इस प्रकार जैसे गुरुदेव ने कहा था, उसी प्रकार किया। तब गुरु ने आकर पूछा—तुम क्यों रोते हो। परिवारी जनों ने कहा—वह बोलता ही नहीं, उपचार भी व्यर्थ गये। तब गुरु ने कहा—भाई! गिलास भर पानी देता हूँ। एक गिलास लाओ। हमारे मंत्र के प्रभाव से वह जीवित हो जायेगा। मंत्र पढ़ कर हम जो पानी देंगे, वह तुम में से कोई पी लेना। जो पीयेगा वह मर जायेगा किन्तु यह जीवित हो जायेगा। तुममें से ऐसा करने को कौन तैयार है? मर जाने के भय से कोई नहीं बोला। क्योंकि सभी की भावना जीवित रहने की है। कोई भी अपने सम्वन्धी के लिए मरने को तैयार नहीं है। तब माता से कहा कि तुम इस गिलास के पानी को पी लो तो तुम्हारा पुत्र जीवित हो जायेगा। वह बोली—क्या करूँ मैं तो मरना चाहती थी परन्तु छोटे बच्चे और भी हैं, उनका पालन पोषण कौन करेगा। फिर युवक की पत्नी से कहा, वह भी मरने को तैयार नहीं हुई। मेरा छोटा सा बच्चा है, वह माता विना कैसे रह सकता है। इसी प्रकार परिवार के सभी जनों ने मरने से इनकार कर दिया। वह युवक पड़ा पड़ा सब सुनता रहा। यह सभी भ्रम है, मैं भूल में इस संसार में भटक रहा हूँ। मैंने मोह का त्याग न करने से आत्म कल्याण नहीं किया। मैंने धर्म का आचरण भी नहीं किया। अब तो मैं गुरु के निकट जा करके उनके चरणों में अपना कल्याण करूँगा। तब गुरु ने कहा—अरे, तुम तो कोई भी पीने को तैयार नहीं, मैं पी लूँ? सब बोले—हाँ, महाराज! आप पी लीजिए। आपके आगे पीछे कोई है भी नहीं। आप बड़े दयालु हैं, बड़े उपकारी हैं। तब गुरु ने पानी पी लिया और युवक से बोले—वेटा! उठ। देख लिया न संसार को? युवक उठकर बैठता है और कहता है कि मैं आज तक इस संसार के मोह में फंस करके आत्म कल्याण स वंचित रहा। इसलिए मुझे संसार में परिवार आदि का जो स्वार्थ अभी तक मालूम नहीं हुआ था वह अब मालूम हो गया। अन्त समय में मेरा कोई भी साथ नहीं देगा। ये आत्मा ही मेरी है, शेष सव मेरे से भिन्न हैं। मुझे आत्म कल्याण के लिए अब चारित्र धारण करना अत्यन्त जरूरी है। यह कह कर एक दम संसार से विरक्त होकर गुरु के साथ चला गया और अपने आत्म कल्याण में लग गया।

इस प्रकार हे भव्य प्राणी! तू अनादिकाल से पर वस्तु के व्यासंग में पड़ कर अपने आत्म कल्याण से वंचित रहा। यदि तू सम्पूर्ण व्यासंग को छोड़ कर अपने आत्म व्यासंग में एक रस होकर अपने को अपने अन्दर ही अन्वेषण करेगा तो तुझे अपने अन्दर ही अपनी प्राप्ति होगी।

आचार्य कहते हैं कि हे जीव! अब तू इस व्यासंग को छोड़ कर अपने आपको देख। तुझे अपने अन्दर ही अखण्ड सुख और शान्ति मिलेगी।

निन्ननें नोडले मुनिपा, निन्नं निन्निदं काण्वे कंडंडे किडुगुं ।
मुन्निन नेरपिद दुरितं, तन्निदं ताने पोकुमेंबुदमोघं ॥८॥

हे योगी ! आपको आप ही देखो । आप में आपका चिन्तवन करो । अपने में अपने को देखने से पूर्व किया हुआ पाप अपने आप ही नष्ट हो जायेगा । और तू निराबाध होकर अपने अखण्ड निजानन्द सुख सागर में हमेशा मग्न होकर सुख शान्ति को पायेगा ।

मुमुक्षु अपने स्वरूप का ध्यान करता हुआ ।
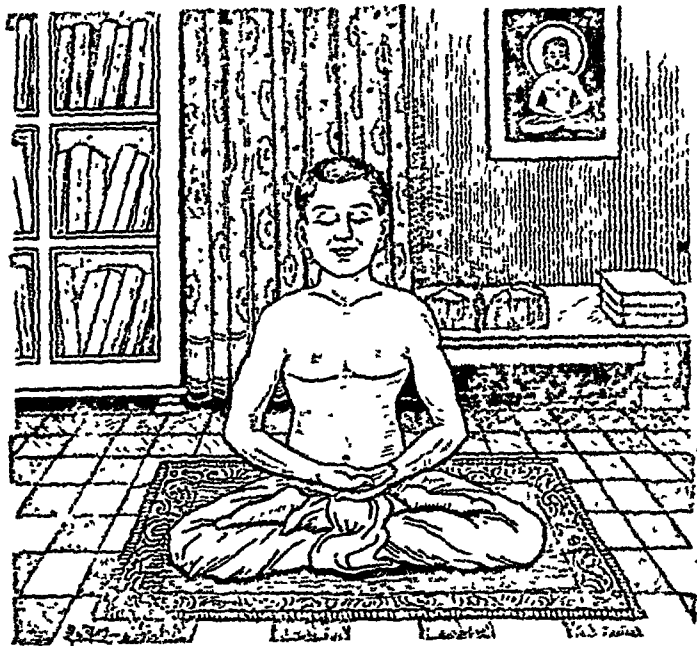
विशेषार्थ— ग्रंथकार ने इस श्लोक में कहा है कि सम्पूर्ण बाह्य परिग्रह को त्याग करके एकान्त में बैठकर आत्म विचार करेगा तो सुख और शान्ति तुझे अपने अन्दर ही प्राप्त हो सकती है । अन्यथा कहीं भी नहीं मिल सकती है । "तुझ आहे तुज पासी परितू जागात चुकलासि" इस कहावत के अनुसार अनादि काल से तू आत्म साधन के लिए कितने प्रयास कर रहा है, कितने बार तूने संयम धारण किया, कितनी बार छोड़ा, कितनी बार तूने कठिन तप किया, महीने दो महीने का उपवास किया और शरीर कृश किया । परन्तु आत्मा के साथ लगे हुए कषाय भाव को कृश करके आत्मा से उसे भिन्न करने के लिए तूने अन्तरंग तप नहीं किया । किसी महिला के नाक में एक नथ थी । उस महिला ने स्नान के समय उसे उतार कर अपने गले में बांध लिया । स्नान करके वह अन्य काम में व्यस्त हो गई, उस को उसका स्मरण नहीं रहा । बाद में गृहस्थी के काम से निवृत्त होकर भोजन आदि करके मुंह धोने लगी तब याद आया कि मेरी नथ मेरी नाक में नहीं है । वह अत्यन्त घबराहट के साथ उसे ढूंढ़ने लगी । अपने सारे घर में देख लिया परन्तु कहीं भी नजर नहीं आई । इस प्रकार दो दिन तक अपना सारा समय गंवाया और खान पान भी छूट गया । एक दिन कोई साधु मन्दिर में आया हुआ था । यह खबर इस महिला को मिली तो वह तुरन्त ही अपनी नथ की बात पूछने के लिए वहाँ पहुँची । वे साधु बैठे थे । जाकर के प्रार्थना करने लगी—महाराज ! मेरी रक्षा करो । साधु ने पूछा—बेटी ! क्या हुआ । महिला ने कहा कि मेरी

नथ खो गई है। वह मुझे मालूम नहीं कि कहाँ गिर गई। मैंने सब जगह ढूंढ़ली पर नहीं मिली। साधु की दृष्टि उसके गले की ओर गई। साधु ने कहा—ठीक है मैं अभी बताता हूं। कहीं से तुम एक दर्पण लाओ। भागी भागी वह दर्पण लाई। तब साधु ने उसके सामने दर्पण कर दिया। और कहने लगे—बेटी! देखो, इसमें कहीं पर दिखाई देती है क्या ? महिला नें देखकर कहा कि हाँ, दिखाई देती है। तब महिला ने दर्पण में हाथ लगाया तो साधु ने कहा कि यह तेरे गले में ही है। तब उसे विचार आया कि मैंने ही यह नथ गले में बाँधी थी। इसी तरह अनादि काल से अपनी चीज अपने पास होते हुए भी तू अन्य स्थान में ढूंढ़ता फिर रहा है। हे योगी! तुम सद्गुरु पर श्रद्धान रखो और उसी स्थान में उसको ढूंढ़ों। तभी वह सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार गुरुदेव ने कहा कि वह चीज उस महिला के पास होते हुए भी वह अन्यत्र ढूंढ़ रही थी। इसलिए हे आत्मन्! तू ही अखण्ड अविनाशी आत्मा है। वह अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता है। यदि तू सम्पूर्ण पर वस्तु को मन वचन काय से दूर हटा कर आप अपने अन्दर प्रवेश कर अपने अन्दर रत होकर उस चीज को देखेगा तो उसे अपने अन्दर ही प्राप्त करेगा। इस तरह गुरुदेव का यह वचन है अगर तू अपने अन्दर सोचेगा तो आप सुखी होगा। इसलिए हे योगी! सम्पूर्ण वाह्य सकल्प विकल्प को त्याग कर शुद्ध परमात्मा बनो।

तत्व के अभ्यास के विना भव समुद्र को पार नहीं कर सकता है :—

कडुगडलिन नडुनीरोळ, तडिसारदे पोपवंगे तेप्पंकों-
दुडे पीडिदिसदे तत्वं, वडदभ्यासिसदे कडेयनन्तयूदुवनो ॥६॥

अत्यन्त गहरे समुद्र के मध्य में पड़ा हुआ जीव समुद्र के किनारे को प्राप्त करने में असमर्थ होता है। अगर उसको समुद्र के बीच में किसी लकड़ी का सहारा मिल जाये तो उसी सहारे से किनारे पहुंच सकता है अगर वह उस सहारे के द्वारा किनारा प्राप्त नहीं करेगा तो वह कभी भी उस महान समुद्र का किनारा प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी तरह भगवान जिनेश्वर द्वारा कहे हुए तत्व का सहारा लिये विना ये सांसारिक प्राणी भोग समुद्र को पार नहीं कर सकता है। अर्थात् किनारे को प्राप्त नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ—ग्रंथकार ने इस श्लोक में बताया है कि जब तक यह भव्य मानव प्राणी भगवान जिनेश्वर द्वारा कहे हुए तत्व का अभ्यास रुचिपूर्वक करके उस पर श्रद्धान नहीं रखता है तब तक यह संसार रूपी समुद्र को पार नहीं कर सकता है।

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं॥

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि आत्मज्ञान प्राप्त भव्य जीवों के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित तथा रागद्वेष रहित चारित्र मोक्ष का मार्ग होता है।

शुद्ध आत्मा के अनुभव को रोकने वाला बंध है जब कि अपने आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष है। मोक्षरूपी नगर अनन्तज्ञान आदि गुणरूपी अमूल्य रत्नों मे भरा है। उसी नगर का मार्ग सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान सहित वीतराग चारित्र है। इस मार्ग पर वे भव्य जीव ही चल सकते हैं जिनको शुद्ध आत्म स्वरूप की प्रगटता की योग्यता है तथा जिनको विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप बुद्धि प्राप्त हो चुकी है। यह मोक्ष मार्ग उन अभव्यों को नहीं मिलता जिनमें शुद्ध आत्मा के स्वभाव की प्रगटता की योग्यता नहीं है तथा उन भव्यों को भी नहीं मिलता जिनमें मिथ्या श्रद्धान सहित राग आदि परिणति रूप विषयानन्दमई स्वसंवेदन रूप कुबुद्धि पाई जाती है। जिनके कषायों का नाश हो जाने पर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाती है उन्हीं के यह पूर्ण मोक्ष मार्ग होता है। जहाँ तक कषाय है और अशुद्ध आत्मा का लाभ है वहाँ तक पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं होता है। यहाँ पर अन्वय व व्यतिरेक से आठ तरह का नियम देख लेना चाहिए। अन्वय व्यतिरेक का स्वरूप कहा जाता है—जिसके होते हुए कार्य संभव हो उसे अन्वय व जिसके न होते हुए कार्य संभव न हो उसे व्यतिरेक कहते हैं। जैसे यहाँ उदाहरण है कि निश्चय व्यवहार रूप मोक्ष कारण के होते हुए भी मोक्ष कार्य होता है यह विधिरूप अन्वय कहा जाता है तथा इस मोक्ष कारण के अभाव होने पर मोक्षरूपी कार्य नहीं होता है यह निषेध रूप व्यतिरेक है। इसी को और भी दृढ़ करते हैं। जैसे जहाँ अग्नि आदि कारण होंगे वहीं उसका धूआँ आदि कार्य हो सकते हैं, जहाँ अग्नि आदि का अभाव होगा वहाँ उसके धूम्र आदि कार्य नहीं होंगे। क्योंकि धूमादि कार्य का अग्नि आदि कारण है इस तरह कार्य और कारण का नियम है यह अभिप्राय है।

यहाँ यह बताया गया है कि मोक्ष का मार्ग समझाते हुए आठ बातों का नियम जान लेना योग्य है—(१) सम्यक्त्व सहित ज्ञान होना आवश्यक है (२) चारित्र होना चाहिए जो आत्म स्वभाव में मग्नता रूप है (३) वह चारित्र रागद्वेष रहित वीतराग होना उचित है (४) ऐसा मार्ग शुद्ध आत्मा के लाभ रूप मोक्ष का ही है, किसी प्रकार बंध अवस्था का यह मार्ग नहीं है (५) वास्तव में यही मार्ग है, यह कभी अमार्ग नहीं हो सकता (६) ऐसा मार्ग भव्यों के ही होता है, अभव्यों को यह मार्ग कभी प्राप्त नहीं होता (७) तथा उन्हीं को होता है जिनके आत्मज्ञान हो चुका है (८) इस मार्ग की पूर्णता कषाय रहित पूर्ण वीतरागी जीवों के ही होती है।

जब तक कोई भव्य जीव रुचिवान होकर आत्मा और अनात्मा का भेद भले प्रकार न समझ लेगा, और भेदज्ञान के अभ्यास से स्वानुभव को प्राप्त न कर

लेगा तब तक उसे मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता है। जब स्वानुभव होता है तब ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रगटता होती है तथा ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव भी जब तक कषायों के नाश का उद्यम न करेगा और वीतरागी न होगा तब तक वह मोक्ष मार्ग की ऐसी पूर्णता नहीं पा सकता जिससे आत्मा के स्वभाव की प्रगटता-रूप केवल ज्ञानरूपी भाव मोक्ष का लाभ हो सके। अतएव जो मोक्ष की प्राप्ति करना चाहें उनके लिए यह उचित है कि तत्वों की रुचि पैदा करें और आध्यात्मिक ज्ञान में रमण करने के अभ्यासी बनें। जिनको जल से भिन्न दूध दिखता है वे ही इस दूध को पी जल छोड़ देते हैं। इसी तरह जिनको पुद्गल से भिन्न आत्मा का अनुभव होता है वे ही पुद्गल का मोह त्याग आत्मा के स्वभाव में आसक्त हो जाते हैं।

वीतराग भगवान् के आत्मतत्व पर श्रद्धान—

वीतरागो हि सर्वज्ञो मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शकम् ॥

वीतराग ही सर्वज्ञ होते हैं। वे कहीं पर भी किसी भी अवस्था में मिथ्या-भाषण नहीं करते हैं इसलिए उनके वचन ही तथ्यपूर्ण और भूतार्थ-प्रतिपादक होते हैं।

शंका—जिनवाणी में क्या शंका गृहस्थों के ही होती है अथवा संयमीजनों के भी होती है ?

उत्तर—शंका दोनों के होती है, कारण कि शंका का कारण मोहनीय कर्म के उदय की प्रबलता है। यह कर्म दोनों के संभवित है।

जो दीक्षा ग्रहण करने का अभिलाषी है उसके शंका होती है। इस विषय में जो विचारणीय बात है वह सूत्रकार कहते है "सड्ढिस्स" इत्यादि।

वीतराग वचनों में विश्वास का होना श्रद्धा है। इस श्रद्धाविशिष्ट व्यक्ति का नाम श्रद्धी है। मोक्षमार्ग में विचरण करने वाले मुनियों के द्वारा संयम के योग्य बनाये गये–संयम धारण करने की ओर प्रवृत्त किये जाने का नाम समनुज्ञ है। संयम को धारण जिसने कर लिया है अर्थात् वैराग्य पूर्वक भगवती दीक्षा जिसने स्वीकृत कर ली है वह संप्रव्रजत् है। ऐसे व्यक्ति को यदि कदाचित् जीवादिक तत्वों के स्वरूप में संदेह हो जाता है तो वह इस अटल श्रद्धा पर कि "जिनेन्द्रदेव ने जो कुछ कहा है वही सत्य निःशंक तत्व है" अपनी संदेहशील प्रवृत्ति का उन्मूलन कर देता है। इससे वह उत्तरकाल में सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। अथवा जीवादिक तत्वों में संदेहशील होने पर मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में वह सम्यक्त्व

लाभ से वंचित हो जाता है। यदि उत्तरकाल में सम्यक्त्व प्राप्ति की अधिकता उसे न हो तो सम्यक्त्व का लाभ जितने रूप में उसे पूर्व अवस्था में हुआ है उसी रूप में बना रहता है, अथवा उसकी अपेक्षा न्यून भी हो जाता है।

भावार्थ—आत्मा उपशम सम्यक्त्व को पा कर अन्तर्मूहुर्त काल के बाद नियम से या तो सम्यक्त्व के अभाव से मिथ्यात्वदशा में हो जायगा या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला हो जावेगा। क्षायोपशमिक से वृद्धि करके वही आगे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। इस प्रकार की विचित्र आत्मपरिणति से जिन वचन में शंका रहित हो कर प्रवृत्तिशील प्राणी को उस समय "जिनोक्त तत्व ही सत्य है" इस प्रकार के विश्वास से सम्यक्त्व का लाभ होता है। कारण कि सम्यक्त्व को नहीं होने देने वाले जो शंकादिक दोष हैं वे उस समय उस आत्मा से पृथक् हो जाते हैं "सम्यगिति मन्यमानस्यैकदा असम्यग् भवति" जिनप्रवचन में श्रद्धासम्पन्न उसी मानव का ज्ञान जो पहिले सम्यक्त्व रूप में था उत्तरकाल में परतीर्थिक शास्त्रों के परिशीलन से अथवा छद्मस्थजनों ने जिन ग्रन्थों में एकान्त रूप से निश्चयनय का वर्णन किया है उन ग्रन्थों के अवलोकन से मति में व्यामोह उत्पन्न हो जाने के कारण हेत्वाभास एवं दृष्टान्ताभासों को भी सच्चे हेतु और सच्चे दृष्टान्त रूप मान लेता है। जिससे वह मिथ्यात्व से युक्त हो जाने के कारण सम्यक्त्व से वंचित अन्तःकरणवाला हो जाता है क्योंकि इसके हृदय में विपरीत श्रद्धा का निवास होता है।

इस कारण वह स्याद्वाद सिद्धान्त के रहस्य को भूल जाने से फिर जिनोक्त सम्यक् तत्वों को भी असम्यक् रूप से मानने लग जाता है, अनेकान्तवाद का फिर तो वह खंडन करने लग जाता है, अचानक ही कह उठता है कि यह तत्व असत्य है। यह तो एक विलक्षण ही सिद्धान्त है यह कैसे संभव है? सत् असत्, नित्य अनित्य आदि अनेक परस्पर विरोधी धर्मों को जो तू एक ही जगह स्वीकार करता है, भला! यह भी कोई बात है। जो सत् होगा, वह असत् नहीं होगा और जो असत् होगा वह सत् नहीं होगा। इसी प्रकार जो वस्तु नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकती है और जो अनित्य होगी वह नित्य कैसे हो सकती है? यदि परस्पर विरुद्ध धर्मों का भी एकत्र अवस्थान माना जायगा तो फिर जगत में विरोध नामक कोई वस्तु ही नहीं रहेगी, समस्त वस्तुओं में परस्पर संकरता ही हो जायगी, परन्तु ऐसा तो है नहीं, अतः अनेकान्तवाद सिद्धान्त युक्तियुक्त सिद्धान्त नहीं है तथा ऐसा कोई हेतु या दृष्टान्त भी नहीं है कि जिसके बल पर एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता साधी जा सके। "असम्यगिति मन्यमानस्यैकदा सम्यग् भवति" मिथ्यात्व अनुबन्ध जिसकी आत्मा में लगा हुआ है ऐसा मनुष्य वीतरागप्रतिपादित तत्व को पहिले असम्यक् समझता

है, मिथ्यात्व के आवेश में वह विचारता है कि जैन सिद्धान्त में शब्द को जो पुद्गल की पर्याय माना गया है वह ठीक नहीं है, इसी प्रकार आत्मा को व्यापक न मानकर उसे जो स्वदेह प्रमाण माना है सो यह भी मान्यता उचित नहीं इत्यादि रूप से वह मिथ्यादृष्टि वीतराग प्रतिपादित तत्व में असम्यक्पना देखता है।

इस प्रकार उसकी मान्यता का कारण प्रबल मिथ्यात्व का उदय है। इसकी प्रवलता में वह और भी अनेक अनर्थक मान्यताओं की कल्पना को सम्यक् माना करता है, जगत् को ईश्वरकर्तृक मानने का भी यही कारण है। इस प्रकार उसके मिथ्यात्व की वासना से प्रभुकथित मार्ग उल्टा अयथार्थ प्रतिभासित होता है। परन्तु जव उसकी निष्पक्ष आचार्यादिक के सम्यग् उपदेश से अथवा परिणाम की विचित्रता से मिथ्यात्व के उपशम से आँखें खुलती हैं, तत्व का वास्तविक भान-निश्चय उसे होता है तो उसकी पूर्व मान्यता में सहसा परिवर्तन हो जाता है, संशय दूर होते ही फिर उसे यही निश्चय होता है कि जो वीतराग ने तत्वों का स्वरूप प्रतिपादन किया है वही वास्तविक है। शब्द आकाश का गुण न होकर पुद्गल की ही एक पर्याय है, यदि वह पौद्गलिक न होता तो उसके द्वारा कर्णइन्द्रिय का उपघात देखने में न आता। शब्द द्वारा कान पर आघात आकाश के अमूर्तिक होने पर उसके गुण को भी अमूर्तिक होने से कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार अनुग्रह भी जो शब्द से उसका होता है वह भी नहीं हो सकता। भला अमूर्तिक आकाश से भी कहीं अनुग्रह और उपघात होते हैं। अतः अनुग्रह और उपघातकारक होने से शब्द मूर्तिक ही है। इस प्रकार से वह युक्तिवाद के वल पर अपने पूर्व बाधक तर्क का अपनयन कर (छोड़) देता है, इसलिये उसका वही ज्ञान सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

"असम्यगिति मन्यमानस्यैकदा असम्यक् भवति" मिथ्यात्व की वासना से जिसका अन्तःकरण वासित हो जाता है तथा जिनेन्द्र प्रतिपादित सिद्धान्त जिसने परिशीलन भी नहीं किया है ऐसे मनुष्य के चित्त में "स्याद्वादतत्व सुन्दर नहीं है" इस प्रकार का असम्यक् भाव उद्भूत होता है। उस कारण से वह स्याद्वाद-सिद्धान्त-प्रतिपादित कथन को असम्यक् मानता है और कहता है कि जो जिनशास्त्र में यह लिखा है कि "एक पुद्गल का परमाणु एक समय में १४ राजू प्रमाण गमन करता है सो यह वात समझ में नहीं आती है, कारण कि एक समय में ही सप्तम नरक से उठ कर लोक के अन्त तक वह कैसे जा सकता है"। इस प्रकार की मान्यता का निषेध करता है। निषेध में वह यह युक्ति देता है कि एक ही समय में जब परमाणु चौदह राजू गमन करता है तो उसका लोक के आदि और अंत के प्रदेश के साथ युगपत् संबंध होने पर परमाणु में भी चौदहराजू-

प्रमाणता आ जायगी। अन्यथा युगपत् आदि अंत के प्रदेश के साथ उसका संबंध नहीं हो सकता है, तथा उसका युगपत् संबंध मानने पर लोक के आदि अंत प्रदेशों की भी एकता हो जावेगी ? ऐसा कहने वाले अज्ञानी वीतरागोपदिष्ट आगम के ज्ञाता न होने से इस बात को नहीं समझते हैं कि स्वाभाविक परिणाम से एक परमाणु शीघ्र गतिवाला होने से एक समय में असंख्यात प्रदेशों का उल्लंघन कर जाता है।

"सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यक् वा असम्यक् वा सम्यक् भवति उत्प्रेक्षया" उपादेय वस्तु को उपादेय रूप से और हेय वस्तु को हेयरूप से मानने वाले तथा ज्ञात विषय को निःशंक रूप से मानने और जानने वाले सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यक् होता है।" सर्वज्ञ के द्वारा कथित विषय सम्यक् और असर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित विषय असम्यक् है" इस प्रकार इन दोनों बातों का सम्यकनय की अपेक्षा से विचार करने वाले सम्यग्दृष्टि मनुष्य का ज्ञान सच्चा ही माना गया है। 'असम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा सम्यग्भवति उत्प्रेक्षया' स्याद्वादनय की अपेक्षा से ही जीव और अजीवादि तत्वों का स्वरूप कहा गया है, इसलिये उस स्वरूप विशिष्ट वे जीवादिक तत्व सम्यक् ही हैं, परन्तु छद्मस्थों की दृष्टि में यह नया विचार ठीक ठीक समझ में नहीं आ सकने के कारण और ऊपरी रूप से ही वस्तु को जानने के कारण से उनका ज्ञान अधूरा रहता है। अतः वे वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ बन एकान्त-मत-प्रतिपादित वस्तु के अयथार्थ स्वरूप को यथार्थ सम्यक् और यथार्थ स्वरूप को असम्यक् मान बैठते हैं। इसलिये यथार्थ स्वरूप जानने वालों की दृष्टि में यह उनकी मान्यता अयथार्थरूप ही है, क्योंकि जैसी प्रतीति होती है वैसा ही ज्ञान इन्हें होता है। असम्यक् प्रतीति का कारण असम्यक् पर्यालोचना या अपरिशुद्ध अध्यवसाय है। इसका भी कारण निशंकरूप से भान का अभाव है। इसलिये जिस रूप से संशयादिक इन्हें वस्तु के विषय में उत्पन्न होते हैं उसी रूप से वहां फलित भी होते हैं।

इस प्रकार वास्तविक वस्तु तत्व में यथार्थ अयथार्थपने का कारण समझ कर जो इस विषय का विचार करने में चतुर हैं वे पर को इस विषय की दृढ़ता संपादनार्थ समझाते हैं कि हे भव्य ! "उत्प्रेक्षमाणोऽनुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयादुप्रेक्षस्व सम्यक्तया" मैंने इस पदार्थ की अच्छी तरह से पर्यालोचना कर ली है जिनशासन में जिस तत्व का वर्णन जिस रूप से किया गया है वह असंदिग्ध है, उसमें सन्देह के लिये थोड़ा सा भी स्थान नहीं है। इतने तत्व हेय है. इतने उपादेय हैं, इतने ज्ञेय हैं। वीतराग प्रतिपादित वस्तुस्वरूप ही यथार्थ है, अन्य छद्मस्थ कथित नहीं। इस प्रकार जिनशासन से परिकर्मित बुद्धि होने से हेय और उपादेय पदार्थों की अवगति पूर्वक उनमें सम्यक् असम्यक्पने की समालोचना करने वाला विद्वान्

मुनिजन, लोकानुगमनशील एवं सम्यक् असम्यक् की आलोचना से रहित ऐसे संशयित मतिवाले जनों के प्रति संबोधनार्थ कहते हैं कि हे भव्य। कम से कम तू आँखों को मींचकर अपने चित्त में पक्षपात से रहित होकर इतना तो विचार कर कि जिस प्रकार से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन जिन भगवान् ने किया है वह ठीक है या पर तीर्थिकजनों ने जिस वस्तु तत्व का प्रतिपादन किया है वह ठीक है।

अथवा—जो संयम के परिपालन करने में पूर्ण उद्योगशील हैं वे उसमे अनुत्साहित हुए अथवा संदेहशील हुए मनुष्य को समझावें कि हे भव्य ! तू इस संयम के परिपालन के निमित्त पूर्ण प्रयत्नशील रह। क्योंकि इस संयम की आराधना में ही ज्ञानावरण आदिक द्रव्य-भावकर्मो की परंपरा के नाश करने की शक्ति रही हुई है। इस प्रकार प्रयत्नशील व्यक्ति के लाभ को प्रकट करने के लिये सूत्रकार "तस्योत्थितस्य गतिं समनुपश्यत" कहते हैं। ऐसे श्रद्धासम्पन्न एवं भगवती दीक्षा ग्रहण करने के लिये उद्यमशील मनुष्य को यह एक बड़ा भारी लाभ होता है कि जब वह शंका रहित होकर आचार्य के निकट बसता या उनकी आज्ञा में रहता हुआ संयम की आराधना करने में तल्लीन होता है तब उसे सम्यक्त्व के परिज्ञान पूर्वक रत्नत्रय की आराधना से मुक्ति का लाभ होता है। इस प्रकार शिष्यों को सम्बोधन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि देखो श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति सर्वजन की प्रशंसा का पात्र बन कर, ज्ञान और दर्शन में दृढ़ता की प्राप्ति से चारित्र मे निश्चलता धारण करता हुआ रत्नत्रय की आराधना से मोक्ष का पात्र बन जाता है। जो संयम में उद्योगशाली है, एवं उस उद्योग में जो निरन्तर जागृतिसम्पन्न हैं ऐसे मनुष्य को मुक्ति का लाभ या मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत रत्नत्रय की आराधना की प्राप्ति होती है। किन्तु जो संयम के प्रति उदासीन हैं, उनकी लोक में निंदा होती है और परलोक में उन्हें नरकनिगोदादिक की गति प्राप्त होती है। इस प्रकार विचार कर हे शिष्यो ! तुम संयम तप में सदा प्रयत्नशील रहो। इस कथन से प्रकृत में यह बात सिद्ध होती है कि जो संयम में समीचीन उद्योग से रिक्त हैं उनकी अधम गति होती है। और जो उसमें उद्योग वाले हैं उनकी उर्ध्वगति-उत्तम गति होती है। इसलिये "अत्रापि बालभावे आत्मानं नोपदर्शयेत्" इस संयम के अनुद्योगरूप वाले भाव में कि जिसमें संयम के अनाचरणजन्य नरक निगोदादिक गतियों के कटुक फल का भान नहीं होता है, कुमार्ग प्रवृत्त लोगों के द्वारा सेवित ऐसे आचरण में सर्व कल्याण के पात्रस्वरूप अपनी आत्मा को संलग्न न करो, उस आचार में अपनी आत्मा का पतन न करो। सारांश इसका यह है कि जैसे कोई अन्यमती "आकाश की तरह नित्य और अमूर्त होने से जीव का घात नहीं होता है" इस प्रकार मानते हैं और बाल भाव का आचरण करते हैं, उस प्रकार साधु को नहीं करना चाहिये।

आत्मा का हनन नहीं होता है ऐसा समझकर जो प्राणियों के हिंसादिक कार्य में प्रवृत्त हैं उन पुरुषों की उस कार्य से निवृत्ति कराने के लिये तथा हन्यमान

और हन्ता में एकता है इस बात को प्रकट करने के लिये सूत्रकार कहते हैं "तुमंसि" इत्यादि।

सूत्रकार दूसरों का घात करने वालों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि तुम जिनको मारने योग्य-दण्ड-चाबुक शस्त्र आदिकों से यह मारने लायक है, ऐसा समझते हो वही तुम हो, क्योंकि उसमें और तुममें कोई अन्तर नहीं है। शास्त्र-कारों ने जीव का लक्षण चेतना बतलाया है। ऐसा कोई सा भी जीव नहीं है कि जिसमें यह लक्षण न पाया जाता हो। अतः इस जीव के सामान्य लक्षण से युक्त होने से समस्त जीव लक्षण की अपेक्षा से एक हैं।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा अमूर्त है। जो अमूर्त होता है उसका आकाश की तरह हनन-विनाश-घात नहीं हो सकता है, घात मूर्त शरीर का ही होता है। परन्तु फिर भी जो हिंसा मानी जाती है उसका कारण यह है कि हिंसक द्वारा जीव को उसके आश्रयभूत शरीर से वियुक्त कर दिया जाता है। इस क्रिया का नाम हिंसा है। क्योंकि जीव का आश्रयभूत होने से यह शरीर उसे अत्यन्त प्रिय था, हिंसक ने उसे अपने हिंसा रूप कर्म द्वारा विनष्ट कर दिया। हिंसा का लक्षण भी यही किया है।

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा॥

अर्थ—पांच इन्द्रिय, तीन बल, उच्छ्वास निश्वास और आयु इन दश प्राणों का वियोग करना हिंसा है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा सर्वथा अमूर्त भी नहीं है, क्योंकि कर्मबन्ध की अपेक्षा वह कथंचित् मूर्त माना गया है। सर्वथा अमूर्त मानने पर ही गगनादिक की तरह उसमें हननादि रूप विकार नहीं हो सकता है। परन्तु ऐसी मान्यता एकान्त रूप से जैन धर्म की नहीं है। जब वह शरीर में अधिष्ठित प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होता है तो फिर उसके विघात होने पर उसका भी विघात माना जाता है। इसी प्रकार आत्मोपमता सर्वत्र वक्ष्यमाण पदों के अर्थ के साथ भी समन्वित कर लेनी चाहिये, यही बात "त्वमसि नाम स एव यमाजापयितव्यमिति मन्यसे" इत्यादि पदों में प्रकट की गई है—तुम जिस दुष्कर एवं अनभिमत कार्य में अन्य जीवों को "ये यहाँ नियुक्त करने योग्य हैं ऐसा समझकर नियुक्त करते हो सो ऐसा व्यवहार तुम्हारा उन जीवों के साथ नहीं है, किन्तु यह व्यवहार तुम स्वयं अपने ही साथ करते हो ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि उनमें और तुममें जीव के सामान्य लक्षण की अपेक्षा कोई अंतर नहीं है। इसी प्रकार जिन जीवों को तुम शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा पहुंचाने योग्य मानकर उन्हें उस तरह की पीड़ा पहुंचाते हो प्राणों से उन्हें वियुक्त करते हो, परिग्रहण योग्य मानकर तुम जिन

जीवों का दास-दासी आदि रूप में परिग्रह करते हो, यह सब व्यवहार तुम्हारा उन जीवों के साथ उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार अपनी हिंसा करने वाले को जानकर तुम्हें कष्ट का अनुभव होता है, अपने को परिताप पहुंचाने योग्य जानने वाले व्यक्ति को देखकर जैसे तुम्हें तिरस्कार जाग्रत होता है और जैसे अपने को प्राणों से वियुक्त करने योग्य मानने वालों के ऊपर तुम्हें क्रोध होता है, उसी प्रकार यदि तुम भी इस प्रकार का व्यवहार दूसरो के प्रति करते हो तो तुम्हारा यह व्यवहार आत्मोपमता से तुम्हें स्वयं दुःखप्रद होगा। कारण कि हिंसनीय, आज्ञापनीय, परितापनीय, परिग्रहणीय और अपद्रावणीय तुम स्वयं हो जाते हो। अतः अन्य को उस व्यवहार के योग्य मानने से ही स्वयं अपने को उस व्यवहार के योग्य मानना है। ये पूर्वोक्त समस्त वाक्य हिंसा के प्रकारों के ही प्रतिपादक हैं ऐसा समझना चाहिये। अतः आत्मज्ञानी मुनि का कर्तव्य है कि वह कभी भी किसी भी जीव के हिंसादि कार्यों में प्रवृत्ति न करे। इसी आशय से सूत्रकार ने "स एव त्वमसि" इस वाक्य से सर्वत्र हन्यमान हन्ता आदि में एकता का कथन किया है। जिस प्रकार अनिष्ट की प्राप्ति में तुम्हें दुःख होता है उसी प्रकार अन्य के साथ करते हुए यह अनिष्ट व्यवहार इन्हें भी दुःखप्रद होता है इस प्रकार मोक्षाभिलाषी मुनि को सदा विचार करते रहना चाहिये, यही सूत्रकार का आशय है। "त्वमसि नाम स एव यं हन्तव्यमिति मन्यसे" यह सूत्रांश मृषा-वाद आदि का उपलक्षक है। हन्ता और हन्यमान में जो एकता का कथन किया है उसका यह अभिप्राय है—जो एकत्वप्रतिवुद्ध जीवी है—हन्ता और हन्यमान में एकता के प्रतिबोध से ही जिसका जीने का स्वभाव है, अर्थात् दूसरों के घातादिक व्यापार से निवृत्त जिसका जीवन है ऐसा ऋजु जीव अपने तुल्य समस्त जीवों को मानकर उनके दुःख का दर्शी होता है। इससे उसे इस बात का बोध होता रहता है कि जिस प्रकार मेरी हिंसा होने पर मुझे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणी को भी हिसा होते समय दुःख होता है। इसलिए स्वात्मोपमता के ध्यान से परप्राणी के प्राणों का विराधक कभी भी मुनिजन को नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार वह स्वयं हिंसा से विरक्त होता है, उसी प्रकार उसमें वह अन्यजन को भी निवृत्त कराता है। "अपि" शब्द से हिंसा में प्रवृत्त अन्यजन की वह अनुमोदना भी नहीं करता है यह बोध होता है। "अनुसंवेदनमात्मना यद् हन्तव्यं प्रार्थयेत्" अनु शब्द का अर्थ पश्चात् और संवेदन शब्द का अर्थ अनुभावन है। मोहनीय कर्म के उदय से जो हननादिक व्यापारों द्वारा अन्य जीवों को दुःख पहुंचाया जाता है, वह दुःख पश्चात् पीछे मारने वालों के द्वारा भोगने योग्य होता है, ऐसा विचार कर-निश्चय करे यह हन्तव्य है इस प्रकार की परिणति से कभी भी किसी भी जीव को मारने योग्य नहीं समझना चाहिये। जब मन से भी इस प्रकार की घात करने रूप परिणति के चिन्तन तक का विचार मुनिजन या

सामान्य जन के लिये निषिद्ध है तो काय और वचन से तो इस प्रकार की परिणति का निषेध स्वतः ही हो जाता है। मुनिजन के लिये सर्वथा मन, वचन और काय से पर जीवों की हिंसा आदि का सर्वथा त्याग करना चाहिये यही इसका भावार्थ है।

आत्मा को दूसरे जीवों की हिंसा आदि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि हिंसाजन्य पाप कर्म का फल उसे भोगना पड़ता है ऐसा निश्चय कर वह सर्वथा हिंसा आदि का त्याग करे।

नित्य और उपयोग लक्षण वाला जीव ही आत्मा है और वही विज्ञान क्रिया का कर्त्ता है। इस आत्मा से पदार्थों का बोधक ज्ञानगुण सर्वथा भिन्न नहीं है। इसी प्रकार जो पदार्थ परिच्छेदक उपयोग है वही आत्मा है, क्योंकि आत्मा स्वयं उपयोग लक्षण वाला है। यह उपयोग ही ज्ञान स्वरूप है। इसलिये ज्ञान और आत्मा में अभेद है।

भावार्थ—आत्मा और ज्ञानगुण में परस्पर में सवथा भेद नहीं है, क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, और यह उपयोग स्वरूप से परिणत हो आत्मा है। उपयोग दो प्रकार का है—१ज्ञानोपयोग, और दूसरा दर्शनोपयोग। दर्शनोपयोग में पदार्थ का सामान्य प्रतिभास होता है, ज्ञानोपयोग में पदार्थ का भिन्न २ रूप से विशेष बोध होता है। ऐसा कोई सा भी क्षण नहीं है जब आत्मा अपने इस स्वभाव से रहित हो तथा यह स्वभाव आत्मा को छोड़ कर निराधार कहीं प्रतीत होता हो। आत्मा ही तत्तदुपयोग स्वरूप परिणमित होता रहता है। इससे यह बात प्रतीत होती है कि आत्मा से ज्ञानगुण और ज्ञानगुण से आत्मा स्वतन्त्र-भिन्न नहीं है।

शंका—ज्ञान और आत्मा का अभेद मानने पर अपसिद्धान्त नामक निग्रह स्थान आता है, क्योंकि यह मान्यता जैन सिद्धान्त की मान्यता को पुष्ट न कर उल्टी सौगत (वौद्ध) मान्यता का ही समर्थन करती है। यह ज्ञान और आत्मा का अभेदवाद वौद्धों का है न कि जैनियों का।

उत्तर—जिस प्रकार "नीलो घटः" "नीलो घटः" इस वाक्य में नील और घट इन दोनों की एकत्र स्थिति होने पर भी इन दोनों में एकता नहीं मानी जाती है, किन्तु अभेद ही माना जाता है। अन्यथा दोनों में एकता मानने पर नील गुण के नाश होने पर घट के नाश का भी प्रसंग होगा उसी प्रकार प्रकृत में ज्ञान और आत्मा में भी एकता नहीं है किन्तु अभेद ही है, इस प्रकार पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

भावार्थ—शंकाकार ने जो ज्ञान और आत्मा के अभेद में वौद्धवाद का समर्थन करना प्रकट किया है उसका यहां पर प्रत्युत्तर दिया गया है—एकता और

अभेद में अन्तर है। बौद्ध सिद्धान्त आत्मा और ज्ञान में अभेद नहीं मानता है किन्तु वह दोनों में एकता मानता है। इससे ज्ञान की अथवा आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है, किन्तु दोनों में एकता ही सिद्ध होती है। इस एकता में या तो आत्मा ही का अस्तित्व सिद्ध होता है या ज्ञान का। दोनों का नहीं। अभेद पक्ष में ऐसा नहीं है। वहां पर "नीलो घटः" की तरह अभेद होने पर भी दोनों की सत्ता का विलोप नहीं होता है। गुण और गुणी में एकता मानने पर गुण गुणी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं बनता है। गुण गुणीरूप और गुणी गुणरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। परन्तु अभेद पक्ष में यह बात नहीं आती, दोनों की स्वतन्त्र स्वरूप से सत्ता रहती है। इस पक्ष में इतना होता है कि गुण गुणी को छोड़कर और गुणी गुण को छोड़ कर परस्पर निरपेक्ष रूप में नहीं रहते हैं, किन्तु परस्पर सापेक्ष रूप में ही इनकी वृत्ति बनी रहती है। नील और घट इन दोनों में परस्पर में एकता नहीं है किन्तु अभेद सम्बन्ध ही है। ऐसा नहीं है कि नील स्वरूप घट और घट स्वरूप नील है। किन्तु घट को छोड़कर नील की और नील को छोड़कर घट की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यदि इन दोनों की एकता मानी जावे तो नील के नाश होने पर घट का नाश होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है।

शंका—नील के नाश होने पर नीलात्मना घट का भी तो नाश हो जाता है—इसलिये दृष्टांत की असिद्धि है।

भावार्थ—यह जो अभी कहा गया है कि नील और घट की एकता मानने पर नील स्वरूप के नष्ट होने पर घट का भी नाश होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता अतः दोनों में एकता न मानकर अभेद ही मानना चाहिये—इस पर प्रतिवादी का यह आक्षेप है कि नील के नाश होने पर नील स्वरूप से घट का भी नाश हो जाता है इसलिये यह दृष्टान्त सिद्ध नहीं है, किन्तु असिद्ध ही है। दृष्टान्त वादी और प्रतिवादी दोनों को सिद्ध हुआ करता है, इसीलिये दृष्टान्त के बल से वादी अपने साध्य की सिद्धि करता है। असिद्ध दृष्टान्त से नही।

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि दृष्टान्त सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं है। हम अनेकान्तवादी जैन स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार प्रत्येक पदार्थ को अनन्त धर्मात्मक मानते हैं। इसलिये किसी एक विवक्षित धर्म का विनाश होने पर भी उसमें अन्य धर्मो का सद्‌भाव होने से विवक्षित रूप के नष्ट होने पर भी वह सर्वथा नष्ट हो गया ऐसी मान्यता घटित नहीं हो सकती है। अतः दृष्टान्त सिद्ध ही है असिद्ध नहीं है। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक (आत्मा और ज्ञान) में भी ज्ञान विशेष विवक्षित घट आदि ज्ञान) के नाश-परिवर्तन होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है, क्योंकि आत्मा में अन्य अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशित्व और

अगुरुलघुत्व आदि अनेक धर्मों का अस्तित्व रहता है। इसलिये विवक्षित धर्म के अभाव में आत्मा नष्ट हो गई ऐसा व्यवहार वहाँ संभवित नहीं हो सकता। अतः इस कथन में कोई भी विरोध नहीं है। अधिक क्या कहा जाय। ज्ञान और आत्मा का अभेद कह कर करण भूत ज्ञान के साथ भी आत्मा का अभेद है इस बात को प्रतिपादन करने के निमित्त सूत्रकार कहते है "येन विजानाति स आत्मा" कि जिस मति आदि करणभूत अथवा क्रिया रूप ज्ञान से वह आत्मा ही परिणत हुआ है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव परिणमन शील है, कूटस्थ नित्य नहीं। अतः आत्मा ही उस करणज्ञान अथवा जानने रूप क्रिया से परिणत हुआ है। "स्व-आत्मानं आत्मना जानाति"-आत्मा आत्मा को आत्मा से जानता है। इस वाक्य प्रयोग में एक आत्मा ही, कथंचित् भेद दृष्टि की अपेक्षा से कर्त्ता, कर्म, क्रिया और करणरूप से परिणत होता है। आत्मा कर्ता, आत्मानं कर्म, आत्मना करण और जानाति यह क्रिया है। यहां आत्मा ही एक पदार्थ कथंचित् भेद की अपेक्षा से नानाकारक रूप में परिणत होता हुआ प्रकट किया गया है। ऐसा होने पर भी आत्मा रूप पदार्थ में अनेकता-परस्पर में कर्ता कर्म आदि में भिन्नता सिद्ध नहीं होती है।

मुनिस्तपसा कर्म धुनोति "इस वाक्य में कर्ता, कर्म, करण और क्रिया में परस्पर भिन्नता साधारण से साधारण प्राणी तक को भी प्रतीत होती है। फिर आप कर्ता, कर्म आदि कारकों में परस्पर अभिन्नता कैसे कहते है, सो ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि हमारा तो सिर्फ इतना ही कहना है कि परिणामी होने से एक ही आत्म पदार्थ कर्ता, कर्म, करण और क्रिया रूप में परिणत होता देखा जाता है। हम यह तो कहते नहीं ह कि अभेद में ही कर्ता करणादि रूप की प्रतीति होती है। "आत्मा ज्ञान से आत्मा को जानता है" यहाँ पर अभेद है इसमें भी कर्तादि रूप की प्रतीति होती है, और करण रूप ज्ञान से आत्मा का अभेद संबध ह ऐसा मानना चाहिये। कर्ता, कर्म, करण और कियाओं की प्रतीति अभेद में भी कथंचित् भेद विवक्षा के वश से बन जाती है। इस व्यवहार में कोई विरोध नहीं है और इसलिये इस प्रकार का व्यवहार होता है। कहा भी है।

"भूतिर्यस्य क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।"

निट्टेलु मुरियद मुन्नंदिट्टिगळत्ति सूसि पोगद मुन्नं।
कट्टिगे विडियद मुन्नं नेट्टने नीं निन्न नरिदु भाविसु जीवा ॥१०॥

हे जीव ! जब तक तेरी पीठ की हड्डी न झुके, जब तक तेरी आंखों की रोशनी न जाये, आंखों से अच्छी तरह दीखता रहे, हाथ में डण्डा न आये, तक तक तू अपने अन्दर को ठीक समझ कर आत्म-चिन्तन कर। क्योंकि वृद्धावस्था में सामान्यतः चित्त की स्थिरता न होने के कारण तेरा शुद्धात्मा होना अत्यन्त कठिन

है। इसलिए जब तक वृद्ध अवस्था प्राप्त न हो उसके पहले आत्म-स्वरूप का चिंतन करना तेरे लिए अत्यन्त उचित है। ऐसा श्री गुरु उपदेश देते हैं।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस पद्य में जीव को सम्बोधन करते हुए कहा है—हे आत्मा! अगर इस मनुष्य पर्याय से अपनी आत्मा का हित करना चाहता है, तो जब तक तेरी कमर की हड्डी नहीं झुकी, जब तक आंखों में देखने की शक्ति है, जब तक शरीर में झुर्री नहीं पड़ी है जब तक वृद्धावस्था नहीं आई है, उससे पहले आत्म चिन्तन कर। हे आत्मा! तू इस शरीर के मोह के कारण अनादि काल से अपने आत्महित से वंचित है। और क्षण में नष्ट होने वाले शरीर से ममता करके अखण्ड अविनाशी शुद्ध निर्मल अनन्त सुख के सागर आत्म स्वरूप का अवलोकन करके उसकी इच्छा के अनुसार नहीं किया। इस शरीर में स्थित पंचेन्द्रियों की विषय-वासनाओं में आसक्त होकर इसके पीछे अनन्त दुःख उठाते हुए दीर्घ काल से संसार परिभ्रमण कर रहा है। इसलिए आत्मन्! तेरे शरीर में जब तक वृद्धावस्था ने प्रवेश नहीं किया तब तक तुझे अपना आत्महित कर लेना योग्य है।

हे जीव! अच्छेद्य, अभेद्य, अजर, अमर, अनन्तज्ञानमय, अनन्तदर्शनमय, अनन्तसुखमय, अनन्तवीर्यमय ज्योतिस्वरूप पवित्र, अलिंग, अभिव्यक्त निर्लेप, निरंजन और आनन्दमय ऐसा जो तेरा स्वरूप है यह निश्चय नय से है। इस आत्म-स्वरूप में किसी प्रकार का परवस्तु का संयोग नहीं होता है। परन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से पर वस्तु में आत्मा ने रागभाव करने के कारण रागद्वेषी बनकर मोह किया है। इसी मोह के कारण अपने को सुखी दुखी मानकर इस संसार में दीर्घ काल से भ्रमण करता आ रहा है। तू एकाग्र होकर अपने अन्दर विचार कर। तेरे अन्दर न पर वस्तु है, न राग है, न मोह है, न आत्मा में आत्मा से भिन्न पर विकार है। जिस शरीर के लिए अनादि काल से जन्म मरण करता आ रहा है, यदि विचार करके देखा जाय तो यह शरीर क्षणिक है अशाश्वत है। इसमें हड्डी, मांस, मज्जा, रक्त, वीर्य आदि भरा हुआ है। हड्डी के ऊपर चढ़ा हुआ चमड़ा केवल भीतर की गन्दगी को दबा ढका रखता है, जिन्हें देखकर दूसरे लोग घृणा न करें। इसके भीतर कोई पवित्र वस्तु आपको देखने में नहीं आयेगी। यह तो केवल मल मूत्र का ही भण्डार है। परन्तु अज्ञानी जीव इसमें मोह करता है। जैसे भैंस गन्दी कीचड़ में लेटती है और उसी में आनन्द मानती है। गन्दगी का विचार उसको नहीं आता है। इसका कारण है कि अनादि कालीन संस्कार का उस पर प्रभाव है। इसी तरह यह जीवात्मा अनादि काल का संस्कार होने के कारण अपवित्र मल मूत्र दुर्गन्ध से भरे हुए अत्यन्त निंद्य शरीर में हमेशा लेटता हुआ आ रहा है। वहीं ग्रहण करता है, वही खाता है, वही पीता है उसी के लिये अनेक पर्यायों में जन्म-मरण करता हुआ आ रहा है। इसलिए इस जीव को इतना दुःख उठाना पड़ा है।

जैसे कोई मनुष्य सरकार के कानून के विपरीत कोई अपराध करता है, उस अपराध के निमित्त सख्त जुर्माना करके अमुक साल, अमुक महीने तक उसको कैद कर दिया जाता है। उस कैदखाने की यदि दशा देखी जाय तो उस का कमरा मलिन दुर्गन्ध से भरा हुआ रहता है। उसकी सफाई कभी भी नहीं होती है। ऐसे कैदखाने में वन्द होने के वाद उसको वड़ी तकलीफ हो जाती है। वह वहां वैठना भी पसंद नहीं करता है। परन्तु अपराध के कारण उसको जो सजा हो गई है उसको भोगे विना छुटकारा भी नहीं पा सकता। उसका दिन भी मुश्किल से कटता है और यही विचार करता रहता है कि आगे मैं ऐसा कोई काम न करूँगा। इस प्रकार घृणा करता है। यह भारी कष्ट हैं, इस दुर्गन्धित जेलखाने में कव तक रहुँ। इस प्रकार पश्चाताप करते हुए वह दुर्गन्धि को बार वार याद करता है। उसको मल मूत्र भी वहीं करना पड़ता है, वहीं खाना पड़ता है। परन्तु अपराध के कारण जो उसको दण्ड मिला है, वह उसको भोगना ही पड़ेगा।

विकारमय शरीर का संस्कार अनादिकाल का होने के कारण यह जीव इसका मोह छोड़ना पसन्द नहीं करता अर्थात् जल्दी उस शरीर रूपी कमरे को छोड़ जाने का विचार उसके मन में नहीं आता है। अज्ञानी जीव की यही दशा है कि प्रत्येक योनि में जन्म लेते हुए दुर्गन्ध को खाते खाते उसका अभ्यास हो जाता है इसलिए वह उसमें से निकलकर अपने अविनाशी वाधा रहित स्थान को जाना नहीं चाहता है, यही इस जीव का अज्ञानीपना है। इसलिए हे जीव ! तुझे भी इसी तरह पूर्व जन्म में किये हुए पाप पुण्य का अपराधी होकर छोटे वड़े ऐसे महान निन्दनीय दुर्गन्धमय शरीर में, जेल रूपी माता के मल मूत्र से भरे हुए भण्डार में तुझे अपराध की मियाद पूरी होने तक वन्द होना ही पड़ेगा। और उससे निकलते समय तुझे पुरुष की आकृति, या स्त्री की आकृति पशु की आकृति, देव की आकृति, नारकी जीव की आकृति धारण किये हुए दुर्गन्धमयी कोठरी से वाहर आना पड़ेगा। शरीर के संवंध से तू सोचताहै कि मैं सेठ हूँ, मैं चक्रवर्ती हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं शूरवीर हूँ, इस प्रकार अहंकार से दूषित होकर अनेक प्रकार के अशुभ भाव करके अत्यन्त निन्द्य गति को प्राप्त होकर संसार में दीर्घ काल से भ्रमण कर रहा है।

हे आत्मन् ! इस शरीर सम्बन्धी जितनी तेरी अनंत माताएं अब तक वनी हैं और तूने उनका जितना दूध पिया है और तेरे लिए तेरी माता ने वियोग के दुःख से जितने आंसू वहाये हैं यदि वह दूध या उनकी आंसू की धारा को इकट्ठा किया जाये तो वह आंसुओं का जल समुद्र से भी अधिक होगा। प्रत्येक योनि में भिन्न भिन्न माता की कुक्षि से जन्म लेकर, उसके लिए मोह करते हुए तूने दुःख उठाया है। परन्तु तेरे दुःख को मिटाने के लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ, इस बात को याद रख परन्तु तूने उन पर मोह किया और उनको तूने अपना उपकारी समझा।

हितकारी मानकर तूने उनकी रक्षा के लिए इतने कष्ट उठाये हैं कि वे मुंह से नहीं कहे जा सकते। इस शरीर को छोड़ते समय जो लोग तेरे मृतक शरीर के साथ जाते हैं वे भी आधे रास्ते से ही यानी श्मशान से ही अपने स्थान को वापिस आ जाते है।

हे मूर्ख जीव ! इस शरीर के मोह के कारण तू जन्म मरण करता रहा है। संसार चक्र में भ्रमण करते हुए चारों गतियों में तूने अनेक दुःख पाये इसलिए हे आत्मन् ! अव तो चेत। चार गति के दुःख इस प्रकार हैं—

नरक सात हैं। नारकियों के निवास स्थान उन सातों नरकों में अनेक प्रकार के दुःख देने वाले भयानक बिल हैं। उन बिलों में अनेक बार जन्म लेकर अनेक प्रकार के दुःख भोगे। उन दुःखों के भोगने की काल सीमा कम से कम १० हजार वर्ष से लेकर ३३ सागर पर्यन्त है। अनादि काल से तू इन नारकीय तीव्र दुःखों को अनंत वार भोग चुका है।

तिर्यञ्च गति के दुःख—हे आत्मन् ! तू सम्यग्दर्शन के विना तिर्यञ्च गति सम्बन्धी दुःखों को अनेक काल से भोगता चला आया है। पृथ्वी काय में जन्म ले कर कुदालों आदि के द्वारा खोदने से तुझे भयानक पीड़ा होती है, तैंने वह पीड़ा अनन्त वार सही है। जल काय में अग्नि आदि से तपाने से तैंने दुःख पाया है। अग्नि काय का जन्म धारण करके तूने जल द्वारा प्रज्वलित अग्नि को बुझाने पर भयानक वेदना सही है। वनस्पति पर्याय में पवन से हिलाये जाने पर या काटे जाने पर. बिजली आदि के गिरने से और अनुकूल जल धूप और वायु न मिलने से तूने तीव्र वेदना सही है। इसके अतिरिक्त भार लादने, ताड़ने बांधने और मारने की अनेक वेदनायें तुझे उठानी पड़ी हैं। विकलत्रय में दूसरों के द्वारा दवाये जाने पर या खाये जाने पर अल्प आयु में ही मरण हो जाता है जिसके द्वारा असह्य दुःख भोगना पड़ता है। पंचेन्द्रिय जलचर आदि में परस्पर घात तथा मनुष्य आदि के द्वारा दी गई वेदना, भूख, प्यास का कष्ट वध वन्धन मारपीट आदि के कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस प्रकार तिर्यन्च गति तथा वनस्पति आदि पर्यायों में दीर्घ काल तक असंख्य दुःख पाये हैं।

मनुष्य गति के दुःख—हे जीव ! मनुष्य गति में तुझे जो दुःख उठाने पड़े हैं तू वर्तमान काल में अनुभव कर ही रहा है। तुझे दिन रात मानसिक दुःख उठाने पड़ते है। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, विषय वासना की पूर्ति में और चिन्ता आदि के तू दुःख उठाता है। जब तू माता के गर्भ में आया उस समय तुझे नौ माह तक माता के गर्भ में उल्टा लटका रहना पड़ा। वहाँ माता के उदर मे नानाप्रकार की बीभत्स गन्दगी रहती है वहाँ तुझे इतने दिन तक अनिच्छा से कारागार की तरह बन्द रहना पड़ा है। जन्म लेने के वाद भूख प्यास शीत आतप रोग आदि का दुःख होता है। शारीरिक व्याधि, रोग लगे रहते हैं परकृत ताड़न मारन आदि के भी अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं। वास्तव में मनुष्य जीवन चिन्ता

और दुःखों का जीवन है। प्रत्येक मनुष्य दिन रात दुःखों का अनुभव करता रहता है, उन दुःखों की कोई सीमा नहीं है न कोई अन्त है, किसी भी मनुष्य से पूछा जाय वही अपने दुःखों का रोना रोता है। निराकुल सुख क्षण भर भी नहीं मिलता परन्तु दुःख जीवन भर चलता रहता है।

देव गति के दुःख—हे आत्मन् ! देव गति में दूसरे देवों के बड़े ऋद्धि-वैभव को देखकर मन में ईर्ष्या-जनित जो दुःख की अग्नि जलती है उसके कारण दूसरा देव दिन रात जलता रहता है। स्वर्गीय अप्सराओं के वियोग काल में अनेक दुःख होते हैं, कभी कभी अपराध बनने पर इन्द्र द्वारा अपमानित होने की मानसिक पीड़ा से कराहता रहता है। अपनी मृत्यु के ६ माह पूर्व से पारिजात पुष्पों की माला सूखने पर जब अपनी मृत्यु होने का विश्वास होता है तो उस ६ महीने की अवधि में जो दुःख होता है, जो मानसिक संताप होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

हे जीव ! स्वर्ग में भी सभी उच्च जाति के देव नहीं होते। वहाँ भी आभियोग्य और किल्विष जाति के देव भी होते हैं जिनसे दूसरे देव घृणित व्यवहार करते हैं। उन्हें इन्द्र की परिषद् में बैठने का अवसर नहीं देते। बल्कि चाण्डाल आदि की तरह उन्हें पृथक् रहना पड़ता है तथा दूसरे देवों और इन्द्र के विमानों के वाहन का काम करना पड़ता है। तब वह देव दूसरों की ऋद्धि वैभव और सुन्दर देवागंनाओं को देखकर जो मन में दुःख पूर्वक विचार करता है मैं पुण्यहीन हूं और ये सब पुण्यवान् हैं इस प्रकार मन के संकल्प विकल्पों से वह दुःख होता रहता है।

अशुभ कर्म उदय से नीच देव हुआ तो—

हे जीव ! तू चार प्रकार की विकथाओं में रत होकर अशुभ भावहिंसा का भाव रखता है। जिसके कारण तुझे अनेक बार देव गति में कुदेव के रूप में जन्म लेना पड़ा है। स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा और राज कथा इन चार विकथाओं में तू सदा उलझा रहा है तथा जाति आदि आठ मदों में सदा उन्मत्त बना रहा। इस प्रकार राग और अहंकार के परिणाम करके तूने अनेक बार नीच देव का जन्म लिया और वहाँ अनेक मानसिक कष्ट उठाये। इसलिए हे योगी ! तू मुनि पद धारण करने के बाद इन विकथाओं का त्याग कर दे और इन मदों से अपनी आत्मा को मलिन न होने दे। यदि तू इन विकथाओं में रत रहेगा तो मुनि-लिंग धारण करके भी तपस्या करने से तुझे क्या लाभ होगा। मुनि पद धारण करके विकथाओं में मग्न होकर राग परिणति द्वारा नीच देवों में जन्म लेना उचित नहीं। इससे तो संसार में दीर्घ काल तक भ्रमण करना होता है।

हे जीव ! तैने अब तक भूतकाल के अनन्त भवों में माताओं के स्तनों का जितना दूध पीया है यदि उसको एकत्र किया जावे तो उस दूध से एक विशाल समुद्र बन सकता है। जिन माताओं के गर्भ से तैंने जन्म लेकर मरण किया तो तेरे वियोग से रोने वाली उन माताओं के आंखों के आंसुओं के पानी को अगर एकत्रित किया जाये तो वह भी समुद्र के जल से अधिक हो जायेगा। हे मुने ! तू यह भी विचार कर कि इस अनन्त संसार में आज तक तूने जो जन्म धारण किये है यदि उन जन्मों के केश, नख, नाल, और हाड़ इन सबको एकत्र किया जाये तो वह मेरु पर्वत से भो विशाल स्तूप बन जाये। हे योगी ! तू जल में, स्थल में, अग्नि में, वनस्पति में, वायु में, आकाश में, पर्वत की गुफाओं और नदियो के तट पर वृक्षों के कोटर में तथा अन्य अन्य स्थानों पर तीनों लोक में अब तक निवास करता आया है। तीनों लोक में आकाश का एक भी प्रदेश तूने नही छोड़ा जहां तूने जन्म धारण न किया हो तथा जिसे तूने अपना निवास न बनाया हो। प्रत्येक प्रदेश प्रत्येक योनि और प्रत्येक पर्याय में तूने अनन्त बार जन्म मरण धारण किया।

जो कुटुम्ब से छूटा तो नहीं छूटा, भाव से छूटा तो छूटा। जो साधु भाव से मुक्त हो गया उसको मुक्ति मिल गई। स्त्री कुटुम्ब मित्र आदि से मुक्त होने से उनको मुक्त नहीं कहा जा सकता। इसलिए ऐसा समझ कर आभ्यंतर वासना को तू छोड़।

देखो ! वाहुबली, श्री वसुदेव के पुत्र आदि का शरीर छूटा। बाहर से मुनि हो गये किन्तु मन में थोड़ी सी मान कषाय के कारण दीर्घ काल तक तप करने पर भी आत्म सिद्धि नहीं हुई। जब वह कषाय-अंश दूर हुआ तभी मुक्ति प्राप्त हुई।

मधु पिंगल नाम का एक मुनि हुआ है। उसने आहार पानी को छोड़ा, तप भी किया परन्तु निदान मात्र से वह भाव-श्रमण नहीं हुआ। इसलिए भव्य जीव को केवल बहिरंग से ही नहीं किन्तु द्रव्य और भाव दोनों से मुक्त होना चाहिए तब मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए हे आत्मन् ! अगर तू संसार से मुक्त होना चाहता है तो बाह्य शरीर-सम्बन्धी जो अपने कुटुम्बादि का मोह है उसको त्याग करके इस मनुष्य भव को शीघ्र सार्थक कर। कहा भी है कि—

निर्वाणादिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते।
लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते।
वैडूर्यादिमहोपलादिनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे।
लातुं स्वल्पमदीप्ति काचशकलं किं चोचितं सांप्रतम्॥

मोक्ष सुख को देने वाला तुझे मनुष्य भव मिला है और उसमें भगवान जिनेन्द्र देव का धर्म भी प्राप्त हुआ है। फिर तुझे इसके द्वारा विषय सुख भोगना कभी उचित नहीं। यह इन्द्रिय सुख तो अल्प है परन्तु वह महान आत्म सुख बैठे बैठे नहीं मिल सकता। इसके लिये यदि उपयोग नहीं लगावेगा तो उस सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे रत्न का समूह जहाँ है उस रत्नाकार से निकाल कर धोने पर स्वच्छ करने पर उसकी कीमत अधिक होती है। खान से निकलते ही कीमत अधिक नहीं होती। यदि खान से निकले हुए रत्न को कान्तिहीन समझ कर कोई मूर्ख कंकड़ समझ करके उसका उपयोग नहीं करता है और फेंक देता है तो समझना चाहिए कि वह रत्न को त्याग करके कांच को लेता है। इसी प्रकार इस मनुष्य भव रूपी रत्न का अज्ञानी जीव को मूल्य मालूम नहीं है इसीलिये वह तुच्छ विषय सुख के लिए जैन धर्म को त्याग कर अल्प सुख वाले कांच के टुकड़े को लेता है, ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए हे जीव! अगर इसका मूल्य समझ करके इसका उपयोग नहीं करेगा तो पर भव में तथा इस भव में तुझे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी। अगर तुझे ससार से छुटकारा पाना है, मोक्ष सुख की प्राप्ति करनी है तो इस शरीर के द्वारा संयम धारण कर। इसी के द्वारा धर्म-साधन बन सकता है। इसीलिए जब तक यौवन अवस्था रहे, शरीर तथा इन्द्रियों का बल जब तक क्षीण न होने पावे, जब तक शरीर काम कर रहा है तब तक रात दिन धर्म का साधन करके संसार की यात्रा करना उचित है। कहा भी है कि—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता, दन्ताश्च नाशं गताः।
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते॥
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते।
धिक् कष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते॥

जब तक वृद्धावस्था में शरीर सिकुड़ न जाय, चलना फिरना बन्द न हो जाय, दांत जब तक न गिरें, आँखों से जब तक ठीक दिखाई देता रहे, जब तक रूप नहीं घटे, जब तक मुख से लार न गिरे, जब तक बन्धु-जन तिरस्कार न करें, जब तक लोग वृद्ध आदि से उच्चारण न करें, वृद्ध को देखकर स्त्री सेवा नहीं करती है तब तक तू सबसे पहले पर भव सुख की प्राप्ति करने की कोशिश कर। लोगों के धिक्कार करने से पहले, पुत्र द्वारा तिरस्कार होने से पहले तू अपने आत्म-साधन की चेष्टा कर। वृद्धावस्था का जीवन केवल कष्ट रूप है, ऐसा समझकर उत्तम गति का साधन कर। इस प्रकार आचार्य ने इस अज्ञानी मनुष्य को जगा कर आत्म-साधन में लगाने की चेष्टा की है।

आपको आप ही शरण है—

नडेवेडेयोळ् नुडिवेडेयोळ् बिडदेंतुं निन्न नोडु निन्निंदात्मा।
तडेयदे मुक्तिय नेय्दुवे कडगुलि नीं निनगे शरणु मतोंदुंटे ॥११॥

हे आत्मन् ! चलते समय, बोलते समय, सोते समय, खाते समय, व्यवहार करते समय, या अन्य किसी हालत में क्यों न हो, उस समय प्रतिदिन अपने से आप को देखो तथा चिन्तवन करो। इस प्रकार चिन्तवन करने से तुम्हारी कोई हानि नहीं है। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र होगी। इसको छोड़कर तुम को अपने लिए और कोई शरण नहीं है अर्थात् अपने को आप ही शरण है।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में इस जीव को सम्पूर्ण पर-वस्तु से हटाकर अपने शरीर में वास करने वाले स्व आत्मा और पर पदार्थ के ज्ञान के द्वारा स्व-पर का भेद करके केवल अपने शुद्ध आत्मा की भावना करने का संकेत किया है। यह अज्ञानी जीव शुद्ध भावना के बिना चतुर्गति में भ्रमण करके अनेक पुद्गल परमाणु ग्रहण करके छोड़ आया है। संसार में ऐसी कोई भी चीज शेप नहीं है जिसका इस जीव ने परिचय न किया हो, देखा न हो, उसका अनुभव न किया हो, यानी सब चीजों का अनुभव किया है परन्तु अपने शरीर में विद्यमान अपने आत्मा का आज तक अनुभव नहीं किया। इस कारण पर द्रव्य में राग परिणति करने के कारण उसी पर-वस्तु के प्रति रागी द्वेपी मोही होकर उसी को अपना मानकर उसी का अनुभव करता हुआ आ रहा है। और उसी में सुख मानकर उसके पीछे जन्म मरण करके दुःख उठा रहा है। इसलिए इस जीव को आज तक सुख का लेश मात्र भी प्राप्त नहीं हुआ।

आचार्य ने वतलाया है कि सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र, जो आत्मा का धर्म है, वही अपना स्वरूप है जब तक उसकी शरण में नहीं जाओगे तब तक इस जीव की कोई रक्षा करने वाला नहीं है, सुख और शान्ति को देने वाला नहीं है। रात दिन पंचेन्द्रियों के क्षणिक विषय के लालच में पड़कर उसी की प्राप्ति के लिए रात दिन देश देशान्तर घूमता रहता है, परन्तु इतने घूमने पर भी इसे तिल मात्र भी सुख नहीं मिलता है। जितना कि पूर्व जन्म में पुण्य करता है उसी के अनुसार संसारी सुख मिलता है। जब पुण्य होता है तो जीव अपने दुःख को भूल जाता है। जब पुण्य उदय नहीं होता है तो पाप का उदय होता है। तब दुःख पाता है। ऐसे अपने आप ही पाप और पुण्य का फल भोगता है। परन्तु अखंड अविनाशी आत्म निधि अपने पास होते हुए भी उसकी पहिचान आज तक इसने नहीं की यह कितने आश्चर्य की वात है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि निस्सार शरीर में सारभूत आत्मा की प्राप्ति आज तक इस जीव को नहीं हुई। जैसे आकाश में बादल क्षण में एकत्रित हो जाते हैं और हवा से क्षण में फट जाते हैं। इसी प्रकार

पुण्य क्षणिक रहता है और क्षण भर में विलीन हो जाता है। इसी तरह पंचेन्द्रिय-सुख इस आत्मा के साथ स्थायी कभी न रहा है और न कभी रहेगा। इसलिए बड़े बड़े चक्रवर्ती महान तीर्थङ्करों ने जब इसका स्वरूप ठीक तरह से समझ लिया तब उन्होंने इसका मोह छोड़ करके शुद्धात्मा की प्राप्ति करली। बतलाया है कि—

वाताभ्रमिव भ्रममिदं वसुधाधिपत्यम्,
आपातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां,
धर्मः सखा परमहो परलोकयाने ॥

इस पृथ्वी का आधिपत्य, वायु के वेग से तितर बितर होने वाले मेघ के समान अस्थिर है, तथा संसार सम्बन्धी समस्त विषयोपभोग आपात मधुर हैं अर्थात् उपभोग काल में ही ये विषयोपभोग मधुर होते हैं, परिणाम में नहीं, तथा मनुष्यों के प्राण तृण के अग्रभाग पर रहे हुए जल बिन्दु के समान चंचल हैं अर्थात् न जाने ये प्राण पखेरू कब इस तन को छोड़कर उड़ जायेंगे। अहो! यह कितने आश्चर्य की बात है, कि इन नश्वर वस्तुओं के लिए मनुष्य घोर प्रयत्न करता रहता है तो भी ये सभी वस्तुएं मनुष्य की सर्वदा सहचर नहीं होतीं। सर्वदा सहचर है तो एक मात्र धर्म ही है, जो परलोक प्रयाण काल में भी साथ नहीं छोड़ता अर्थात् परलोक जाने के समय मनुष्यों का एक मात्र सखा धर्म ही होता है। अतः परलोक में सच्चा मित्रता निभाने वाला यह आराधित एक मात्र धर्म ही है। जिसको विषयाभिलाषी जन भूले हुए हैं।

इसलिए आत्मा को धर्म ही शरण है इस धर्म को अपने हृदय में श्रद्धान पूर्वक रखना चाहिये और जैसे कोई लोभी मनुष्य अपने द्रव्य को किसी स्थान पर सुरक्षित रखता है वह देश विदेश में कहीं जाय या किसी दुःख में रहे या सोने में या खाते समय या अन्य कोई कार्य करते समय चलते फिरते समय नींद में यानी प्रत्येक दशा में उसका उपयोग अपने सुरक्षित धन के प्रति लगा रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव का हमेशा आत्म-रूपी धन के प्रति उपयोग रहना चाहिए। क्योंकि धर्म के सिवाय संसार में किसी से भी सुख और शान्ति आज तक नहीं मिली। जितने भी अरवपति या खरवपति हुए वे अन्त में धर्म की शरण में आकर, उसकी आराधना करके ही हमेशा के लिए सुखी हुए हैं। संसार में धर्म ही एक बन्धु है, धर्म ही मित्र है, धर्म ही पिता है, तथा माता है, जो कुछ है वह सब धर्म ही है। अतः ज्ञानी जीव को धर्म से अलग कभी नहीं होना चाहिए।

आत्म-स्वरूप में मग्न हुआ योगी ही इस आत्म स्वरूप को प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं। कहा भी है कि—

उपरितबहिरंतःकल्पकल्लोलमाले, लसदविकलविद्यापद्मिनी-पूर्ण-मध्ये।
सततममृतमंतर्मानसे यस्य हंसः, पिवति निरुपलेपः सोऽत्र निष्पन्न योगी।।

हे आत्मन्! तू शुद्ध आत्मा का ज्ञानी होकर परभव को भूल गया है अर्थात् अपने शुद्धात्मा का अनुभव करके वाह्य आभ्यन्तर में तथा विषय भोगों द्वारा होने वाले संकल्प विकल्प जाल को अपने आत्मा में तिल मात्र भी स्पर्श न करने दे और जिनकी आत्मा ने हृदय कमल में स्थिर होकर उसको प्रफुल्लित किया है, हृदय रूपी समुद्र में हमेशा पानी के ऊपर रहने वाले कमल के समान शोभनीय आत्म-तत्व को जिन्होंने मनन किया है अर्थात् इस आत्मामृत को मानस सरोवर में स्थिर होकर हंस पक्षी के समान जो पान करता है, उसकी आत्मा निष्पन्न योगी के नाम से प्रसिद्ध होकर जगत के जीवों के लिए पालक बन जाती है। उन्हीं के लिए उन्हीं के हाथ में केवल ज्ञान रूपी ऐश्वर्य अर्थात् मोक्ष पद क्षण मात्र में आधीन होता है, वह उसका साधन करके हमेशा आत्मानन्द सुख में मग्न रहता है।
निष्पन्न योगी अपने मन में ऐसा विचार करता है कि—

यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते।
नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव च।।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्तं प्रतीतिं दृढां।
सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लक्ष्यते।।

जो सिद्ध ज्योति सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है, शून्य भी है, और परिपूर्ण भी है, उत्पाद विनाशशाली भी है और नित्य भी है सद्‌भावरूप भी है और अभावरूप भी है, तथा एक भी है और अनेक भी है, ऐसी वह दृढ़ प्रतीति को प्राप्त हुई अमूर्तिक, चेतन एवं सुख स्वरूप सिद्ध ज्योति किसी विरले ही योगी पुरुष के द्वारा देखी जाती है। इस विषय में और भी कहा है कि—

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुं गुण पुणु दंसणु णाणु।
पज्जय चउ गइ भाव तणु कम्म विणिम्मिय जाणु।।

अप्पा मिल्लिवि णाणियहं अण्णु ण सुंदरु वत्थु।
तेण ण विसयहं मणु रमइ जाणंतहं परमत्थु।।

मिथ्यात्व रागादिक के छोड़ने से निज शुद्धात्म द्रव्य के यथार्थ ज्ञानमय जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियों को शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव

परमात्मा को छोड़ कर दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं भासती। इसलिए उनका मन कभी विषय वासना में नहीं रमता। सांसारिक विषय शुद्धात्मा की प्राप्ति के शत्रु हैं। ये भव भ्रमण के कारण हैं, काम भोग रूप पांच इन्द्रियों के विषय में मूढ़ जीवों का ही मन रमता है, सम्यग्दृष्टि का मन नहीं रमता। सम्यग्दृष्टि ने वीत-राग सहजानन्द अखण्ड सुख में तन्मय परमात्म तत्व को जान लिया है। इसलिए यह निश्चय हुआ, कि जो विषय वासना के अनुरागी हैं, वे अनुरागी हैं और जो ज्ञानी जन हैं, वे विषय भोगों से विरक्त रहते हैं।

शीतोष्णदंश मशकद, वातद वादे गळिगळुकदळ्काडदे नीं।
माताळदे किविगेळद, चेतनदवोलिर्दु नेनेय निन्निं निन्नं ॥१२॥

हे योगी! तुम आत्म ध्यान में शीत उष्ण की बाधा से तथा मक्खी मच्छर आदि के डसने से विचलित न होओ, न मुख से कुछ बोलो और न किसी सांसारिक बात को सुनकर चलायमान होओ। पत्थर की मूर्ति के समान अचल, एकाग्र होकर अपने आत्मा में तन्मय-लीन होकर अपने आपको ही देखो, मनन करो, चिन्तवन करो। तब तुमको अपना स्वरूप स्वयं ही दीखेगा।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस पद्य में यह बतलाया है कि कर्मों से मोक्ष तभी हो सकता है जब शरीर से ममता दूर हो। पर अपनी आत्मा के प्रति गाढ़ श्रद्धान होकर, आत्मा को सांसारिक विषयों से उसी प्रकार खींच लिया जावे जिस प्रकार वृक्ष को जड़ समेत जमीन से उखाड़कर खींच लिया जाता है। जब तक तुम्हारे भावों में कर्म की जड़ मोह खींचने की शक्ति नहीं होगी अर्थात् अडिग आत्म-श्रद्धान नहीं होगा तब तक बाह्य तपस्या से कर्म की निर्जरा न होगी और आत्मा का अनुभव नहीं होगा। किसान जब तक खेत में उगने वाली घास को ऊपर ऊपर ही तोड़ के डालता रहे तब तक उस घास का उगना बन्द नहीं होता। जब वह उस घास की जड़ उखाड़ कर फेंक देता है, तब ही खेत में घास का उगना बन्द होता है। इसी प्रकार कर्म की निर्जरा करने के लिए अंतरंग और बहिरंग वेदना को, शारीरिक मोह को त्याग कर सहन करें तब आत्मा कर्म को जड़ से निकाल सकता है।

परीषह सहन करने की प्रेरणा—

दुक्खाइं अणेयाइं सहियाइं परवसेण संसारे।
इण्हं सवसो विसहसु अप्पसहावे मणो किच्चा ॥

अर्थ—हे आत्मन्! पराधीन-कर्मों के आधीन होकर तूने संसार में अनेक दुःख सहे हैं, अब आत्म स्वभाव में चित्त लगाकर स्वाधीनता से इन दुःखों को सह।

भावार्थ—जिस समय क्षुधा प्यास उष्ण आदि की तीव्र परीषह सहने का अवसर मिल जाय उस समय मुनि को यह भावना करनी चाहिए कि हे आत्मन्!

जन्म जरा मरण से व्याप्त इस चतुर्गतिरूप संसार में कर्मों के आधीन हो तूने तिल तिल कर शरीर का छिदना, कट जाना, तेल से भरे हुए तप्त कढ़ाहों में पड़ना, असिपत्रों से शरीर के खंड खंड हो जाना, गरम गरम बालू में नृत्य करना, आपस में लड़कर एक दूसरे के शस्त्र से कट जाना, आरा आदि से चिर जाना, अत्यन्त भार का ढोना, बंधना, जलना, शीत उष्ण की वाधा सहना, दरिद्र होना, पुत्र प्रिया का वियोग सहना, राजा से तिरस्कार और जुआ आदि दुर्व्यसनजन्य पीड़ा का सहना, दूसरे की विपुल ऋद्धि देख मन में क्लेश होना आदि अनेक घोर से घोर क्लेश सहे है। इस समय यद्यपि तेरे ऊपर घोर आपत्ति आकर पड़ी है तथापि यह तेरे आधीन है क्योंकि स्त्री पुत्र आदि से विरक्त होकर सन्यास धारण कर इन परीषहो को स्वयं तूने अपने ऊपर आने की आज्ञा दी है इसलिए शुद्ध आत्मा में मन का लगाकर प्रसन्नता से उन्हें सहना चाहिए। परीषहों के तीव्र दुःख से दुखित मुनि जिस समय परम उपशम सम्बन्धी भावना भाता है उस समय उसके कर्मो का नाश होता है।

अइ तिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा।
जइ तो णिहणासे कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! परीषहों की तीव्र वेदना से दुखित होकर जिस समय तू परम उपशम भावना करेगा उस समय आधे क्षण में तेरे समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जायेगे।

भावार्थ—शरीर आदि मेरे हैं, मै इनका हूँ, इत्यादि विचारों का निग्रह करना, जिस प्रकार मेघ से आकाश विकृत नहीं होता उसी प्रकार जन्म जरा रोग आदि विकार भी मेरी विशुद्ध आत्मा को विकृत नहीं बना सकते, उनसे शरीर विकृत बन सकता है इस प्रकार का विचार करना तथा मोहजनित और भी नाना प्रकार के संकल्प विकल्पों को नष्ट कर शुद्धचिद्रूप में स्थिति करना सुषमा भावना है। जो मुनि भूख प्यास शीत उष्ण दंशमशक आदि की तीव्र वेदना से आक्रान्त होकर विशुद्ध भावों से उपर्युक्त भावना को भाता है, उसके देखते देखते समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं किन्तु जब तक उपर्युक्त भावना का अवलम्बन नही किया जाता तब तक अशुभ कर्मो का नाश नहीं हो सकता। इसलिए मुनि को चाहिए कि वह परीषहों की तीव्र वेदना के उपस्थित हो जाने पर भी परमात्मा की भावना अवश्य करें। परीषहों के सहने में असमर्थ हो यदि कोई मुनि चारित्र का त्याग कर देता है तो उसे इस लोक परलोक में क्या फल मिलता है। इस बात को कहते हैं—

परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडंति चरणरणभूमी ।
भुवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया ।।

अर्थ—जो पुरुष परीषह सुभटों से भयभीत होकर चारित्र रूपी संग्राम भूमि को छोड़ भागते हैं वे संसार में हास्य के पात्र बनते हैं और अनेक प्रकार के दुःखों का उन्हें सामना करना पड़ता है।

भावार्थ—जिस प्रकार शूरवीरों से भयभीत होकर संग्राम से पीठ दिखाने वाला पुरुष संसार में हंसी का पात्र बनता है और राजदंड निन्दा आदि अनेक प्रकार के दुःखों को सहता है, उसी प्रकार जो पुरुष चारित्र रूपी विस्तीर्ण संग्राम भूमि से यह जानकर भी कि व्रत समिति, गुप्ति आदि विशाल योद्धाओं के सामने किसी की दाल नहीं गल सकती, निर्बल हो परीषहरूपी न कुछ सुभटों से भय खाकर उसे पीठ दिखाकर भाग जाता है—चारित्र का पालन करना छोड़ देता है, उस पुरुष की सब लोग हंसी करते हैं और चारित्र से भ्रष्ट हो जाने पर उसे नर नारक आदि गति में भ्रमण करके तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए जो पुरुष संसार से भय करने वाले हैं और संसार के दुःखों को भोगना नहीं चाहते उन्हें चाहिए कि वे चारित्र को प्राप्त होकर परीषहों के भय से उससे विमुख न हों किन्तु परीषह रूपी सुभटों की कठिन मार झेलते हुए भी आगे ही बढ़ते चले जाँय। अखंड अविनाशी मोक्ष राज्य को पाकर कीर्ति का उपार्जन करें एवं समस्त प्रकार के दुःखों से छूटें।

हे योगी ! तुम स्व पर ज्ञान के द्वारा शरीर और आत्मा को भिन्न करके निजानन्द अखंड, अविनाशी ज्ञान दर्शन युक्त, शुद्ध चैतन्यमय, आत्मानन्द, एकाग्रता से आप अपने अन्दर स्थिर होकर के योगामृत का पान करो। आत्मा से शरीर भिन्न है और यह शरीर रूपी पिण्ड इस जीव ने अज्ञान से रागभाव से अपनाया है। उस रागभाव के निमित राग परिणति के द्वारा किया हुआ जो शुभाशुभ आस्रव आत्मा के अन्दर प्रवेश करता है, वह अचेतन या जड़ है। इस रूपी अचेतन औरजड़ में यह आत्मा ममत्व भाव करने के कारण अपने असली स्वभाव को भूलकर जड़ का परिचय करके जड़-बुद्धि वाला हो गया है। इस जड़त्व को प्राप्त होकर जड़ के स्वभाव को अपना स्वरूप मानकर जन्म और मरण के चक्कर को काटते हुए अनेक प्रकार का दुःख भोग रहा है। इस प्रकार यदि स्व-पर के भेद को कोई समझेगा तो इस जड़ के साथ उसका बंधा हुआ सम्बन्ध टूट जायगा।

इसलिये हे योगी ! तुम्हारा स्वरूप रूप रस गंध और स्पर्श आदि से रहित निर्मल, निर्विकार अरूपी है। आत्मानन्द को अपना करके जड़ का सम्बन्ध हटाने की कोशिश करो। तदनन्तर अपने अन्दर यह विचार करो—मेरा अपना

आत्मा अरूपी है। मैंने अनादिकाल से जड़ का मोह करके जड़ के साथ ही अपने को मान लिया है। जड़ रहित शुद्ध चैतन्य, निर्विकार, निरंजन, आत्मदेव मेरे अन्दर ही मौजूद है।

हे योगी ! तू ऐसा विचार कर कि हे आत्मन् ! मैंने अनादिकाल से योग धारण किया, कठिन तपस्या की तो भी मुझे सच्ची आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकी। श्री गुरु के द्वारा स्व और पर की मुझे अब पहचान हो गयी है। मैं अनेक प्रकार के उपसर्ग, अनेक प्रकार की बाधाओं, अनेक प्रकार की वेदनाओं को आज तक जो अपना मानता था, वह केवल शरीर के मोह के कारण मुझ को ही हो रहा है ऐसा मुझको प्रतीत हो रहा था। यह सब मोह की महिमा है। राग परिणति के कारण मेरी आत्मा शरीर में होने वाले सुख दुःखों को अपना मानकर बैठा था। अब ये सुख दुःख मुझको नहीं होते हैं मैं इनसे भिन्न हूं। यह शरीर मुझसे भिन्न है। अब मुझे किसी प्रकार की वाह्य विषय-वासना की जरूरत नहीं है। मुझे मेरे अन्दर इस समय अमृतमयी निर्मल, निर्विकार, परम स्वरूप, परमानन्द का आस्वाद आ रहा है। मुझे वाह्य पदार्थों से क्या काम है।

हे योगी ! अपने अन्दर मग्न होकर यह विचार कि आत्मा शुद्ध ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप शुद्ध धर्म वाला है। शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र ही मेरा स्वरूप है। अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं है। मैं वाधारहित हूँ, चिदानन्द सिद्ध हूँ, अदोषी हूँ, परमात्म रूप हूँ। ऐसी भावना भाते हुए अपने साथ लगे हुए कर्म कलंक को निर्मल आत्मज्ञान से धो डालो।

हे योगी ! तू जिस शरीर को धारण किये हुए है, उस शरीर में यह आत्मा सुज्ञान, सुदर्शन, सुख और शक्ति रूप से युक्त है। यह आत्मा निराकार है किन्तु यह साकार शरीर में रह रही है। ऐसे आत्माराम का कहाँ तक वर्णन करें।

यह आत्मा क्षत्रिय नहीं है, वैश्य नहीं है, शूद्र भी नहीं है। ब्राह्मण आदि संज्ञाएं इस आत्मा को इस शरीर की अपेक्षा से प्राप्त होती हैं। यह आत्मा योगी नहीं है गृहस्थ भी नहीं है। यह आत्मा योगी, श्रमण, संन्यासी आदि जिस जिस नाम से पुकारा जाता है, वह सभी नाम पर-कृत हैं। इस आत्मा ने जैसे जैसे विभिन्न पुद्गल पर्यायों में भाव किये है वैसे वैसे नामकरण को प्राप्त हुआ है। ये सभी जड़ पुद्गल के निमित से हैं। निर्मल, अविकारी, अरूपी, ज्ञानदर्शन आत्मा के नहीं है। हे योगी ! यह आत्मा स्त्री नहीं है, स्त्री की अपेक्षा करने वाला भी नहीं है। पुरुष भी नहीं है, नपुंसक भी नहीं है। मीमांसक भी नहीं है, सांख्य भी नहीं है। नैयायिक भी नहीं है, बुद्ध स्वरूप वाला भी नहीं है। यह सभी पुद्गल का ही खेल है। अर्थात् ये सब व्यवहार मात्र हैं। निश्चयनय से विचार करके तू अपने

अन्दर देखेगा तो आप ही आप है। निर्विकार अखंड है । झाड़ी, वृक्षादि पर्याय से रहित, सुन्दर मैदान के समान तथा आकाश रूप चित्-स्वरूप है । इसलिये इस चित् स्वरूप में रत होकर अपने आपको पहचान। अपने अन्दर क्रीड़ा करने वाले को विकारमय बाह्य जगत की जड़ वस्तु दिखाई नहीं देतीं। यह योगी के ध्यान की महिमा है।

अपने अन्दर ही देखकर अपना पता लगाओ, ऐसा कहते हैं:—

निन्नने निन्निं नीनूंनिन्ने डेयोळ् निन्ननिट्टु आविसु निहतं ।
निन्न स्वरूपनेयप्पं निन्नं नीनरिदु निन्नोळे निलु योगी ॥१३॥

हे योगी ! आप अपने में आप को रखकर अपने द्वारा आप ही चिन्तवन करो। इस प्रकार चिन्तवन करने से आप अपने अन्दर अपने को क्या प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य सब कुछ होगा। आप अपने को समझकर अपने अन्दर रहो। और अपने स्वरूप का ही चिन्तवन करो, ध्यान करो, अपने अन्दर ही लीन रहो ऐसा इसका तात्पर्य है।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस पद्य में इस जीव को समझाया है कि हे योगी ! सम्पूर्ण पर पदार्थ का चिन्तवन छोड़कर केवल अपना ही ध्यान कर। इस तरह ध्यान या चिन्तवन करने से आप अपने अन्दर ही प्राप्त होगा, अर्थात् अपने ही अन्दर निजानन्द योगामृत का अनुभव आयेगा । अनादिकाल से तूने बाह्य विषयजनित सुख का सेवन किया, खूब परिचय किया, चिन्तवन किया, परन्तु आज तक उसमें अपने आत्मा को तृप्त करने वाली कोई वस्तु तुझे प्राप्त नहीं हुई। केवल दुःख ही दुःख मिला, सुख कभी नहीं मिला। इसलिये हे आत्मन् ! अब तू इन सम्पूर्ण विषयजन्य पर पदार्थ को अपने से भिन्न रखकर आप अपने ही अन्दर रत होकर देखेगा तो पता चलेगा कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है । आचार्य ने कहा भी है कि—

इयं मोहनिद्रा जगत्रय विसर्पिणी ।
यदाक्षीणा तदा क्षिप्रं पिव ध्यानसुधारसं ॥
नहि काले कलौ कापि विवेक विकल्नाशयैः ।
अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मनि दुर्लभा ॥

यह मनुष्य-जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये ज्ञानी लोग अज्ञान में फंसकर काल के एक क्षण को भी व्यर्थ नहीं करते। सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप स्व-समय है और उससे भिन्न जितना भी पर है वह

सब पर-समय है । ऐपा विचार करके स्व-समय ही मेरा आत्म-स्वरूप है ऐसा दृढ़ निश्चय करके जिन्होंने अपने शुद्धात्मा का विचार किया है तथा उसे प्राप्त करने का जो प्रयत्न करता है वह भव्यज्ञानी जीव आत्म-तत्व को उपादेय समझ कर अपने को आप प्राप्त होता है । और भी कहा है—

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्तं सुखं मे सततं तृणायते ।
कुरश्रीं रमा स्थान तदे हृदे हृजात सदेति चित्र मनुतेल्पतिसुखम् ।।

मैं शुद्ध चित्त हूँ, ऐसे मैंने सुन्दर आत्म-सुख को समझ लिया है । उस सुख के सामने नागेन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के जो सुख हैं वे सभी सुख तुच्छ हैं ऐसा मुझे प्रतीत होता है । परन्तु अज्ञानी लोग दुःख रूप स्त्री, धन स्वर्णादिक को और घर, शरीर, पुत्रादि को ही यथार्थ समझ बैठे हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है ।

पर भाव को त्यागे बिना आत्म सिद्धि की प्राप्ति अति दूर है—

एनितेनितु निन्न भाविस लनितनितं पडेवे सुखमनितिद नरिदे ।
लल्नितं परवं भाविसि मुनि विडदिरू बयल बंदिकारणतेरदिं ।।१४।।

हे योगी ! जितना जितना आप अपने अन्दर रत होकर भावना करेंगे उतना उतना ही आत्मसुख को प्राप्त होंगे । इस बात को समझकर स्वरूप-ज्ञान से रहित होकर वाह्य विषय कषाय में बद्ध होकर रहने वाला तथा परवस्तु का आश्रय करने वाला कभी आत्म सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता । बाह्य विषय वासना में फंसकर अपने आत्मा से वंचित रह कर तू अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही न खो बैठना । अगर सुख और शांति प्राप्त कर शीघ्र ही तू इस संसार के महान् संकट से छूटना चाहता है तो पर-वस्तु को तिल मात्र भी अपने हृदय में आने का मौका न देना अर्थात् उसकी भावना स्वप्न में भी न करना । अगर थोड़ा भी पर-पदार्थ के लालच में आकर उसकी तरफ उपयोग दौड़ायेगा तो निश्चय से तू भ्रष्ट होजायेगा । इस बात का विचार करके तू मननपूर्वक पर वस्तु के मोह को हटाकर केवल आत्म-साधन में निरंतर लग जा ।

हे योगी ! तूने आज तक पर-वस्तु में रमण करते हुए अपने आत्मा को जो दुःखमय बना दिया है इसका कारण पर-वस्तु ही है । देखो कहा भी है कि—

इष्टार्थाद्यदवाप्ततद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर-
न्नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे ।
मृत्यूत्पत्तिजरातरंगचपले संसारघोरार्णवे-
मोहग्राहविदारि..स्यविवराद्दूरेचरा दुर्लभाः ।।

संसार एक भयंकर विस्तीर्ण समुद्र के समान है । समुद्र में खारा जल भरा रहता है जिसको यदि कोई भी पीता है तो उसकी तृप्ति नहीं होती, उल्टा दाह बढ़ता है। इसी तरह संसार समुद्र में विषय-जन्य सुख हैं जो क्षण-भंगुर होने से तथा दुःखपूर्ण होने से पीने वाले की तृप्ति नहीं कर सकते। जैसे वड़वानल अग्नि जलती रहती है जिससे कि समुद्र भीतर से निरन्तर जला करता है और स्थिरता नहीं पड़ती। उसी तरह संसार में मानसिक तीव्र वेदनाएँ हैं, जो कि निरन्तर जाज्वल्यमान रहती हैं जिनसे कि जीवों का अन्तःकरण निरन्तर जला करता है किन्तु शान्ति क्षणभर के लिए भी नहीं मिलती। समुद्र में तरंगें निरन्तर उठती हैं और विलीन होती हैं, संसार में भी जन्ममरण जरा रूप तरंगों की माला निरन्तर उठती रहती है जिससे कि एक क्षणभर के लिए भी स्थिरता नहीं होती। इस गति से उसमें, उससे भी और तीसरी गति में, इस तरह जीव सदा भ्रमता ही रहता है। समुद्र में बड़े बड़े मगर नाके आदि मुख फाड़े हुए पड़े रहते हैं जो किसी भी जन्तु को पास आते ही निगल जाते हैं। इस संसार में भी मोह रूप मगर नाके आदि भयानक जलचर जीव निरन्तर मुख फाड़े हुए पड़े रहते हैं। कोई भी पास आया कि झट निगल जाते हैं। रागद्वेष की उत्पत्ति निरन्तर होती ही रहती है जिससे कि सदा अशुभ कर्मों से यह जीव लिप्त होता रहता है। यही मोह ग्राह का निगलना है। इस संसार समुद्र में रहते हुए भी जो इन मोहग्राहों से बचे रहते हैं वे अत्यन्त विरले हैं। इस दुःख सागर से पार होते हैं, तो वे ही होते हैं। अरे भव्य ! तुझे भी इस संसार समुद्र में रहकर इसी तरह बचना चाहिए, तभी तेरा बेड़ा पार होगा।

बचकर भी क्या करना चाहिए—

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः,
श्यामांगीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम् ।
धन्यासि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधे मृगीभि-
र्दग्धारण्यस्थलकमलिनीशंकयालोक्यते ते ॥

अन्तराय-रहित जो विविध सुख, उनसे जिस शरीर की लालना हुई हो, सुन्दर स्त्रियों के चंचल रमणीय नेत्र कमलों से जिस शरीर का निरन्तर सत्कार होता रहा हो, अर्थात् जिसको स्त्रियों ने चंचल नेत्रों से देखने में अपना आज तक का समय गमाया हो, ऐसा तेरा जन्म से लेकर सुख में लीन रहा हुआ जो शरीर है वह यदि ज्ञान प्राप्त होकर सच्चे तपश्चरण करने में ऐसा लीन हो कि विचरती हुई हरिणी उस शरीर को देखकर जले हुए जंगल का मुरझाया हुआ गुलाब (स्थलकमलिनी) समझ कर निर्भय देखने लग जाय, तो मैं तुझे धन्य मानूंगा।

जो जन्म से लेकर दुखी हैं वे यदि तपश्चरणादि कष्टों को सहें तो सहज सह सकते हैं, क्योंकि उन्हें दुःख सहन करने का अभ्यास हो चुका है परन्तु जो जन्म से सुखी हैं, कभी कष्ट का नाम तक नहीं सुनते, वे यदि इस उत्तम धर्म को धारण करें तो अधिक महत्व की बात है। ऐसे मनुष्य विषय से रहित सच्चे धर्म को तभी धारण कर सकते हैं यदि उन्हें सच्चे धर्म से प्रेम उत्पन्न हो चुका हो।

भीतरी मिथ्यात्व को मन से हटाओ—

कडेयिल्लद संसारदकडेयेल् बगेओडल्लि मिथ्यादिगळोळ।
तोडरदे निन्नोळ नीं निलेपडेवै निर्वाणपदवियं नीनेनसुं ॥१५॥

हे योगी! आप (नाना जीव की अपेक्षा से) अन्त रहित संसार का (एक जीव की अपेक्षा से) अंत करना चाहते हैं तो मिथ्या श्रद्धानादिकों में प्रवेश न करके अपने अन्दर आप ही स्थित हो जायें तो मोक्ष पद को अवश्य प्राप्त कर लेंगे। अगर तू मिथ्यामार्ग में एक सैकिंड भी मन को लगायेगा तो तू इस तप के फल को न पाकर पुनः संसार रूपी भयानक जंगल में भटकेगा।

विवेचन—ग्रंथकार कहते हैं कि हे योगी! अगर तू आदि अंत रहित संसार का अंत करके, आदि अंत रहित आत्म स्वरूप को प्राप्त कर सुखमय अखंड अविनाशी मोक्षमहल में पहुंचना चाहता है तो तू अपने आत्मा को मिथ्यात्व का क्षणमात्र भी स्पर्श न होने दे। क्योंकि तेरे आत्मा का संसार-भ्रमण का कारण एक मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व भाव विषय कषाय उत्पन्न करता है, आत्मा को मलिन करके पदार्थ का श्रद्धान असत् यानी आत्मा से विपरीत मान्यता को कर देता है। जीव स्व-शुद्ध-आत्म-स्वरूप से विपरीत होकर चारों गति में भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के दुःख और वेदनाओं को सहन करता आ रहा है। इसीलिए असत्य विपरीत मार्ग पर लेजाने वाली इस मिथ्या मान्यता के कारण मिथ्या पथ पर चल रहा है। अब तू जागृत होकर सम्यक् दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान के द्वारा स्व पर को अपने अन्दर ठीक समझकर स्व पर का-भेद कर। जब तुझे भेदाभेद का सच्चा ज्ञान होगा तब आत्मा से भिन्न इन्द्रियजन्य भोगादि पर-वस्तु पर तेरा आवेश नष्ट हो जायेगा और पर-वस्तु पास होते हुए भी उन इन्द्रियजन्य भोगादि पर-वस्तु का मोह नहीं होगा। इसके बारे में अमृतचन्द्रसूरि अपने समयसार कलश में कहते हैं कि—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन।
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ॥
तदयमुदयदात्मारामममात्मानमात्मा।
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥

जो आत्मा किसी प्रकार (बड़े भाग्य से) धारावाही ज्ञान से निश्चल शुद्ध भाव से प्राप्त हुआ स्थिर होता है वह आत्मा उदय होते हुए आत्मा के शुद्ध रूप को पर परिणति में रागद्वेष मोह के निरोध से प्राप्त होता है। इस तरह शुद्धात्मा की प्राप्ति से संवर होता है। यहाँ पर जो धारावाही ज्ञान कहा गया है उसका अर्थ यह है कि जो एक प्रवाह रूपी ज्ञान हो वह धारावाही है। तो इसकी दो गतियाँ है एक तो मिथ्याज्ञान बीच में न आये ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही है और दूसरा उपयोग के ध्येय के साथ उपयुक्त होने की अपेक्षा। सो जहाँ तक एक ज्ञय से उपयुक्त होता है वहाँ तक धारावाही कहा जाता है। इसकी स्थिति अंतरंग होती है। बाद में विच्छेद हो जाता है। सो जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा ज्ञान होता है।

जो जीव अपने आत्मा को पुण्य पाप रूप दोनों शुभाशुभ रागों से रहित दर्शन-ज्ञान में ठहरा हुआ है। अन्य वस्तु में इच्छा रहित और सर्व परिग्रह से रहित हुआ आत्मा से ही आत्मा को ध्याता है तथा कर्म को नहीं ध्याता। और आप चेतनारूप होने से उस स्वरूप के साथ एकत्व का अनुभव करता है। वह जीव दर्शनज्ञानमय हुआ पुण्य मन होकर आत्मा का ध्यान करते हुआ थोड़े समय में ही कर्मो से रहित आत्मा को पाता है।

परवाह मत करो—

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते।
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः॥
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते।
ज्ञानं सच्चसबंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवं॥

अर्थ—हे ज्ञानी! तुझको कुछ भी कर्म कभी करना योग्य नहीं है तो भी तू कहता है कि पर द्रव्य मेरा है सो कदाचित् भी नहीं है और मैं भोगता हूं। तो आचार्य कहते हैं यह बड़ा खेद है, जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है, तो तू खोटा खाने वाला है। हे भाई जो तू कहे कि पर द्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता इसलिये भोगता हूं उस जगह क्या तुझे भोगने की इच्छा है? तू ज्ञान रूप हुआ अपने स्वरूप में निवास करे तो बंध नहीं है और जो भोगने की इच्छा करेगा तो तू आप अपराधी हुआ, अपने अपराध से नियम से बंध को प्राप्त होगा।

आत्मा का परिचय कैसे हो—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावासिरच्युतः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्जानभावनाम्॥

अर्थ—उत्पत्ति, स्थिति, नाश इन तीनों कर्मो का सतत रहना यह तो हुआ वस्तुओं का सामान्य लक्षण। इन्हीं सर्व वस्तुओं के अंतर्गत जीव भी एक द्रव्य या तत्व है। उसका भी सामान्य स्वभाव तो वही है कि जो सर्व वस्तुओं का है। परन्तु जीवों का जो निजी तत्व है वह उसी के कल्याण के लिये सारा घटाटोप है शास्त्रों का उपदेश व व्रत, तप, दान, धर्म. ये सर्व कर्म केवल जीव के ही कल्याणार्थ कहे व किये जाते हैं। इसलिये जीव की निराली पहिचान होना बहुत ही आवश्यक कार्य है। उसके कल्याण के मार्ग उसके जानने पर ही जाने जा सकते हैं। तब ?

जीव का स्वभाव ज्ञान है जीवों को जितने दु:ख, अशांति, उद्वेग, क्षोभ, होते दीखते हैं वह सब रागद्वेष के वश होने से व अज्ञान रहने से। इसी प्रकार जहाँ जहाँ पर राग-द्वेष की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पड़ती है वहां वहां पर सुख-शांति व अनुद्वेग देखने में आता है। वस्तु में उद्वेग व अशांति न रहना यही उस वस्तु का मूल स्वभाव समझना चाहिये। क्षोभ व अशांति अथवा उथलपुथल होना विजातीय संयोग का कार्य है। इसीलिये क्षोभ रहित शांत होकर ठहरना वस्तु का मूल स्वभाव समझा जाता है। रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा में क्षोभ-अशांति मिटती है और शांति प्राप्त होती है। रागद्वेष की अवस्था जैसी जैसी मंद होकर तत्वज्ञान की वृद्धि होती है वैसी ही वैसी जीवों को शांति प्राप्त होती हुई जान पड़ती है। इसलिये रागद्वेष का पूर्ण अभाव होकर ज्ञान की पूर्णता होने को निज स्वभाव व पूर्ण सुख-शांति प्राप्त होने का कारण मान लेना अनुभव के विरुद्ध न होगा।

बस, वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति होना ही अविनाशी अवस्था का प्राप्त होना है। वह अवस्था फिर छूटती नहीं है। इसलिए जो अपने अविनाशी पद की आकांक्षा करते हों उन्हें चाहिए कि, ज्ञान की आराधना करें। क्योंकि, ज्ञान जीव का मूल स्वभाव है। किसी भी वस्तु की चिरकाल तक भावना या आराधना करने से उसकी प्राप्ति एक दिन अवश्य होती है।

शान्ति का उपाय—

पर-वस्तु को त्यागे बिना सुख और शान्ति नहीं मिलती है। एक अवधूत ने देखा कि एक चील अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये उड़ी जाती है और सैकड़ों कौवे और चीलें उसका टुकड़ा छीनने के लिए उसके पीछे कांव-कांव करती चली जा रही हैं। चील ने दुखित होकर मांस का टुकड़ा गिरा दिया और दूसरी चील ने टुकड़ा पकड़ लिया। तब सभी कौवे उस चील के पीछे हो लिए। पहली चील एक पेड़ पर बैठकर शान्त हो गई। इस चील को देखकर अवधूत ने कहा—अरी चील ! तू मेरी गुरु है। तूने मुझको यह उपदेश किया कि जब तक मनुष्य

अपनी तृष्णा की गठरी, जिसके बोझ से वह दवा हुआ इधर उधर फिरता है, न फेंक दे तव तक उसे सुख और शान्ति नहीं मिलती।

भार झोंक के भार में, रहिमन उतरे पार।
वे बूढ़े मंझधार में, जिनके सर पर भार।।

स्व स्वभाव ही मुनि का मोक्ष मार्ग है, इसलिए हे योगी—

अपयत्ता वा चारिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति सदा।।

संयम का घात ही अशुद्ध उपयोग है, क्योंकि उससे मुनिपद का नाश होता है, और अशुद्धोपयोग का होना यही हिंसा है, सबसे वड़ी हिंसा ज्ञानदर्शन रूप शुद्धोपयोग के घात से ही होती है। वह अशुद्धोपयोग मुनि के निरन्तर उस समय ही समझना चाहिए, जिस समय मुनि सोना, बैठना, चलना इत्यादि क्रियाओं में यत्नपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करते। यत्न के विना मुनि की क्रिया अट्ठाईस मूल गुण की घातिनी है। यत्न उस ही समय में नहीं होता, जिस समय में उपयोग की चंचलता होती है, यदि उपयोग की चंचलता न हो तो यत्न अवश्य हो। इसलिए उपयोग की जो निश्चलता है, वही शुद्धोपयोग है। यत्न सहित क्रिया से उपयोग भंग नहीं होता, और यत्न रहित क्रिया से भंग होता है, इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि मुनि को जो यत्न-रहित क्रियाओं में प्रवृत्ति है, वह सव निरन्तर शुद्धोपयोग रूप संयम की घातने वाली हिंसा ही है इसलिए मुनि को यत्न से ही रहना योग्य है।

इसलिए योगी को सर्वथा अन्तरंग रागादि का निषेध करने योग्य है। कहा भी है कि—

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकारो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो।।

जिस समय उपयोग रागादि भाव से दूषित होता है, उस समय अवश्यमेव यति क्रिया में शिथिल होकर गुणों में यत्न रहित होता है। जहाँ यत्न रहित क्रिया होती है, वहाँ अवश्यमेव अशुद्धोपयोग का अस्तित्व है। यत्न-रहित क्रिया से षट् काय की विराधना होती है। इससे शुद्धोपयोगी मुनि के हिंसक भाव से वन्ध होता है। जव मुनि का उपयोग रागादि भाव से रंजित न हो, तव अवश्य ही यति क्रिया में सावधान होता हुआ यत्न से रहता है, उस समय शुद्धोपयोग का अस्तित्व होता है, और यत्नपूर्वक क्रिया से जीव की विराधना का इसके अंश भी नहीं है।

अतएव अहिंसक भाव कर्म लेप से रहित है, और यदि यत्न करते हुए भी कदाचित् पर जीव का घात हो जाय, तो भी शुद्धोपयोग रूप अहिंसक भाव के अस्तित्व से कर्मलेप नहीं लगता। जिस प्रकार कमल यद्यपि जल में डूबा रहता है, तथापि अपने अस्पृश्य स्वभाव से निर्लेप ही है, उसी तरह यह मुनि भी होता है। इसलिए जिन जिन भावों से शुद्धोपयोग रूप अंतरंग संयम का सर्वथा घात हो, उन भावों का निषेध है, और अंतरंग संयम के घात का कारण, पर जीव की वाधा रूप वहिरंग संयम का भी घात, सर्वथा त्याज्य है।

तनगल्लद वस्तुगळोल, मनमिट्टडे बंधमल्लदिर्दडबंधं।
जिनरुपदेशमु मितिदे, निनगरिवडे बंधमोक्ष मितिनिते वलं ॥१६॥

हे जीव! अपने से पर पदार्थ में मन लगाने से कर्म का वंध हो जाता है। अगर पर पदार्थ से मन हटा लिया जाय, मन को अपने आधीन किया जाय तो वंध नहीं होता। इस प्रकार भगवान जिनेश्वर का उपदेश है। अगर तुम भगवान जिनेश्वर का उपदेश ठीक समझ कर उस मार्ग पर चलोगे तो बन्ध और मोक्ष दोनों मार्ग ठीक समझ में आ जायेंगे॥ १६॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने वन्ध का कारण पर-वस्तु में ममत्व बुद्धि रखना बताया है। जब तक वन्ध का कारण ठीक नहीं समझा जाय, तब तक किसी जीव को वंध से छुटकारा पाने का मार्ग भी नहीं मिल सकता। बंध का कारण भाव ही है। जब भाव पर पदार्थ में परिभ्रमण करता है तो जीव पर-वस्तु का बन्ध करता है। जिस समय पर का भाव हटा करके स्वभाव में आ जाता है उस समय बन्ध नहीं करता। अज्ञानी जीव अनादि काल से पर-वस्तु को अपना मान कर संसार में परिभ्रमण करता रहा है। क्योंकि भाव ही वन्ध का कारण है और भाव ही मोक्ष का कारण है। जब तक पर-भाव नाश नहीं होगा तब तक यह आत्मा स्वभाव में नहीं आ सकता। क्योंकि अज्ञानी जीव पर-वस्तु को अपना मान कर उसके साथ जन्म और मरण करते हुए अनेक प्रकार के दु:ख को भोगता है। इसलिए आचार्य कह रहे हैं कि हे अज्ञानी जीव! अनादि काल से तू पर भाव में परिरमण कर आज तक दु:ख उठाते हुए उसी में सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहता है परन्तु जब तक मन पूर्वक पर भाव को अलग नहीं करेगा तब तक शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिए आचार्य का यह उपदेश है कि हे योगिन्! जब तक तू परभाव को दूर कर स्वभाव में परिरमण करने की चेष्टा नहीं करेगा तब तक तुझे सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

बन्ध का कारण विषय भोग—

जब तक वाह्य पदार्थो से रागद्वेष होता है तब तक तुझे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि जितने भी पंचेन्द्रिय जन्य विषय सुख हैं वह सार

रहित हैं यानी निस्सार हैं। परन्तु अज्ञानी जीव यही विचार करके रहता है कि मुझे इसी में सुख और शान्ति प्राप्त होगी। जैसे धान कूट करके चावल के कण को लेकर भुस का ढेर लगता है। उस ढेर के अन्दर चावल के कण ढूंढने का प्रयास करने वाला मूर्ख अज्ञानी है उस जीव के समान यह बहिरात्मा विषय-सुख-लम्पटी होकर सुख की खोज क्षणिक इन्द्रिय विषयों में अर्थात् पर-पदार्थ में प्राप्त करना चाहता है परन्तु वह सुख पर पदार्थ में आज तक किसी को प्राप्त नहीं हुआ है। बड़े-बड़े तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि ने इन्द्रिय क्षणिक सुख को हेय मानकर छोड़ा। पर-भाव को त्याग करके स्वभाव में आये तब उनको स्वभाव में ही निज की प्राप्ति हुई। इसलिये आचार्य करुणा भाव से इस अज्ञानी जीव को उपदेश देते हैं कि हे संसारी जीव! अगर तुझे सुख और शांति चाहिए तो पर भाव को त्याग कर स्वभाव में रमण कर। इसलिए आचार्य ने पर भाव को त्याग करने का आदेश दिया है कि—

संकल्पेदमनिष्टमिष्टमिदामीत्याज्ञातयाथात्मको,
वाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ?
अन्तः शान्तिमुपैहि यावददयाप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्-
ज्वालाभोषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥

हे भव्य! तू वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता। इसोलिए स्त्री पुत्रादि इतर वस्तुओं में मोहित होकर स्त्री पुत्रादि या रत्न सुवर्णादि को हितकारी समझता है, शत्रु, सर्प, विषादि को अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों हा गमाता है? ऐसी कल्पना तेरी तभी तक होती है जब तक कि तू असली आत्मीय शान्ति को प्राप्त नहीं हुआ। ये तेरी सभी कल्पनाएं झूठी हैं, क्योंकि अन्य पदार्थो में तुझे सुख दुःख देने की शक्ति नहीं है। जो कुछ सुख दुःख होते तुझे दीखते हैं वे तेरी ही संकल्प वासना के फल हैं। देख, इधर तू तो यों ही फंसा रहेगा किन्तु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दवा लेगा। इसलिए उससे वचने का उपाय कर। वह यह है कि जब तक, चाहे जब आ जाने वाले निर्दय काल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान अग्नि के मुख में पड़कर तू भस्म नहीं हुआ तभी तक तू अपने अन्तःकरण को शान्त करले, जिससे कि उस काल का आक्रमण आगामी भव के लिए दुःखदायक न हो, क्योंकि अन्तरंग में शान्ति (संतोष) उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का वंध होगा अथवा परम शान्ति उत्पन्न होने पर मोक्ष–सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिए काल का भय मिट जायेगा।

पर-द्रव्य का त्याग भी भाव से होता हे। जब भाव में त्याग भावना होती है तभी द्रव्य का त्याग होता है। अगर भाव का त्याग नहीं है तो वह कर्म-निर्जरा के लिए कारण नहीं होता।

एक अन्य ग्रन्थ का दृष्टांत है कि एक बार व्यास जी ने शुकदेव जी को जनक के पास उपदेश लेने के लिए भेजा। शुकदेव जी ने राजा के द्वार पर जाकर अपने आने की सूचना दी। जनक ने सोच कर कि इनको क्रोध आता है या नहीं कहला भेजा कि अभी द्वार पर ठहरो। तीन घण्टे तक शुकदेव जी द्वार पर खड़े रहे परन्तु उनको तनिक भी क्रोध नहीं आया। तब राजा जनक उनको अन्दर ले आया। शुकदेव जी ने देखा कि स्वर्ण सिंहासन बैठने के लिए रक्खा हुआ है। सेवा के लिए दास-दासियों की कमी नहीं है। शुकदेव जी ने सोचा—जो राजा इस प्रकार भोग विलास में मग्न हो वह मुझे क्या उपदेश दे सकेगा। इतने में एक नौकर चिल्लाता हुआ आया और कहने लगा कि महाराज ! नगर में आग लग गई, राजभवन के द्वार तक आग आ पहुंची है। अगर शीघ्र ही रोक थाम न की जायेगी तो समस्त राजभवन जल जायेगा। जनक उसी प्रकार बैठे रहे और उसके बारे में कुछ विचार प्रगट नहीं किया। परन्तु शुकदेव ने कहा कि महाराज द्वार ! पर मेरा दण्ड कमंडलु रखा है उसे लेता आऊं नहीं तो वह सब जल जायेगा। कहने का मतलब यह है कि शुकदेव जी के स्वभाव में और भीतर के त्याग में बहुत अन्तर था। कहने का तात्पर्य है कि जनक को घर में होते हुए भी घर जलने की चिन्ता नहीं थी और अपने स्व-पर के ज्ञान से विचार करते हुए मन में विचार किया कि घर तो जलेगा ही क्योंकि यह जड़ है और यह जलेगा अपनी मर्यादा पूर्ण होने पर अपने आप जल जायेगा। परन्तु मेरी आत्मा कभी न जलने वाली है, न गलने वाली है, न जमने वाली है, यह सभी मोह की महिमा है। जब तक इस पर मोह रहेगा तब तक सब दुःख बना ही रहेगा।

इसका सारांश यह है कि जब तक अन्तरंग में पर-वस्तु के प्रति भाव लगा हुआ है तब तक इस जीव को सुख और शान्ति मिलना अत्यन्त कठिन है। इसलिए भाव से मोक्ष है और भाव से ही संसार है। तब संसार भाव से छूटता है, जब स्व-द्रव्य में आता है। इसलिए हे योगी ! तू भाव से आत्मा को, बन्ध होने वाले पर-पदार्थ के प्रति अपने उपयोग को हटाकर अपने स्वभाव के प्रति सन्मुख होने का प्रयत्न कर। यह आत्मा अनादि निधन है, निर्विकार है, शुद्ध है, चिदानन्द रूप है, और पर द्रव्य को अपना मान कर अनादि काल से इस जड़ वस्तु के निमित्त अनेक प्रकार के दुःख उठा रहा है। इसलिए हे योगी ! विवेकी जन एकाग्र होकर सम्पूर्ण पर-पदार्थ को त्याग करके जब आत्मा में लीन होता है तो अपने अन्दर आत्मा का अनुभव करके उसी में रत होकर अखण्ड अविनाशी सुख की प्राप्ति करता है। इसीलिए बाह्य पदार्थ को बिल्कुल अपने आत्मा से भिन्न कर ऐसा विचार कर कि ये आत्मा वचन गोचर नहीं है, शरीर से मिश्रित न होकर इस शरीर में रहता है। स्व संवेदन से यह गम्य है। इसकी महिमा विचित्र है। विवेकी जन स्वतः के ज्ञान से जो स्वतः को जानते हैं उसे स्व-संवेदन

कहते हैं। इसलिए हे जीव ! यह मोक्ष के समीप पहुंच जाता है जब स्व-ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस परमात्मा को तू स्वयं अपने अन्दर ही अनुभव कर सकता है। परन्तु दूसरों को बोल कर बता नहीं सकते हैं। सुनने वालों को सब बातें आश्चर्य कारक हैं। परन्तु ध्यान और अनुभव करने वाले को सत्य मालूम होती हैं। आत्मा में विकार उत्पन्न करने वाली इन्द्रियों को बाँध कर श्वास के प्रवेश को रोक कर, मन को दबा कर चारों तरफ देखने वाली आंखों को बन्द करके यह आत्मा प्रत्यक्ष होता है। हे योगिन् ! वह जिस समय दिखता है उस समय मालूम होता है कि शरीर रूपी घड़े में दूध भरा हुआ है। या शरीर रूप घर में शीतल प्रकाश के समान मालूम होता है। इसलिए तेरा आत्मा धारण किये हुए इस तेरे शरीर के अन्दर सम्पूर्ण भरा हुआ है वह अनुभव-गम्य है। दूसरे को बता नहीं सकते हैं। धूप और प्रकाश तो इन्द्रिय-गम्य है। परन्तु इसकी यह उपमा ठीक नहीं है। आकाश के समान आत्मा अरूपी है परन्तु आकाश में ज्ञान दर्शन उपयोग नहीं है। आत्मा में शुद्ध चैतन्य है और यह पवित्र है, वचन के अगोचर है। वह ऐसा है वैसा है इत्यादि कहा नहीं जा सकता। इसलिए यह भी तू अपने अन्दर पर-वस्तु को छेड़ छाड़ न करके आप ही अपने अन्दर रत होकर इस प्रकार विचार करके देख कि मैं इसका वर्णन नहीं कर सकता हूं। इसलिए सम्पूर्ण बाहर की दृष्टि को हटा कर अपने प्रति दृष्टि लगा करके देखने से यह पता लगता है कि असल में मैं कौन हूं किस रूप में हूं किस अवस्था में हूं। मेरा स्वरूप क्या है, मेरी शक्ति क्या है, तब बाद में सब पता चलेगा। हे योगी ! लोक में जो अप्रतिम है ऐसे अच्युत रूप को किसी पदार्थ के साथ रखकर कैसे बराबरी कर सकते हैं। इसकी बराबरी की कोई चीज नहीं है। सब पदार्थों को अपने आप ही जानना और देखना उचित है। सामने रक्खे हुए पदार्थ के साथ उपमित कर ऐसा है वैसा है कहना यह सब उपचार है। परन्तु आत्मा एक ही दिन में दीखने वाला नहीं हैं। क्रम क्रम से ही दीखेगा। आत्मा कभी-कभी अनेक चन्द्र और सूर्य के प्रकाश के समान उज्वल होकर दिखाई देता है। कभी-कभी चंचलता आने पर मन्द दिखाई देता है। फिर स्थिरता आने पर प्रकाशमान दिखाई देता है। फिर हृदय मुख गर्भ में प्रकाशित होता है इसलिए कभी-कभी प्रकाश मन्द मन्द दिखने लगता है। इसी प्रकार आत्मा भी दृष्टिगोचर होती है। हे योगी ! ध्यान के समय जो प्रकाश दीखता है वह श्रुत ज्ञान है, सुदर्शन है, रत्नत्रय है। जिस समय कर्म झरने लगता है तब आत्म सुख की वृद्धि होती है। आँखों की छोटी सी पुतलियों से क्या यह कभी दिखाई दे सकता है ? अर्थात् नहीं। उस समय यह आत्मा सर्वांग से देखने लगता है। चर्म चक्षु से दिखने वाली आत्मा नहीं है। ज्ञान चक्षु के द्वारा प्रतीत होती है। हृदय और मन से जानने से क्या आत्मा दिखाई देगा ?

अर्थात् नहीं दिखेगा। नासिका, जिह्वा आदि अल्प इन्द्रियों का सुख कहाँ। क्योंकि यह इन्द्रिय सुख केवल वाह्य पंचेद्रिय विषय को तृप्त करने वाला है परन्तु इस आत्मा को पंचेन्द्रिय सुख कभी भी तृप्त नहीं कर सकता है। जिस समय अपने अन्दर सर्वांग में आत्मा आनन्दित होने लगती है तब सर्वांग शरीर में सुख का अनुभव करता है। हे योगिन्! ऐसा वैभव किसको प्राप्त हो सकता है? वह वैभव महान योगियों को ही प्राप्त हो सकता है।

जिस समय आत्मा अपने निज स्वरूप में रत हो जाता है, वाहर की बोल चाल वन्द हो जाती है। शरीर नहीं चलता है। कोई संकल्प विकल्प की भावना नहीं आती है। कषाय की भावना वन्द हो जाती है। मन स्थिर रहता है, तब आत्मा उज्वल प्रकाशमान दिखाई देती है। जब मन अपने स्वरूप को छोडकर पर में इन्द्रियों की तरफ जाता है तब शरीर थोड़ा सा हिलने लगता है तब शरीर के साथ आत्मा भी चंचल होती है। जिस प्रकार जहाज के साथ अन्दर बैठे हुए मनुष्य भी हिलने लगते हैं, इसी प्रकार शरीर का सम्बन्ध होने के कारण आत्मा हिलने वाली कही जाती है। हे योगिन्! अभ्यास के समय थोड़ी सी चंचलता जरूर उत्पन्न होती है। परन्तु अच्छी तरह अभ्यास होने के वाद महान गम्भीर निश्चल हो जाता है। इस समय ये आत्मा पुरुषाकार अत्यन्त उज्वल दिखाई देता है। परन्तु उस समय कोई क्षोभ नहीं दिखाई देता।

हे योगिन् उस समय उसका वर्णन क्या कर सकते हैं मानो देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाश की यह पुतली है या प्रभा की मूर्ति है। या चिदानन्द की मूर्ति है। या कांति का पुरुष है। या चमक का विम्ब है, या प्रकाश का चित्र है। इस प्रकार यह आत्मा अन्दर से प्रतीत होता है। विशेष क्या कहूँ क्या जुगनू ने यह रूप धारण किया हैं अथवा क्या हाथ को न लगने वाले दर्पण ने ही तो पुरुष रूप को धारण नहीं किया? पहले कभी अन्यत्र इस स्वरूप को नहीं देखा था। ऐसे आश्चर्यकारक शरीर को अनुभव करने लगता है उसमें रमण होता है। चमकने वाली विजली की मूर्ति यह कहाँ से आई है, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार आश्चर्य के साथ यह ज्ञानी उस आत्मा को देखने लगता है। जिस प्रकार स्वच्छ शुद्ध निर्मल दर्पण में वाह्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार अनेक जगत के सम्बन्धित पदार्थ उस निर्मल आत्मा में झलकते हैं तव उसे अखिल विश्व प्रपंच ही देखने में आता है। यह आत्मा इस अल्पदेह में कैसे आकर समाया। इसमें समस्त त्रिलोक में फैलने की शक्ति होने पर भी यह छोटे से शरीर में कैसे आया है। थोड़े से स्थान में किसने भर कर रखा है। लोकाकाश में फैल जाने की निर्मलता इसमें है। फिर थोड़े से स्थान में यह कैसे रुक गया है। यह कितने आश्चर्य की वात है।

हे योगिन् ! उस समय कर्म पिण्ड एक दम झरने लगता है और चित् कला एक दम चमकती हुई दिखाई देती है अर्थात् अनन्त सुख धीरे धीरे अनुभव होता है जैसे प्रात: कालीन सूर्य की किरण अरुण प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा का अनुभव जैसे जैसे होने लगता है वैसे आत्मा में प्रकाश आता जाता है। ये सभी बातें अनुभव-गम्य हैं। गर्मी की धूप में अधिक तेज होने के कारण जिस प्रकार बर्फ पिघल जाती है, उसी तरह निर्मल आत्मा का प्रखर प्रकाश होने पर कार्माण भी पिघलने लगता है। उस समय देखने वाला भी आप है और प्रशंसा करने वाला भी आप ही है और, देखकर आश्चर्य करने वाला भी आप ही है। इस प्रकार इसको देखते ही आश्चर्य-चकित होता है। इससे आगे प्राप्त होने वाला मोक्ष भी वही है। यह आत्मा का स्वरूप है।

हे योगिन् ! यह आत्मा तीन शरीर के अन्दर जब तक बन्द रहता है तब तक आत्मा को संसारी कहते हैं। जब ध्यान करने के बाद तीनों शरीरों का नाश किया जाता है, उसको मोक्ष कहते हैं। यह आत्मा स्वयं अपने आपको देखने लग जाती है तो शरीर का नाश हो जाता है। शरीर की तरफ देखकर शरीर सम्बन्धी इन्द्रिय-विषय की तरफ देखता है वह पर माना जाता है। दूसरे हजारों उपायों से उसे नाश करना कठिन है। अपने से भिन्न कर्मों को नाश करके यह आत्मा मुक्ति-साम्राज्य को प्राप्त होता है। इस आत्मा को वहाँ ले जाने वाली और रोकनें वाली कोई अन्य सामर्थ्य नहीं है।

पर-बुद्धि को त्याग किये बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस पर एक दृष्टांत है।

कोई एक सच्चा जिज्ञासु एक गुरु के पास गया। उसने प्रार्थना की कि महाराज ! मुझे कोई ऐसी युक्ति बता दीजिए कि जिससे भगवान् के साक्षात् दर्शन मिल जायें। गुरु जी ने आज्ञा दी कि उस दालान में वर्ष भर तक निरन्तर भजन और उपासना करके अपने मन को पवित्र कर डालो, तब भगवान का साक्षात्कार होगा। उसने गुरु की आज्ञानुसार पूरे वर्ष भर वहीं बैठकर रात दिन भजन किया। वर्ष पूरा होने के दिन जब वह भक्त भजन में मग्न था, गुरु महाराज ने घर की महतरानी से कहा कि उसके पास जाकर झाड़ू दे और खूब गर्द उड़ा। महतरानी ने वैसा ही किया। इस पर वह भोला भक्त डण्डा लेकर उठा और भंगिन से कहने लगा—तूने मेरा आनन्द क्यों बिगाड़ दिया? थोड़ी देर बाद वह अपने गुरु के पास जाकर कहने लगा—महाराज ! एक वर्ष तो बीत गया, पर भगवान के दर्शन नहीं हुए। तब गुरु बोले—मन का क्रोध विषैले साँप की तरह उछलता और काटता है। क्या दर्शन पाने के यही लक्षण हैं? जा, एक वर्ष और मन जीत कर अभ्यास कर। भक्त लज्जित हुआ और फिर एक वर्ष तक डट कर अभ्यास किया। जब दूसरा वर्ष

पूरा होने को आया तो गुरु महाराज ने फिर उस भंगिन को बुलाकर कह दिया— इस बार उसके भजन के समय खूब शोर गुल मचा और उसके ऊपर कुछ कूड़ा भी डाल दे। इस बार भक्त ने इस विघ्न पर उतना क्रोध तो नहीं किया, परन्तु कसमसा कर भंगिन से कहा—दुष्टे ! यह तेरा कैसा स्वभाव पड़ गया है कि भक्तों का कुछ विचार नहीं रखती और संभल कर झाड़ू नही लगाती ? फिर जब उसने जाकर गुरु जी से प्रार्थना की तो गुरु महाराज ने उत्तर दिया, कि अब तक तेरे मन रूपी साँप का सिर नहीं कुचला गया है। काटता तो नहीं, फुंकार मारता है। जा, फिर एक वर्ष तक भजन कर। बेचारा अपनी कमी पर लजाकर फिर भजन में जा लगा। जब तीसरा वर्ष पूरा होने पर आया तो गुरु जी ने भंगिन से कहा—"आज बाल्टी में विष्टा घोलकर ले जा और जब वह भजन में मस्त होकर बैठा हो तब उसे खूब नहला दे। जब उसने ऐसा किया तो भक्त जो इस समय भजन में आनन्द मग्न था, सच्ची भक्ति से भंगिन के पैरों पर गिर पड़ा और बोला कि तेरे ही द्वारा मेरा सुधार हुआ और आज मेरी कामना पूर्ण हुई।

जब तक भीतरी रागद्वेष की परिणति नहीं छूटती है तब तक बाहरी क्रिया काण्ड कर्म निर्जरा के लिए कारण नहीं होता है। इसलिए अन्तरंग का मल साफ करके जब साधु दोनों तपों में लीन होता है, तब निजात्मा की प्राप्ति करके इस बाह्य संसार से मुक्त होकर अखंड सुख-सागर में हमेशा रत रहता है।

रत्नत्रय में रत होकर जिसनें तीन शल्यों का त्याग कर दिया है उसके लिए मोक्ष की प्राप्ति कठिन नहीं है—

मत्तं रत्नत्रयदोळ् पत्तिये शल्यत्रयंगळमं तौरेदवर।
त्युत्तमनिर्वृति सुखमं पेत्तु जगत्स्तुत्यरप्पुदोदंच्चरियें ॥१७॥

हे योगी ! तत्पश्चात् सत् श्रद्धा, सत् ज्ञान और सम्यक् चारित्र में लीन होकर मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य, पर भव में सुख की इच्छा रूप निदानशल्य को जिन्होंने त्याग दिया है, वही पुरुष श्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकता है और वह ही जगत में पूजनीय माना जाता है। इसलिए योगी ! तू जब तक इन शल्यों का मन से त्याग नहीं करेगा तब तक तुझे सिद्धात्मा की प्राप्ति अर्थात् सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

शल्य तीन प्रकार की है। माया, मिथ्यात्व और निदान। आत्मा से भिन्न पर-वस्तु को निज वस्तु मानकर आत्मा से रुचि नहीं करना, उसको मिथ्यात्व कहते है क्योंकि संसार में जितने भी रूपी पदार्थ हैं वे आत्मा से भिन्न हैं अपने नहीं हैं। अन्य वस्तु के प्रति ममता की भावना रखना उसको मिथ्यात्व कहते हैं।

या असत्य को सत्य समझकर उसकी आराधना करना उसकी शल्य रखना उसको मिथ्यात्वशल्य कहते हैं। माया शल्य उसे कहते हैं जो आत्मा से भिन्न असत्य वस्तु हैं उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे जीवों को धोखा देना या अन्याय या चापलूसी से उनके साथ कपट व्यवहार करके कोई चीज प्राप्त करना या कपट भाव से चारित्र का आचरण करना उसको माया शल्य कहते हैं । इस मायाचार से जीव तिर्यञ्च योनि में भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार की वेदना को सहता है। कपट बुद्धि रखने वाले अज्ञानी जीव को कभी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं होती। कपट के कारण पाप की वृद्धि होती है। माया शल्य अनेक प्रकार का दु:ख देने वाली है, यह निन्द्य गति में पहुँचाने वाली है। इसलिए मायाचार या छल कपट की प्रवृत्ति कभी नहीं रखनी चाहिए। जब यह जीव पंचेन्द्रिय विषयों के आधीन होकर पर वस्तु में आसक्त होता है, तभी यह जीव शरीर, आयु पूर्ण होते समय तक शरीरादि पर-पदार्थों को छोड़ने की इच्छा नहीं करता। जब यह शरीर आत्मा से भिन्न होता है, तब बहुत दिनों के संस्कार के कारण यह जीव मरते समय भी शरीर या धन आदि को छोड़ना नहीं चाहता। इस प्रकार मन में विचार करता है कि इसी प्रकार फिर मुझे ऐसा ही शरीर प्राप्त हो। तथा पुन: इस संसार में भोग मिलें। इस प्रकार इस संसार में निदान करके यह जीव फिर पर्याय धारण करता है। इसलिए सबसे पहले शल्यों को दूर करना चाहिए। कहा भी है कि–'नि:शल्यो व्रती'– जब तक शल्य दूर न हो, तब तक वह नि:शल्य नहीं कहलाता। और जब तक नि:शल्य न हो तब तक व्रती नहीं होता।

सोमदत्त नामक एक बड़ा विद्वान ब्राह्मण था। वह जिन शासन का अनन्य भक्त था। एक दिन धर्मरुचि नामक मुनिराज आहारार्थ आये। मुनिराज को देखकर सोमदत्त उठा और बड़े आदर से आहार के लिए पड़गाहन किया। किसी आवश्यक कार्य के कारण वह मुनि को आहार कराने का कार्य अपनी स्त्री को सौंप कर चला गया। ब्राह्मणी नागश्री के पाप कर्म का उदय था, अत: मुनिराज को देखते ही उसकी आत्मा मारे क्रोध के भभक उठी और उस दुष्टा ने विष मिलाकर आहार मुनिराज को दे दिया। जिससे कि वे सन्यास पूर्वक मरण कर सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हो गये। नागश्री का दुष्कृत्य जब सोमदत्त के भाई आदि ने सुना तो उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने मुनिराज वरुण के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली। नागश्री मरकर प्रखर पाप के उदय से धूम्रप्रभा नामक पाँचवें नरक में उत्पन्न हुई और वहाँ सत्रह सागर की आयु प्राप्त की। उसके पश्चात् वहाँ से निकलकर दृष्टि विषसर्प बनी फिर तीसरे नरक में गई और अनेक योनियों में घूमती हुई "चम्पा नगरी में सुबन्धु नामक वैश्य के सुकुमारिका नामक की पुत्री हुई। अपने चाण्डाल कन्या के पूर्व भव में उसने मुनिराज से मद्य

मांस आदि का त्याग किया था इसलिए उसने बहुत सुन्दर रूप पाया । परन्तु पाप के उदय से शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित था । उससे कोई भी व्यक्ति विवाह करने को तैयार नहीं होता था । किसी प्रकार जिनदत्त नाम के एक युवक से विवाह भी किया परन्तु दुर्गन्धि के कारण उसने उसे छोड़ दिया । जब सुकुमारिका ने अपनी यह दशा देखी तो उसे बड़ा वैराग्य हो गया और शान्ता नामक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर ली । एक दिन उसी गाँव की गणिका वसन्तसेना वन विहार के लिए अपने अनुरागी जार पुरुषों के साथ जंगल में आई । उसे देखते ही आर्यिका सुकुमारिका ने बड़ी लालसा से यह निदान किया कि मुझे भी आगे के जन्म में ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो । तप के प्रभाव से आयु के अन्त में मर कर वह अच्युत स्वर्ग में गई । और वहाँ से वह निदान बन्ध के कारण स्वर्ग से चलकर राजा द्रुपद के द्रौपदी नामक कन्या हुई ।

इसी तरह से यह जीव निदान आदि शल्य के द्वारा अनेक योनियों में भ्रमण करके अपनी आत्म-भावना से वंचित रहा । इसलिए हे योगिन् ! इन शल्यों का त्याग करके अपने शुद्ध आत्म-स्वभाव का मनन करो । इस प्रकार करने से तुझे मोक्ष दूर नहीं । मोक्ष का अर्थ सम्पूर्ण मोह ममता आदि समस्त द्रव्य कर्मो से छूट जाना है । इसलिए तू अब पर भव के विषयों की इच्छा का बिल्कुल त्याग करके शल्य-रहित होकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मय आत्मा के सम्मुख होकर अपने अन्दर रमण कर तब तू पर से मुक्त हो जायगा ।

एन्नेवरं तनु तानें, वन्नेवरं जवन धाळिमाणदुजीवा ।
तन्नं तन्नोळगरिदडे, बिण्णने मुक्ति पदवियप्पुदमोघं ।। १८ ।।

हे जीव ! 'मैं शरीर ही में हूँ' ऐसी भावना जब तक तेरे मन में है तब तक यमराज का डण्डा तेरे साथ साथ ही चलेगा । कहीं भी चले जाने पर यमराज तेरा साथ नहीं छोड़ेगा । अगर तू उससे बचना चाहता है तो तू अपने को अपने अन्दर ही समझ कर सार्थक ऐसे मोक्ष पद को प्राप्त कर सकता है । शरीर का मोह जब तक नहीं छूटेगा तब तक शरीर शत्रु के समान इस आत्मा को हमेशा दु:ख देकर अनेक प्रकार की निद्य गति में घसीटता रहेगा इसलिए अब तू सावधान होकर जिस शरीर को अनादि काल से अपना मान कर उसकी रक्षा के लिए अनेक प्रकार के जाल तूने रचाये, अनेक प्रकार के अन्याय दूसरे जीवों के साथ करके तूने इन्द्रिय विषय भोग की सामग्री को जुटाया । उस शरीर के द्वारा होने वाले दु:ख का वर्णन कहां तक करें । तुझे एक मिनट भी इस शरीर से सुख और शांति चारों गतियों में प्राप्त नहीं हुई । यह शरीर तेरा जेलखाना है । कहा भी है कि—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसांद्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालये,
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ।।

अरे मूर्ख ! तू इस शरीर में वृथा क्यों आसक्त हो रहा है ? इस शरीर को तू केवल जेलखाना समझ। जेलखाना बड़े बड़े पत्थर शहतीर वगैरह लगकर बनता है, यह शरीर हड्डियों से बना हुआ है। शरीर शिरा स्नायुओं से जकड़ा हुआ है। कैदी लोग कहीं से निकल न जांय इसके लिए जेलखाना सब तरफ से ढका हुआ होता है, यह शरीर भी चमड़े से ढका हुआ है। जेलखाने में जहां तहां कैदियों के आघात से रुधिर मांस दृष्टिगोचर होता है परन्तु शरीर के भीतर सभी जगह वह भरा हुआ है। कैदी कहीं भाग न जांय इसके लिए जेलखाने के आसपास, जेल के स्वामी की तरफ से दुष्ट क्रूर मनुष्य पहरा दिया करते हैं, इसी प्रकार इस शरीर में भी दुष्ट कर्म शत्रुओं का पहरा लगा रहता है। जेलखाने में दरवाजों के बीच में अर्गल की लकड़ी पड़ी रहती है जिससे कैदी बाहर न निकल जांय। यहाँ पर जीव रूप कैदी शरीर में से बाहर नहीं निकल सकता है। जबकि ऐसा है तो शरीर और जेल-खाने में क्या अन्तर है ? कुछ भी नहीं। अरे, जेलखाने से तो तू इतना डरता है कि, दिन दो दिन वहां रहना भी तुझे कष्ट जान पड़ता है, और तू निरन्तर विचार करता होगा कि इस कष्ट से कब छूटूंगा, अथवा इसमें कभी फिर न जाना पड़े। परन्तु इस शरीर-जेल का तो यह हाल है कि एक से छुटकारा हो तो दूसरे में चला जाना पड़ता है, दूसरे से निकला तो तीसरे में घुसना पड़ता है। अनादि काल से लेकर आज तक तेरा इससे कभी क्षण भर के लिए भी छुटकारा नहीं हुआ। तो भी तू इसके बन्धन से इतना डरता नहीं है, यह आश्चर्य की बात है। अथवा इससे जान पड़ता है कि तू पूरा अज्ञानी है, तुझे कुछ भी हिताहित की समझ नहीं है। शरीर के समान ही घर कुटुम्बादि भी दुःखदायक हैं—

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं ।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ।।

शरण नाम घर का है, परन्तु वह तेरा असली शरण नहीं हो सकता, क्योंकि घर के भीतर से भी जीव को मृत्यु छोड़ती नहीं है। बन्धुजन भी सर्व पाप कर्म का बंधन होने के लिए कारण हैं, क्योंकि, बंधुजनों के प्रेमवश होकर

जीव अनेक कुकर्म करता है। जिसका चिरकाल से परिचय हो रहा है, ऐसी अपनी स्त्री को तू सुख का साधन समझता होगा परन्तु वह सब तरह की विपत्ति आकुलता व्याकुलता देने वाली है। पुत्र भी जन्म से ही माता का यौवन नष्ट कर देते हैं, बाल्यावस्था में माता पिता को अनेक कष्ट देते हैं। उनके लालन पालन के लिए अनेक कुकर्म करके भी धन कमाया जाता है जिसे कि वे यों ही खोदेते है। दुष्ट होने पर आगे वे माता पिता की कीर्ति को मलिन करते हैं। बहुत से कुपुत्र जीतेजी भी माता पिता को अनेक कष्ट देते हैं। इसलिए ये साक्षात् शत्रु हैं। इनसे बड़ा शत्रु और कौन होगा? इस प्रकार विचार करने पर ये सभी चीजें दुःख की ही कारण जान पड़ती हैं। इसलिए जिन्हें सुखी बनना हो उन्हें चाहिए कि वे इन सभी का सम्बन्ध तोड़ कर एक निर्मल धर्म से प्रीति करें।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः।
संबन्धेन किमंग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः॥
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा।
देहिन् याहि सुखाय ते सममुं मा गाः प्रमादं मुधा॥

अरे मित्र, जैसे सूखा ईंधन पड़ने से अग्नि बहुत ही जाज्वल्यमान होती है, उसी प्रकार आशा रूप अग्नि को प्रज्वलित करने में धन, ईंधन का काम देता है। जब कि धन से दुःख का कारण असंतोष बढ़ता है तो वह किस काम का है? उससे सुख कैसे मिल सकता है? जो निरन्तर अशुभ कृत्य में भिड़ाने वाले तथा अशुभ कर्म का बंध जिनके योग से होता हो ऐसे सम्बन्धी तथा बन्धु जनों का सम्बन्ध भी किस काम का है? मोह रूप सर्प के बड़े भारी बिल के समान इस देह से तथा घर से भी क्या प्रयोजन है कि जिसमें प्रवेश करने से मोह रूप सर्प अवश्य डंसले, और फिर उसके विष का फल नरक निगोदादि खोटी गतियों में पड़कर अनन्त काल तक भोगना पड़े। अरे जीव! तू निश्चय समझ, ये सर्व दुःख के ही कारण हैं। इसीलिए तू इनमें वृथा फंस मत-इनमें राग द्वेष मत कर। किन्तु इन पर-वस्तुओं से राग द्वेष दूर करके समता धारण कर, तभी तुझे सुख प्राप्त होगा। सारांश यह है कि जीव के सुख का कारण सब अवस्थाओं में संतोष, समता ही है, और जहाँ जहाँ राग द्वेष का प्रादुर्भाव है वहीं वहीं दुःख है।

इस शरीर का सार एक ही है कि जो महानुभाव इन्द्रिय असंयम और प्राणि असयम दोनों प्रकार के असंयमों से रहित गुरु के चरण कमलों के सेवन से प्राप्त देदीप्यमान तेरह प्रकार के चारित्र का भक्तिपूर्वक आचरण करता है वह पुरुष निंदित कर्मों का सर्वथा नाश करके अद्भुत आनन्द प्रदान करने वाली पर-ब्रह्माराधना (निश्चय चारित्र) को प्राप्त करता है।

अध्यात्म भेद मरियद, उद्धत नागिर्दु पिरिदुमज्ञानतेयं।
पोदि बेसादियं नप्पोड, कर्दमदोळागिर्द लोहदंतिरे किडिगुं ॥ १९ ॥

अर्थ — जो मूढ़ प्राणी जब तक अध्यात्म और पर-पदार्थ के भेद को नहीं समझता है और बिना समझे अहंकार के वशीभूत होकर एकान्त मत को ग्रहण करता है, वह अज्ञानी होकर अज्ञान से अपना हठ पकड़ करके एकान्त मत में लगा रहता है, ऐसे एकान्तमत में जो आसक्त हो गया है वह मनुष्य कभी अपनी आत्म उन्नति नहीं कर सकता है। जैसे लोहा कीचड़ में पड़ा रह कर जंग पकड़ लेता है, उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण तथा भेद-विज्ञान के अभाव में अज्ञान रूपी मलिनता से संसार रूपी कीचड़ में पड़ कर अपने आप को अनेक गतियों में भ्रमण कराने का कारण बन जाता है। जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ लोहे का नाश होता रहता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव के गुणों का नाश होता रहता है।

विवेचन—इस श्लोक में ग्रंथकार ने यह बतलाया है कि जब तक किसी जीव को आत्मज्ञान नहीं होता तब तक यह जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है। क्योंकि, जब तक इसको स्व और पर का ठीक ज्ञान न हो, तब तक यह अज्ञानी प्राणी यथार्थ स्वरूप को समझ नहीं सकता, उसकी जितनी भी तपश्चर्या, जितना भी उपवास आदि बाह्य क्रिया, हैं वे कर्म निरोध के लिए कारण नहीं बनती है। निर्जरा का कारण आत्म-ध्यान ही है। आत्म ध्यान भी तब ही हो सकता है जब आत्मा के प्रति रुचि हो और संसार के प्रति अरुचि हो। जब तक संसारी विषय-वासना में रुचि बनी रहेगी तब तक आत्मानुभव की रुचि उस जीव को नहीं हो सकती है। इसलिए आचार्य ने कहा है कि जब तक व्यवहार और निश्चय को ठीक नहीं समझे तब तक आत्मज्ञान होना दुष्कर है।

हे आत्मन्! अगर तू चिदानन्द आत्म-बोध प्राप्त करना चाहता है तो तू समस्त वाद विवादों को अथवा अनेकवि–कल्प–बाह्य विकल्प को त्याग दे। और अपने आत्म-स्वरूप का भली प्रकार ज्ञाता द्रष्टा बन। तुझे व्यर्थ वितण्डावाद तथा अनेक प्रकार की बाह्य कथा से क्या प्रयोजन है। मुँह मटका कर, अंगुली घुमा कर, विचार चर्चा करने से नहीं मिलता क्योंकि यह बाह्य तर्क है। ऐसा करने से तू अज्ञानी पशु के समान आत्मज्ञान से शून्य समझा जायेगा। तू तो अंतरंग तर्क का आश्रय ले। अपनी दृष्टि अंतरंग की ओर रख। जिससे तुझे आत्मबोध का लाभ हो तथा अपने स्वरूप को भली भांति समझ जावे। आत्म-प्रबोध आत्मा की ओर दृष्टि रखने से ही होता है। यही इसका सार है। जब तक इस आत्मा पर अहंकार रूपी पिशाच का प्रकोप रहेगा तब तक यह आत्मा आनन्दमय स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता है। अतएव तू परम पवित्र बीजाक्षर महामंत्र की आराधना कर जिससे अहंकाररूपी पिशाच नष्ट हो जावे। तू अपनी महिमा से

दूसरों को रंजायमान करने का अथवा भूत पिशाच जीवजन्त आदि की वाधाओं को दूर करने के लिये हुं फटकार वषट् आदि मंत्रों के प्रयोग का अभ्यास न कर। स्मरण रख कि ऐसे अभ्यास से तेरी जागृत आत्मा की ज्योति मंद पड़ जायेगी। जिससे आत्म-कल्याण न हो सकेगा। आत्मा का कल्याण तो आत्म-स्वरूप में ही लीन होना है। वह आत्मा अचिन्त्य अविनाशी सम्यक्ज्ञान आदि गुणों का पूर्ण भंडार है।

जब तुझे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तब तू इन वाह्य पदार्थो का वर्णन कभी नहीं करेगा। तथा तेरा नूतन रसीले काव्यों के रचने का जो भावोद्रेक है वह भी एक ओर किनारा कर जायेगा, तू एक मात्र सत्य-स्वरूप में ठहर जावेगा। जो जीव रंग विरंगे वाह्य आडम्वर-पूर्ण पदार्थो के रंग में रंग रहे हैं तथा निज-आत्मा के ज्ञान से सर्वथा विमुख हैं उनकी गणना की जाय तो अधिक से अधिक मिलेगी। परन्तु यथार्थ बुद्धिमान तत्वों की खोज करने वाले मनुष्य वहुत कम मिलेंगे। इसलिये जो मनुष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने का अभिलाषी है उसे अहित से बचकर प्रेम-पूर्वक हित में प्रवृत्त होना चाहिये। वाह्य चटक मटक में उलझ कर आत्म-घात नहीं करना चाहिये। क्योंकि हित से कल्याण एवं अहित से अकल्याण होता है। अकल्याण ही आत्मा का घात है।

इस असार संसार में इन्द्रिय-जनित पराधीन विषयों से अंत में उत्तर-काल में दुःख ही मिलता है। उनमें रागद्वेषादि का त्याग और उपाधिरहित सारभूत समीचीन शाश्वत अनुपम सुख को उत्पन्न करने वाली विद्या का अवलम्बन करो। अविद्या का सम्बन्ध दूर से ही त्याग दो। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से विभूषित विद्या अध्यात्म के नाम से प्रसिद्ध है। अध्यात्म-विद्या ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को वतलाने वाली है। उत्कृष्ट विद्या तो सम्यक्ज्ञान है इसे ही प्राप्त करो। अविद्या का दूर से त्याग कर दो। मिथ्यात्व से उत्पन्न हुई भ्रान्ति, तथा विपरीत ज्ञान इसकी जड़ है, अज्ञान रूपी हरी भरी क्यारी तथा मोहरूपी वट-वृक्ष के आश्रय है। जिस पर नाना प्रकार के संकल्प विकल्प रूपी मोड़े देकर चढ़ा जाता है। रागद्वेषादि उस वृक्ष के नवीन पल्लव हैं। इन्द्रियों के विषय उसके गुण और पाप रूपी फल जिसमें लद रहे हैं। ऐसा अविद्या रूपी वृक्ष समस्त संसार में फैला हुआ है। प्रायः ऐसे वृक्ष संसार में व्याप्त हैं।

योगियों को चाहिये कि वे अविद्या रूपी प्रवल शत्रु से वचें तथा कल्याण-कारी परम पवित्र अध्यात्म-विद्या रूपी सूर्य हृदय से स्वीकार करें। अविद्या ही चेतन तथा अचेतन तथा सूक्ष्म पदार्थ में शंका करा देती है। स्पष्ट नहीं जानने देती। इतना ही नहींबल्कि निर्मल आत्मज्ञान रूपी चन्द्रमा के उदय को अविद्यमान समान कर देती है। यह अविद्या घोर अंधकारमयी अंधेरी रात के समान है। जिस प्रकार अंधेरी रात में समीप रखा हुआ भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं

होता अथवा स्पष्ट रूप में न दीखने के कारण सीप में चाँदी, रस्सी में सर्प, सप में रस्सी का ज्ञान होता है, इसी प्रकार अविद्या के प्रभाव से आत्म स्वरूप ज्ञात नहीं होने पाता। कदाचित् ज्ञात भी होता है तो उसका विपरीतार्थ यह क्या है ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु परम शुद्ध निष्कलंक आत्मा का ज्ञान नहीं होता है।

स्वप्न में देखे हुए अनेक पदार्थ, इन्द्रजाल, सिनेमा में चलते फिरते चित्र, गंधर्व नगर देखने से कौतूहल मानते हैं परन्तु वास्तव में वह सभी व्यर्थ और निस्सार होते हैं। जो ये ही लौकिक चमत्कार दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वह सभी अविद्या तथा मिथ्याज्ञान का महत्व है।

श्री जिनेन्द्र देव ने ज्ञानी लोगों के लिए अध्यात्म-विद्या प्राप्ति के लिए दो उपाय बतलाये हैं, पहला स्वाध्याय और दूसरा अपने को अपने में चिन्तन करना रूप ध्यान आत्मासम्बन्धी ज्ञान के अभ्यास का नाम स्वाध्याय है। समस्त इन्द्रियों के व्यापार से रहित, मोहनाशक शीघ्र ही उत्तम फल प्राप्त कराने वाला आत्म-स्वरूप का चिंतन करना ही ध्यान है। जो ज्ञान समस्त ज्ञानों की अपेक्षा सबसे अधिक निजाधीन अधिष्ठित आत्म-स्वरूप के अधिगम से उत्पन्न, निश्चल निर्दोष और मोक्ष का कारण है, वही अध्यात्म-विद्या है उससे भिन्न सभी अविद्या हैं। यह अविद्या मिथ्या है।

रतिवृत्ति तथा क्रीड़ा रस की चाह करने वाले राग को यही अविद्या उत्पन्न करती है। जिस प्रकार व्यभिचारी स्त्री के सम्पर्क से सुचारित्र और विद्या किनारा कर जाती है, यानी अविद्या के सम्बन्ध से विवेक और चारित्र दोनों नष्ट हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री कामोन्माद से निष्कलं लोगों को भी कलंकित करके उनको नरक कुण्ड में डाल देती है उसी प्रकार अविद्या भी जीवों को अधोगति के असह्य दु:खों को भुगताती है। इस अविद्या रूपी रानी का मोह रूपी राजा पति है तथा अहंकार और ममकार यह दो पुत्र हैं। क्रमश: ममता और वांछा तथा रति, अरति अहंकार की स्त्रियां है। सुख दुख उनके पुत्र हैं। इस प्रकार अविद्या का विशाल परिवार है। जैसा जैसा अहंकार और ममकार का अंश बढ़ता जाता है वैसा वैसा अविद्या महारानी का प्रताप बढ़ जाता है। इसलिए भव्यजीवो ! ऐसी अविद्या को हटा कर अध्यात्म-विद्या का यथाशक्ति अवलम्बन करो और आत्मा के लक्षणों को ठीक जानकर निज-स्वरूप को पहिचानो उससे अनुपम अखंड मोक्ष की प्राप्ति होगी।

शास्त्र पढ़ना, धर्म तथा मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले अध्यात्म-आगमों का ठीक रूप से अभ्यास करने को स्वाध्य, कहते हैं। और वह अन्तरंग तप में गिना गया है। इससे स्वर्ग तथा मोक्ष की सिद्धि होती है। लौकिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र इत्यादि शास्त्रों का अभ्यास करना अस्वाध्याय है। अर्थात् इससे अनेक प्रकार की इन्द्रिय-वासना की तुष्टि होती है। ये इस लोक और परलोक

को विगाड़ने वाले हैं और अन्त में पाप रूपी कीचड़ में डालने वाले हैं। इनके अध्ययन का परिणाम निन्दनीय होता है। इसलिए ज्ञानी साधु स्वाध्याय का ही आचरण करते हैं।

जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र देव के वचनों पर पूर्ण श्रद्धान रखकर मन को आत्म ज्ञान की ओर लगाते हुए शरीर को क्षणिक समझ कर इन्द्रियों को नियतकार जैन सिद्धान्त में जैसा स्वरूप कहा हुआ है उसी प्रकार सिद्धान्त शास्त्र का स्वाध्याय करते हैं वे शीघ्र ही समस्त कर्मों का विध्वंस कर देते हैं। यह भी एक उत्तम प्रकार की समाधि है। जब तक मन, वचन, काय और इन्द्रियां वश में न होंगी तब तक कभी स्वाध्याय नहीं हो सकता। बिना स्वाध्याय के कर्मों का क्षय और अनुपम मोक्ष का प्राप्त होना असम्भव है। अतएव प्रथम तो मन को ज्ञान की ओर झुकावे। फिर शरीर को विनयशील बनाकर वचन को स्वाध्याय में लीन करे तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को ही वश में करने का प्रयत्न करे यह उत्तम कार्य है।

जो योगी अनेक प्रकार के प्रयत्नों से अध्यात्म आगमों का अभ्यास करते हैं तथा मनगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति का ठीक प्रकार से अभ्यास करते हैं तथा माया निदान और मिथ्या नाम के तीन शल्यों को त्याग देते हैं। वे पाँच समितियों का पालन भी भली प्रकार करते है। गुप्ति, समितियां मोक्ष मार्ग की प्राप्ति में प्रधान कारण हैं। अतएव सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित शास्त्र का अभ्यास मनन आदि करो। सभा के योग्य हित मित वचनों से उनका व्याख्यान करो। ऐसा करने से थोड़े ही समय में केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तीनों लोक के समस्त प्राणियों को समझाने योग्य निरक्षर दिव्य ध्वनि खिरने लगेगी जिससे विश्व कल्याणकारी महाधर्मोपदेश के प्रभाव से समस्त प्राणियों को स्व-पर का अमित ज्ञान लाभ होगा। यही स्वाध्याय का महत्व है। इसलिए हे योगी ! भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए चारों अनुयोगों को रुचि पूर्ण एकाग्रता से मनन करो।

जो योगी काम सुभटों का तिरस्कार करके मुनि-मुद्रा धारण करते हैं निश्चल मन से बार बार स्वाध्याय करते हैं, उन्हें समझते हैं व्रत, नियम, शील, संयम, तप आदि को धारण करते हैं, मुक्तावली, कनकावली, रत्नत्रयादिक व्रत करते हैं उनको इस स्वाध्याय रूपी रत्न से आत्मा को शान्ति रस-रूपी अनुपम सुख की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय के बिना चाहे नग्न-मुद्रा धारण करले या जीवन पर्यन्त काय-क्लेश करे तो भी निष्फल हो जाता है इसलिए हे योगिराज ! यदि तू प्रतिदिन लगातार स्वाध्याय के करने से थक गया हो तब तुझे ध्यान करना चाहिए। ध्यान से आत्मा में शान्तिमय प्रधान सुख की प्राप्ति होती है और निजानन्द रस का पान होता है। इसलिए जो स्व-पर-ज्ञान करके

अपना कल्याण करना चाहता है तो उसको हमेशा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए स्वाध्याय से अपने अज्ञान को दूर करना चाहिए।

परिणामवशदि जीवं, परिपमिलिर्पन्तु पलवु पर्याय दोळें ।
परिणमिसि जीव नक्कट, तिरिगुं संसार घोरतर जलनिधि योळ् ॥२०

अर्थ—हे जीव ! परिणाम के, भावना के निमित्त से जीव अनादिकाल से संसार में परिणमन करते हुए आरहा है। जब तक इस जीव की पर-परिणति रहेगी तब तक यह जीव अपने स्वभाव का आश्रय नहीं ले सकता है । इसलिये यह जीव अज्ञानी बनकर महान भयंकर संसार समुद्र में भटक रहा है यह कितने आश्चर्य की बात है।

विवेचन -आचार्य ने यह बतलाया है कि यह जीव पर-परिणति के निमित्त से इस संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए इस संसार समुद्र में भ्रमण कर रहा है। इसलिये उसको अभी तक सुख और शान्ति का स्थान प्राप्त नहीं हुआ। अतः इस जीव को बाह्य पदार्थों से रागद्वेष हटाने के लिए आचार्य ने उपदेश दिया है कि:—

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञात याथात्म्यके,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ?
अन्तः शान्तिमुपैहि यावदुदयप्राप्तान्तकप्रस्फुरज् ।
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥

अर्थ—अरे भव्य, तू वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता । इसीलिये स्त्री पुत्रादि इतर वस्तुओं में मोहित होकर स्त्री पुत्रादि या रत्न सुवर्णादि को हितकारी समझता है, शत्रु सर्प विषादि को अहितकर्ता समझता है । पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों ही गमाता है ? ऐसी कल्पना तेरी तभी तक होती है जब तक कि तू असली आत्मीय शान्ति को प्राप्त नहीं हुआ । ये तेरी सभी कल्पनाएें झूठी हैं क्योंकि, अन्य पदार्थों में तुझे सुख दुःख देने की शक्ति नहीं है ? जो कुछ सुख दुःख होते हुए तुझे दीखते हैं वे तेरी ही संकल्प वासना के फल है। देख, इधर तो तू यों ही फंसा रहेगा किंतु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दबा लेगा। इसलिये उससे बचने का उपाय देख। वह यह है कि जब तक चाहे जब आजाने वाले निर्दय काल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान जठराग्नि के मुख में पड़कर तू भस्म नहीं हुआ तभी तक तू अपने अंतःकारण को पूर्ण शांत करले, जिससे कि उस काल का आक्रमण आगामी भव के लिये दुःख दायक

न हो, क्योंकि, अंतरंग में शांति संतोष उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का बंध होगा अथवा परम शांति उत्पन्न होने पर मोक्ष-सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिये काल का भय मिट जायगा।

इस आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कब से है ?

यथानादिः स जीवात्मा तथानादिश्च पुद्गलः।

द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः॥

अर्थ—यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है। इसलिये दोनों का सम्बन्ध रूप बन्ध भी अनादि है।

भावार्थ—जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है। यदि इनका सम्बन्ध सादि अर्थात् किसी काल विशेष से हुआ माना जावे तो अनेक दोष आते हैं। इसी बात को ग्रंथकार स्वयं आगे दिखलाते हैं :—

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः।

अन्यथा दोष एवं स्यादितरेतरसंश्रयः॥

अर्थ—जीव और कर्म दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कनक और पाषाण का सम्बन्ध अनादिकालीन होता है। यदि जीव पुद्गल का सम्बन्ध अनादि से न माना जाय तो अन्योन्याश्रय का दोष आता है।

भावार्थ—एक पत्थर ऐसा होता है जिसमें सोना मिला रहता है, उसी को कनक पाषाण कहते हैं। कनक पाषाण खान से मिला हुआ ही निकलता है। जिस प्रकार सोने का और पत्थर का हमेशा से सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और कर्म का भी हमेशा से सम्बन्ध है। यदि जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से न माना जावे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः।

बन्धाभावेऽथ शुद्धेऽपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम्॥

अर्थ—यदि जीव पहले कर्म रहित अर्थात् शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता, और यदि शुद्ध होने पर भी उसके बन्ध मान लिया जाय तो फिर मोक्ष किस प्रकार हो सकता है ?

भावार्थ—आत्मा का कर्म के साथ जो बन्ध होता है वह अशुद्ध अवस्था में होता है। यदि कर्म बन्ध से पहले आत्मा को शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो

सकता ? क्योंकि बन्ध अशुद्ध परिणामों से ही होता है। इसलिए बन्ध होने में तो अशुद्धता की आवश्यकता पड़ती है और अशुद्धता में बन्ध की आवश्यकता पड़ती है। बिना पूर्वबन्ध के शुद्ध आत्मा में अशुद्धता आ नहीं सकती। यदि बिना बन्ध के शुद्ध आत्मा में भी अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मायें मुक्त हो चुकी हैं वे फिर अशुद्ध हो जायगी और अशुद्ध होने पर बन्ध भी करती रहेंगी। फिर तो संसारी और मुक्त जीव में कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसलिए बन्ध रूप कार्य के लिए अशुद्धता रूप कारण की आवश्यकता है और अशुद्धता रूप कार्य के लिए पूर्वबन्ध रूप कारण की आवश्यकता है। बिना पूर्व कर्म के बंधे हुए अशुद्धता किसी प्रकार नहीं आ सकती है। इसलिए अशुद्धता में बन्ध और बन्ध में अशुद्धता की अपेक्षा पड़ने से एक भी सिद्ध नहीं होता, बस यही अन्योन्याश्रय दोष है। यदि जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि माना जाय तो यह दोष सर्वथा नहीं आता।

दूसरी बात यह है कि सादि सम्बन्ध मानने से पहले तो शुद्ध आत्मा में बन्ध हो नहीं सकता क्योंकि बिना कारण के कार्य होता ही नहीं। थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि बिना रागद्वेष रूप कारण के शुद्ध आत्मा भी बन्ध करता है तो फिर बिना कारण के होने वाला वह बन्ध किस तरह छूट सकता है ? यदि रागद्वेष रूप कारणों से बन्ध माना जाय तब तो उन कारणों के हटने पर बन्ध रूप कार्य भी हट जाता है। परन्तु बिना कारण के होने वाला बन्ध दूर हो सकता है या नहीं ऐसी अवस्था में इसका कोई नियम नहीं है। इसलिए मोक्ष होने का भी कोई निश्चय नहीं है। इस तरह सादि बन्ध मानने में और भी अनेक दोष आते हैं।

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि पुद्गल अनादि से सदा शुद्ध ही रहता है ऐसा कहने वाले के मत से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध भी नहीं बनेगा। फिर तो बिना कारण जिस प्रकार आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है, उसी प्रकार क्रोधादिक भी आत्मा के स्वाभाविक गुण ही ठहरेंगे।

भावार्थ—पुद्गल की कर्म रूप अशुद्ध पर्याय के निमित्त से ही आत्मा में क्रोधादिक होते हैं ऐसा मानने से तो क्रोधादिक आत्मा के स्वभाव नहीं ठहरते हैं। परन्तु पुद्गल को शुद्ध मानने से आत्मा में विकार करने वाला फिर कोई पदार्थ नहीं ठहरता। ऐसी अवस्था में क्रोधादिक का हेतु आत्मा ही पड़ेगा और

क्रोध मान माया लोभ आदि आत्मा के स्वभाव समझे जायेंगे यह बात प्रमाण विरुद्ध है।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा।
द्रव्याभावो गुणाभावे क्रोधादीनामदर्शनात् ॥

अर्थ—यदि पुद्गल को अनादि से शुद्ध माना जाय और शुद्ध अवस्था में भी उसका आत्मा से बन्ध माना जाय तो यह बन्ध सदा रहेगा, क्योंकि शुद्ध पुद्गल रूप हेतु के सद्भाव को कौन हटाने वाला है? पुद्गल की शुद्धता स्वाभाविक है वह सदा भी रह सकती है और हेतु की सत्ता में कार्य भी रहेगा ही।

यदि बन्ध ही न माना जाय तो ज्ञान की तरह क्रोधादिक भी आत्मा के ही गुण ठहरेंगे वही दोष जो कि पहले श्लोक में कह चुके हैं फिर भी आता है और क्रोधादिक को आत्मा का गुण स्वीकार करने में दूसरा दोष यह आता है कि जिन २ आत्माओं में क्रोधादिक का अभाव हो चुका है उन २ आत्माओं का भी अभाव हो जायगा। क्योंकि जब क्रोधादिक को गुण मान चुके हैं तो गुण के अभाव में गुणी का अभाव होना स्वतः सिद्ध है, और यह बात देखने में भी आती है कि किन्हीं २ शांत आत्माओं में क्रोधादिक बहुत थोड़ा पाया जाता है। योगियों में अति मन्द पाया जाता है, और बारहवें गुणस्थान में तो उसका सर्वथा अभाव है। इसलिये अशुद्ध पुद्गल का अशुद्ध आत्मा से बन्ध मानना ही न्याय संगत है।

तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीव कर्मोभयोर्मिथः।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥

अर्थ—इसलिये जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रसिद्ध है और वह अनादिकाल से बन्ध रूप है यह बात सिद्ध हो चुकी। जो पहले शंकाकार ने जीव कर्म का सम्बन्ध सादि (किसी समय विशेष से) सिद्ध किया था वह नहीं सिद्ध हो सका। सादि सम्बन्ध मानने से अन्योन्याश्रय आदि अनेक दोष आते है तथा दृष्टान्त भी कोई ठीक नहीं मिलता।

भावार्थ—कनक पाषाण आदि दृष्टान्तों से जीव कर्म का अनादि सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि दो पदार्थों का सम्बन्ध हमेशा से कैसा? वह तो किसी खास समय में जब दो पदार्थ मिलें तभी हो सकता है? इस शंका का उत्तर यह है कि सम्बन्ध दो प्रकार का होता है, किन्हीं पदार्थों का तो सादि सम्बन्ध होता है। जैसा कि मकान बनाते समय ईंटों का सम्बन्ध सादि है। और किन्हीं पदार्थों का अनादि सम्बन्ध होता है, जैसे कि कनक

पाषाण का, अथवा जमीन में मिली हुई अनेक चीजों का, अथवा बीज और वृक्ष का, अथवा जगद्व्यापी महास्कन्ध का अथवा सुमेरु पर्वत का। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है।

जीवस्याशुद्धरागादिभावना कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिविभावाः प्रत्युपकारिणः॥

अर्थ—जीव के अशुद्ध रागादिक भावों का कारण कर्म है, उस कर्म के कारण जीव के रागादि भाव हैं। यह परस्पर का कार्यकारणपना ऐसा ही है जैसे कि कोई पुरुष किसी पुरुष का उपकार कर दे तो वह उपकृत पुरुष भी उसका बदला चुकाने के लिये उपकार करने वाले का प्रत्युपकार करता है।

भावार्थ—यह संसारी आत्मा अनादि काल से कर्मों का बन्ध कर रहा है, उस कर्म बन्ध में कारण आत्मा के रागद्वेष भाव हैं। रागद्वेष के निमित्त से ही संसार में भरी हुई कार्माण वर्गणाओं को अथवा विस्रसोपचयों को यह आत्मा खींचकर अपना सम्बन्धी बना लेता है। जिस प्रकार कि अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला अपने आसपास भरे हुए जल को खींचकर अपने में प्रविष्ट कर लेता है। जिन पुद्गल वर्गणाओं को यह अशुद्ध जीवात्मा खींचता है वे ही वर्गणाएं आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप (एकमएक) से बंध जाती हैं। बंध समय से उन्हीं वर्गणाओं की कर्मरूप पर्याय हो जाती है। फिर कालान्तर में उन्हीं बांधे हुए कर्मों के निमित्त से चारित्र के विभाव भाव रागद्वेष बनते हैं फिर उन रागद्वेष भावों से नवीन कर्म बंधते हैं। उन कर्मों के निमित्त से फिर भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पहले कर्मों से रागद्वेष और रागद्वेष से नवीन कर्म होते रहते हैं। यही परस्पर में कार्य कारण भाव अनादि से चला आता है।

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो बिना सम्यग्दृगादिना॥

अर्थ—पहले कर्म के उदय से रागद्वेष-भाव पैदा होते हैं, उन्हीं रागद्वेष भावों से नवीन कर्मों का संचय होता है, उन आये हुए कर्मों के पाक (उदय) से फिर रागद्वेष भाव बनते हैं, उन भावों से फिर नवीन कर्मों का बन्ध होता है, इसी प्रकार प्रवाह की अपेक्षा से जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि से चला आया है। इसी सम्बन्ध का नाम संसार है। अर्थात् जीव की रागद्वेष रूप अशुद्ध अवस्था

का ही नाम संसार है। यह संसार बिना सम्यग्दर्शन आदि भावों के नही छूट सकता है।

भावार्थ—"संसरणं संसार:" परिभ्रमण का नाम संसार है। चारों गतियों में जीव उत्पन्न होता रहता है इसी को संसार कहते हैं। इस परिभ्रमण का कारण कर्म है। जैसा कर्म का उदय होता है उसी के अनुसार गति, आयु, शरीर आदि अवस्थायें मिल जाती हैं। उस कर्म का भी कारण आत्मा के रागद्वेष भाव हैं। इसलिये संसार के कारणों को ही आचार्य ने संसार कहा है। यह संसार तभी छूट सकता है जब कि संसार के कारणों को हटाया जाय। संसार के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच हैं। इन पांचों के प्रतिपक्षी भाव भी पांच हैं। मिथ्यादर्शन का प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार अविरति का विरतिभाव, प्रमाद का अप्रमत्तभाव, कषाय का अकषायभाव, और योग का अयोगभाव प्रतिपक्षी है। जब ये सम्यग्दर्शनादिक भाव आत्मा में प्रगट हो जाते हैं तो फिर इस जीव का संसार भी छूट जाता है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥

अर्थ—आत्मा और कर्म का जो बन्ध होता है, वह केवल दोनों के सम्बन्ध मात्र से ही नहीं हो जाता है, किन्तु आत्मा के अशुद्ध भावों से होता है। और वह परस्पर दोनों की अपेक्षा भी रखता है।

भावार्थ—बन्ध दो प्रकार का होता है। एक तो दो वस्तुओं के मेल हो जाने मात्र से ही होता है। जैसे कि सूखी ईंटों को परस्पर मिलाने से होता है। सूखी ईंटों का सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। दूसरा ईंटों का वह सम्बन्ध जो कि चूने के लगाने से वे सब ईंटें एकरूप में हो जाती हैं। यद्यपि यह मोटा दृष्टान्त है तथापि एकदेश में घनिष्ट सम्बन्ध में घटता ही है। दूसरा दृष्टान्त जल और दूध का भी है। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध जीव और कर्म के प्रदेशों के एक रूप हो जाने पर ही होता है। इस सम्बन्ध में कारण आत्मा के अशुद्ध भाव ही हैं। कर्म सम्बन्ध और अशुद्ध भाव इन दोनों में परस्पर अपेक्षा हैं, अर्थात् एक दूसरे में परस्पर कार्य कारण भाव है।

अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥

अर्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थर में सुई को खींचने की शक्ति है उसी प्रकार जीव और पुद्गल दोनों में वैभाविकी नामा एक शक्ति है जो कि दोनों में परस्पर बन्ध का कारण है।

भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थर में खींचने की शक्ति है उसी प्रकार लोहे में खींचे जाने की शक्ति है। यदि दोनों में खींचने और खीचे जाने की शक्ति न मानी जाय तो चुम्बक पत्थर के सिवा पीतल चांदी आदि से लकड़ी पत्थर भी खिचने चाहिये। इसलिये मानना पड़ता है कि दोनों में क्रम से खींचने और खिचने की शक्ति है। उसी प्रकार जीव में कर्म के वांधने की शक्ति है और कर्म में जीव के साथ वंधने की शक्ति है। जव जीव और कर्म दोनों में क्रम से वांधने और वंधने की शक्ति है तव दोनों का आत्मक्षेत्र में वंध हो जाता है। आत्मा में ही वांधने की शक्ति है इसलिये आत्मा में ही कर्म आकर वंध जाते हैं। जीव और पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्था को छोड़कर वन्ध रूप अशुद्ध अवस्था में क्यों आते हैं। धर्म अधर्म आदिक द्रव्य क्यों नहीं अशुद्ध होते। इसका यही कारण है कि वैभाविक नामा गुण इन दो (जीव, पुद्गल) द्रव्यों में ही पाया जाता है इसलिये इन दो में ही विकार होता है, शेष द्रव्यों में नहीं होता।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात्॥

अर्थ—वास्तव में वन्ध तीन प्रकार का है। भाववंध, द्रव्यवंध और उभय-बंध। उनमें भाव बन्ध और द्रव्य वंध तो अलग अलग स्वतन्त्र हैं, परन्तु तीसरा जो उभयबन्ध है वह जीव और पुद्गल दोनों के मेल से होता है।

भावार्थ—वन्ध का लक्षण है कि "अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्वन्ध विशेषो बन्धः" अर्थात् अनेक पदार्थो में एकत्व बुद्धि को उत्पन्न करने वाले सम्वन्ध का नाम वन्ध है। यहां पर बंध तीन प्रकार का वतलाया गया है उसमें उभय वन्ध तो जीवात्मा और पुद्गल कर्म, इन दोनों के सम्वन्ध होने से होता है। वाकी का जो दो प्रकार का वन्ध है वह द्वन्द्वज नहीं है किन्तु अलग अलग स्वतंत्र है। भाववन्ध तो आत्मा का वैभाविक (अशुद्ध) भाव है और द्रव्य वन्ध पुद्गल का वह स्कन्ध है जिसमें कि वन्ध होने की शक्ति है। इन दोनों प्रकार के अलग अलग वन्धों में भी एकत्व बुद्धि को पैदा करने वाला वन्ध का लक्षण जाता ही है। क्योंकि रागात्मा जो भाववंध है वह भी वास्तव में जीव और पुद्गल का ही विकार है यह राग पर्याय जीव और पुद्गल दोनों के योग से हुई है। आत्मांश की अपेक्षा से राग पर्याय जीव की वतलाई जाती है और पुद्गलांश की अपेक्षा से वही

पर्याय पुद्गल की बतलाई जाती है। रागपर्याय दोनों की है इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव पुद्गलात्मक हो जाता हैं अथवा पुद्गल जीवात्मक हो जाता है किन्तु दोनों के अंशों के मेल से रागपर्याय होती है। जो द्रव्य वन्ध है वह भी अनेक परमाणुओं का समुदाय है तथा उभय वन्ध में तो बन्ध का लक्षण स्पष्ट ही है। इसलिये इस बन्ध और अवन्ध को भेद विज्ञान के द्वारा ठीक समझ कर हे योगी ! आत्म बोध सहित इसका आचरण करो।

यह आत्म-प्रबोध ही संसार के कारण शुभाशुभ कर्मों को नष्ट करने तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति का कारण जो विशुद्धि है, उसे बढ़ाने वाला है। परम कल्याणकारी पवित्र आत्म-प्रबोध ज्ञायक स्वभाव है। यह द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्मो से रहित है।

परनिमित्त से जो आत्मा में राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं उन्हें भाव कर्म कहते हैं। एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों सहित ज्ञानावरणादि अष्ट-कर्म द्रव्य कर्म हैं। औदारिकादि शरीर को नो कर्म कहा गया है। भाव कर्म और द्रव्यकर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्मोदय से आत्मा में रागद्वेषादि रूप परिणाम होते हैं जिससे नवीन कर्मो का संचय होता है। पूर्व-कर्म का उदय और नवीन कर्म के बंध का कार्य एक ही समय में होता है। यह जीव कर्मोदयकाल में नो कर्म (बाह्य निमित्तों) में इष्टानिष्ट बुद्धि करके संसार-भ्रमण का भाजन बन जाता है। यदि ऐसी बुद्धि न करे तो कोई भी नो कर्म आत्मा के साथ जबरदस्ती कर्म-वन्ध नहीं करा सकता। जिस प्रकार जीव पुद्गल के गमन में धर्मास्तिकाय (धर्म द्रव्य) उदासीन निमित्त है उसी प्रकार नो कर्म, कर्मबन्ध में उदासीन निमित्त हैं।

निमित्त दो प्रकार के होते हैं—पहला प्रेरक निमित्त और दूसरा उदासीन निमित्त। यह वस्तु का स्वभाव है। जहां उपादान की पूर्ण तैयारी होगी वहां ही निमित्त उपस्थित हो जायगा। यदि निमित्त उपस्थित न हो, तो उपादान को उसकी राह देखनी पड़ेगी। द्रव्य कर्म का उदय सब प्रेरक निमित्त है। उपस्थित न हो, तो उपादान को उसकी राह देखनी पड़ेगी। जिस प्रकार महावीर भगवान की वाणी गौतम गणधर के निमित्त से खिरी ऐसे द्रव्य कर्म का उदय सब प्रेरक निमित्त है। ज्ञानी-अज्ञानी के देखने की रीति भिन्न हैं। ज्ञानी पदार्थो को पर्याय-दृष्टि से न देखकर स्थायी स्वभाव की दृष्टि से अवलोकन करना है इस कारण उन्हें पर्याय-बुद्धि के फल स्वरूप रागद्वेष नहीं होता है। जो जीव ज्ञान परिणाम से शून्य हैं वे अपने मन के संकल्प विकल्पों का निग्रह करने में असमर्थ रहते हैं।

जो निमित्त प्रेरणा देकर कार्य करता है, वह प्रेरक निमित्त हैं। जो स्वयं होते हुए कार्य में सहायक बन जाता है, वह उदासीन निमित्त है। ज्ञान-रत्न, मन

को जीतने में उत्तम साधन है। यह हाथी, बन्दर, पिशाच अथवा सर्प सदृश मन ज्ञान-रूपी अंकुश के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं जीता जा सकता है। जैसे जंगल में स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण करता हुआ मदोन्मत्त गजराज तीक्ष्ण अंकुश या वर्छी की मार से वश कर दृढ़ सांकल से जकड़ कर वाँध लिया जाता है। जिस प्रकार कपिराज क्षण भर के लिये भी चंचलता नहीं तजता, उसी प्रकार चित्त (मन) भी विषयों के विना स्थिर नहीं रहता है। यद्यपि अत्यन्त काला सर्प महा विष संयुक्त है तथापि विधिपूर्वक मंत्र सिद्ध किया गारुड़ी उसे वश में कर लेता है। इसी प्रकार भूत-पिशाच भी मंत्र द्वारा आधीन हो जाता है। मन-मर्कट वश में करने के लिये ज्ञानाभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है। सच बात यह है कि पताका वाँस पर स्थिर रहती है, कितनी भी प्रचण्ड पवन चले पर वह वाँस पर ही स्थिर रहेगी, नीचे नहीं आयेगी। इसी प्रकार विशुद्ध परिणामी जीव के हृदय समुद्र में कितनी ही चंचल प्रचण्ड लहरें उछलें परन्तु वे सब उसी हृदय-समुद्र के जल में ही शान्त हो जायेंगी। बाहर न जायेंगी।

ज्ञानी के हृदय-स्थान में जो ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशमान है, वह उत्कृष्ट प्रकाश है। वायु आदि कोई भी द्रव्य उसका विनाश नहीं कर सकता। सूर्य-प्रकाश तो राहु गम्य है वह आकाश में मेघ-मालाओं से आच्छादित हो जाता है, परन्तु ज्ञान-सूर्य सदैव प्रकाशमान रहता है।

आत्मा सदैव अपने भावों को ग्रहण करता और छोड़ता है। जड़ कर्म को न तो आत्मा ग्रहण करती है और न छोड़ती है जड़ की अवस्था जड़ के कारण ही होती है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। यह जीव पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि कर रागी-द्वेषी वनता है और उसके फल स्वरूप नाना प्रकार से कर्म-बंध करता है। आत्माओं की अवस्थाओं का कर्ता स्वयं आत्मा ही है। यह आत्मा अनादिकाल से वही का वही है। कभी इसने अपने स्वाधीन स्वभाव को जानकर आश्रय नहीं लिया। सदैव पर का आश्रय लेकर पर को ही अपनाता रहा है। इस पराश्रय से कभी इसे शान्ति नहीं मिली आत्मा का सुख 'पर' में न होने से वह पराश्रय से कैसे दुखी हो सकता है ?

इसलिये हे योगी ! पर भाव को मन वचन, काय से त्याग कर अपने सच्चिदानन्द, निजानन्द आत्मस्वरूप में लीन होकर आप अपने को देखकर आप अपने अन्दर आचरण करने से आपके अन्दर ही आप सुख शांति को प्राप्त कर सकता है।

नोड़िरे कोंडाटक्कंमाड़ुव मन्नणोगे मत्तें सत्कारक्कं ॥
कूडि बहिरात्म नक्कट कूडदे माण्दपने देव दुर्गतियेडेयोळ् ॥२१॥

भावार्थ—कितने आश्चर्य की वात है कि यह वहिरात्मा अज्ञानी जीव लाभ, ख्याति, पूजा और स्तुति आदि से प्रसन्न होता है। दूसरों द्वारा किये जाने वाले सत्कार तथा मान्यता, जनता द्वारा किये जाने वाले बाह्याडम्बर और लौकिक ख्याति पर अहंकार करता है। वह वाह्य क्रियाकाण्ड, बाह्य तपश्चर्या और उपवास के निमित्त होने वाले काय क्लेश से अपने आपको कृतकृत्य समझता है। इतना ही नहीं, वह अपने वचन चातुर्य या वचन पटुता से लोगों को विभोर कर अपनी ख्याति को दुनिया में प्रगट करने के प्रयत्न में हमेशा लगा रहता है। इस तरह वाह्याडम्बर में निमग्न रहने वाला योगी निजात्म तत्त्व से वहिर्मुख होकर दुर्गति में महान दुःख सहन करता है। परन्तु इस बहिरात्मा अज्ञानी जीव को श्री सद्गुरु का उपदेश अत्यन्त कड़ुवा लगता है और बाह्य पंचेन्द्रिय विषय को ही अपनी आत्मा मान कर उसमें ही संतोष मानता है। जिससे यह नरकादि चारों गतियों के दुःखों को निरन्तर भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है।

विशेषार्थ – ग्रन्थकार ने इस श्लोक में कहा है कि यह अज्ञानी वहिरात्मा जीव लोक के द्वारा की जाने वाली पूजा अर्चा, सत्कार, स्तुति तारीफ आदि तथा ख्याति लाभादि प्रतिष्ठा से प्रसन्न होकर वाह्याडंबर और बाह्य क्रिया के आधीन होकर आयु के अन्त में दुर्ध्यान से शरीर त्याग करके दुर्गति को प्राप्त होता है, यह कितने आश्चर्य की वात है। कहा भी है कि—

रच्चेय संभ्रमक्के कुणिदिच्छेय कूळुणुतं क्षणांतंदोळ् ।
किच्चिन कोडंमं पुगुवरंडेय वोल्विषयं गळिच्छेयं ।।
मेच्चि सनक्के बंदतेरदोलून डेदोल्लदे सुव्रतंगळं ।
हुच्चरो दुर्गति स्थलके वीळ्वरदेकपराजितेश्वरा ।।

हे अपराजितेश्वर ! वाह्याडम्बर, विलास के लिए नाचते हुए मनमाने आहार को अर्थात् अपने को रुचिकर आहार को करते हुए मतिभ्रष्ट होकर मदोन्मत्त होकर अग्नि कुण्ड में प्रवेश करने वाली विधवा स्त्री के समान इंद्रिय विषयाभिलाषा में मुग्ध होकर, मनमाने आचरण कर, अच्छे व्रत नियम संयमादि धारण न करके दुर्गति में स्थान को क्यों प्राप्त होता है ? क्या वे पागल हैं ? नहीं, परन्तु यह कि वहिरात्मा का स्वभाव है। इनको हिताहित का विचार नहीं रहता है।

जिस प्रकार गन्ने को हरे पत्ते सहित लाकर भैंस के पास रख दो तो भैंस रस सहित गन्ने को न खा करके केवल ऊपर के हरे पत्ते खाकर अपने को सुखी मानती है। उसी तरह से वहिरात्मा जीव अनादि काल से बाह्य पंचेन्द्रिय विषयों

को ही सुख मान कर अपने को सुखी मानता है। अर्थात् अपने अन्दर ही निजात्म सुख को अनुभव न करके बाह्य सामग्री को चाहता है। पंचेन्द्रिय विषय की पूर्ति करने के लिए अनेक प्रकार के छल कपट आदि करता है। लोगों को नाना तरह से फंसाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अनेक प्रकार से अपनी चतुराई के द्वारा यह बाह्य सामग्री जुटाने में लगा रहता है। इसको क्षण मात्र भी बाह्य प्रपंच से छुट्टी नहीं मिलती है। जैसे चूहा धान के एक कण के लिये रात भर मिट्टी खोदकर ढेर करता है और अन्त में जब प्रभात होता है तो मनुष्य की आहट सुनकर वहां से सभी छोड़कर भाग जाता है। इसी तरह आडम्बर में लिप्त हुआ मूर्ख मनुष्य रात दिन पंचेन्द्रिय क्षणिक वस्तु को इकट्ठा करने में लगा रहता है। जब आयु का अन्त आ जाता है, तब यमराज की आवाज कान में पड़ते ही सब कुछ जहां का तहां छोड़कर दूसरी गति में चला जाता है। कैसी दयनीय स्थिति है कि अनादिकाल से यह जीव पर द्रव्य के निमित्त से अपने को भूल कर हमेशा पर द्रव्य के व्यवसाय में अपने जीवन को व्यतीत करता रहता है और अन्त में इस मनुष्य पर्याय को छोड़कर चला जाता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीव ! तू अब तो चेत। इस प्रकार मनुष्य पर्याय को पंचेन्द्रिय सुख के लिए व्यय करना ठीक नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे भव्य प्राणी ! अनन्त भवों में कभी प्राप्त न हुआ अवसर तुझे आज प्राप्त हुआ है। इस भव में जो प्राप्त हुआ नियोगी नीरोर आदि, आत्मिक विकास का साधन अर्पण करने वाले धार्मिक माता पिता तथा सुदेव सुगुरु सुशास्त्र आदि की प्राप्ति तुझको हुई है। ये मनुष्य भव अनन्तानन्त भव बिताने के बाद आज तुझे प्राप्त हुआ है, इतना ही नहीं दुनिया की साधन सामग्री भी पूर्णतया प्राप्त हुई है। शरीर की आरोग्यता तुझे साथ साथ प्राप्त हुई है, इसी के द्वारा तू आज इस संसार में मौज कर रहा है। सारी चिन्ता मिटाने वाला यह तेरा नीरोग शरीर है। परन्तु अपनी चिन्ता को मिटाने के लिए प्रत्येक तरह की सामग्री तू जुटाता रहता है। घर से मेरी चिन्ता मिटेगी, स्त्री से चिन्ता मिटेगी, परिवार से चिन्ता मिटेगी, खान पान आदि से चिन्ता मिटेगी, अच्छा मित्र मिल जाये तो चिन्ता मिटेगी, इस प्रकार चिन्ता मिटाने के लिए अनेक सामग्री जुटाई परन्तु बड़े बड़े चक्रवर्ती स्वर्गीय इन्द्र कुबेर आदि को भी अनेक प्रकार की भोग सामग्री प्राप्त हुई, परन्तु उससे संसार की चिन्ता मिटी नहीं। अगर कदाचित् संसार की चिन्ता मिटाने वाली सामग्री प्राप्त हो जाय तो दूसरी चिन्ता आधि व्याधि उत्पन्न हो जाती है। तब आधि व्याधि की चिन्ता दूर करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। परन्तु दुनिया की सारी चीज इकट्ठी की जाँय तो भी यह चिन्ता दूर नहीं हो

सकती। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे मूर्ख प्राणी तुझे इस समय बहुत सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है इसलिए तुझे धन आदि वैभव प्राप्त होने पर भी उसके साथ सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र अगर प्राप्त हो जाय तो इस संसार की चिन्ता दूर करने की सामग्री अपने अन्दर ही प्राप्त हो जायेगी। पर की चिन्ता करने की अपेक्षा अपने आत्मा को स्थिर करने की चिन्ता करो। जब तेरी आत्मा स्थिर हो जायेगी तब पर की चिन्ता अपने आप ही मिट जायेगी।

हे अज्ञानी जीव ! तुझे पूर्व जन्म के पुण्य के निमित्त से मिला हुआ नीरोग शरीर और पंचेन्द्रिय विषय सामग्री आदि जो वैभव प्राप्त हुआ है, इसके साथ साथ अगर तेरे अन्दर सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति हो जाय तो इस भव की सार्थकता है। अगर सम्यग्दर्शन के साथ साथ ज्ञान और चारित्र धारण करने की इच्छा हो तो तेरे समान पडित और ज्ञानी कौन हो सकता है ? तू इस लोक और पर लोक में दोनों सुखों का अनुभव,करके अन्त में तू इस शरीर के द्वारा सच्चे आत्मिक वैभव को प्राप्त कर सुख और शान्ति का अनुभव करेगा। तू अणुव्रत लेकर अपने जीवन को शान्तिपूर्वक संसारी इन्द्रियादि भोग विषय में अरुचि रखते हुए जितना अपने को पालन करना शक्य हो उतना आचरण करते हुए इस मनुष्य जन्म को सार्थक कर सकता है। क्योंकि संसार में थोड़ी सम्पत्ति हो या बड़ी सम्पत्ति हो तो भी अनेक प्रकार की विडम्बना आकर खड़ी होती हैं। जितना जितना विडम्बना विघ्न आदि उपस्थित होता है उतना उतना मन में संक्लेश उत्पन्न होने लगता है। इसी संक्लेश परिणाम को दूर करने के लिए अनेक प्रकार का कूट व्यवहार अर्थात् कपट व्यवहार करने पर भी वह विडम्बना दूर नहीं हो सकती। इसलिए उसमें सुख आज तक किसी को भी प्राप्त हुआ नही है। जितनी भी भोग सामग्री इकट्ठी की जाय उतनी उतनी अशान्ति बढ़ती जाती है और इससे अज्ञानता नहीं टलती है। इसलिए इससे मोह माया आदि की आसक्ति दूर नहीं हो सकती है। अनेक प्रकार की विडम्बना बढ़ती ही जाती है। हे अज्ञानी जीव ! यह बताओ आज तक इस आडम्बर से, इस बाह्य सम्पत्ति से तुझे सुख और शान्ति कितनी मिली है।

हे अज्ञानी प्राणी ! सांसारिक क्षणिक सम्पत्ति से इस पंचेन्द्रिय सुख की प्राप्ति कभी नही हो सकतो है। यह आकाश के बादल के समान सीमित है। जैसे बादल को थोड़ी सी हवा लग जाय तो यह विलीन हो जाना है जब इस क्षणिक सम्पति को पाप की हवा लगती है उसी समय यह नष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ— एक धनाढ्य को जब एक पुत्र हुआ तो उसकी चिन्ता बढ़ गई। धन सम्पन्न होने की इच्छा और बढ़ गई। वह मन में विचार करता है कि लखपति बन जाऊं। बरसात के दिनों में नदी की बाढ़ आ रही थी उसमें अनेक प्रकार के बड़े बड़े झाड़ लकड़ी आदि उस नदी में बह कर आ रहे थे तब यह देखकर

उसके मन में हर्ष का पार नहीं रहा। मन में विचारा कि अगर मैं दरिया में जाकर आने वाली एक एक लकड़ी या पेड़ को इकट्ठा करूं तो एक एक पेड़ हजार हजार रुपये में बिकेगा तब थोड़े दिनों में करोड़पति बन जाऊँगा। मेरा परिवार सुख शान्ति से अपने दिन व्यतीत करेगा। तव मुझे किसी प्रकार की चिंता नहीं रहेगी। इससे मैं सारे जगत में ख्याति प्राप्त करूँगा। मेरी सलाह बिना कोई काम नहीं करेंगे और मेरी राय लेंगे। प्रत्येक सभा में मैं प्रमुख हो जाऊँगा। इस प्रकार अनेक प्रकार की आशाओं में हमेशा डूबा रहता है। जब उस नदी में बाढ़ आई तो उसने अनेक प्रकार की आने वाली लकड़ी को इकट्ठा करने के लिए नदी में प्रवेश किया। बड़ी बड़ी लहरें थीं और बिजली चमक रही थी। घोर बादलों की घटा आने लगी। आंधी भी बहुत तेज चल रही थी और ठंड भी पड़ रही थी, शरीर भी कांपने लग रहा था। ऐसी स्थिति में उसने नदी में प्रवेश करके रोज लकड़ी इकट्ठी करना शुरू कर दिया। वह लकड़ी नाव के द्वारा लाता था। एक दिन उस नाव पर बहुत ज्यादा लकड़ी का बोझा लादा था बीच में जोर से आंधी आ गई। हवा के जोर से उस नाव पर बहुत जोर की टक्कर लग रही थी। और उस में पानी भरा और वह नाव दरिया के अन्दर बैठ गया। माल तो सारा चला गया उसकी कोई बात नहीं परन्तु जीवन पर भी आपत्ति आने लगी, अफसोस करने लगा। दुःख का पार नहीं रहा। आयु का भरोसा नहीं रहा फिर भी पुण्य का उदय होने के कारण एक लकड़ी का टुकड़ा उसके हाथ लगा, उसके सहारे उस महान नदी को पार कर किनारे पर आ गया परन्तु लाखों रुपयों का माल उस नदी में डूब गया। डूबने से उसके हृदय में अत्यन्त दुःख हुआ। हृदय की गति बन्द होने के कारण उसी में आयु को समाप्त कर देता है। वह मर कर उत्तम मनुष्य पर्याय को छोड़कर एक निंद्य गति को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति इसी भाँति इच्छा करके अन्त में निंद्य गति को प्राप्त होते हैं। आज तक किसी की आशा पूर्ण नहीं हुई इसलिए प्रत्येक मानव को भिन्न भिन्न प्रकार के परिणामों से मरण के शरण जाना पड़ता है। परन्तु मरण किसी को पसन्द नहीं। इसलिए मरण का भय प्रत्येक प्राणी को है। इसलिए सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि हे प्राणियो तुमको सुख और शांति चाहिए तो मोह निद्रा को त्याग कर जाग्रत हो जाओ। अगर मृत्यु का भय नहीं चाहते हो जन्म मरण में पड़ना नहीं चाहते हो तो तुम आत्म सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करो। आयु का कोई भरोसा नहीं है। अतः तुम अपने निज स्वरूप के प्रति अपने उपयोग में लग जाओ और पर उपयोग से अपने मन को अपने निजात्मा की तरफ लगाकर पर वस्तु का त्याग करने का अभ्यास करो। ऐसा करने से तुझे थोड़े भव के लिए संसार का भय रहेगा। आगे नहीं रहेगा। इसलिए धर्म की आराधना में अपने मन को

लगाने की चेष्टा करनी चाहिए। इस तरह से मनुष्य पर्याय का उपयोग इस आत्म संयम की तरफ या चारित्र धारण करने की तरफ लग जाय तो संसार के अनेक प्रकार की विपत्ति हमेशा के लिये दूर हो जायेगी।

अरे मूर्ख प्राणी! संसार विलास के लिये अनेक प्रकार का आरम्भ किया और आरम्भ करके नरक का ही साधन किया। उस साधन को जुटाते समय एक मिनट भी तुझे फुरसत नहीं मिली। फिर नरक में सुख और शान्ति कहाँ से मिलेगी? वहाँ पर दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है। वहाँ से निकल कर कदाचित् नीच पर्याय में पशु पक्षी या नीच गति को प्राप्त करेगा और वहाँ पर भी दुःख ही दुःख उठाना पड़ेगा। हे प्राणी! अगर तू सुख और शान्ति चाहता है और दो चार मिनट भगवान के गुण गान स्तुति आदि में उपयोग लगायेगा तो संसार का बन्धन तोड़ने में बहुत आसान होगा। अगर तुझे रुचि नहीं है माया अहंकार के जोर से अहंकारी बनकर भगवान की भक्ति सेवा से वंचित होकर अज्ञान में तेरा चित्त रमता रहेगा तो आगे चल करके पशु बनकर अनेक प्रकार का दुःख उठाना पड़ेगा। हे अज्ञानी जीव! अब तो चेत दूसरे भव में चेतने का साधन नहीं मिलेगा। आत्म धर्म में अपने मन को स्थिर करो। जैसे रोगी दवाई खाकर भीतर से रुचि पूर्वक पथ्य करता है तो रोग दूर हो जाता है। इसी तरह भगवान वीतराग की वाणी रूपी दवाई को पीकर अपने भीतर उतार। तभी कर्म रूपी रोग से तू मुक्त होकर निरोगी बन सकता है। नहीं तो कर्म से छूटने की उम्मीद नहीं है। इसलिये भगवान जिनेन्द्र के तत्व के प्रति श्रद्धान रखो। जब तक उन तत्वों के प्रति रुचि नहीं होगी तब तक तुझे संसार की दुःख रूपी चिन्ता बनी रहेगी। आचार्य ने बताया है कि हे प्राणी! विषय वासना का मन से त्याग करो। विषय वासना हमेशा इस आत्मा को जन्म मरण के चक्कर में भ्रमण कराने वाली हैं।

उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति ने नदी में एक सुन्दर पका हुआ पीला अत्यंत स्वादिष्ट बिजौरा का फल आता हुआ देखा। तब वह व्यक्ति तुरन्त ही नदी में कूद कर उस फल को ले आया और वह फल अत्यन्त स्वादिष्ट होने के कारण मन में विचार किया अगर मैं इस फल को लेजा कर राजा को दे दूं तो मुझे बहुत इनाम मिलेगा। इस तरह विचार कर उस फल को लेजाकर राजा के हाथ में दे दिया।

राजा ने उस फल को हाथ में ले करके देखा वह फल अत्यन्त सुगन्धित था इसलिये वह उस व्यक्ति से अत्यन्त खुश हुआ। तुरन्त ही सभा में बैठे ही बैठे उस को काटकर राजा खाने लगा। फल अत्यन्त मीठा था। उस मीठे फल के स्वाद से राजा उसमें आसक्त हो गया और राजा ने पूछा कि ऐसे स्वादिष्ट फल होते

कहाँ हैं ? सभा में से एक विद्वान पुरुष खड़ा होकर कहने लगा कि बिजौरा नदी के किनारे बाग है उस बाग में एक वृक्ष है। यदि कोई वहाँ जाता है तो यक्ष बिजौरा फल को नदी में गिरवाता है और उस मनुष्य को मारकर वहाँ के कुए में डाल देता है। लाने वाले का मरण वहीं हो जाता है राजा इस बात को कब मानने वाले थे अर्थात् नहीं माने। प्रजा लोगों को आपत्ति में डालकर उसने आदेश दे दिया। इसी प्रकार मेरी आज्ञा को आप लोगों को पूरा पालन करना ही होगा मुझे अवश्य यह फल मिलना चाहिए। इस प्रकार जबरदस्ती से एक एक व्यक्ति को वारी बारी से भेजने का आदेश दिया। राजा की जिद्द से या भय से प्रजा को वात माननी पड़ी। मनुष्यों के नाम से चिट्ठी लिखकर घड़े में रखते और वह चिट्ठी जिनके नाम से निकल आती वह व्यक्ति फल को लेने जाता। इस प्रकार नम्बर वार जाते थे। राजा के मन में यह विचार नहीं आता था कि मेरे स्वाद के लिए कितने जीवों की हत्या होगी इस वातका विचार नहीं रहता था। जिह्वा इन्द्रिय के लम्पटी राजा को ऐसे ज्ञान होना कठिन होता है। इस प्रकार कई दिन चलते चलते एक दिन एक व्रतधारी मनुष्य की वारी आयी। वह णमोकार मंत्र की आराधना रुचिपूर्वक रोजाना किया करता था। उसका भगवान जिनेंद्र देव के मार्ग के प्रति गाढ़ श्रद्धान था। और सदा मन में पंच परमेष्ठी का स्मरण किया करता था। प्रत्येक जीव के प्रति क्षमा याचना करता था हर समय णमोकार मंत्र का मन: पूर्वक जाप करता था। परन्तु उस दिन उस व्रती पुरुष को णमोकार मंत्र की जाप करने का समय न मिलने के कारण वह पुरुष णमोकार मंत्र का उच्चारण करते हुए उस यक्ष के वाग में पहुंचा। उस वाग में पहुंचते ही उस पुरुप के मुख से णमोकार मंत्र निकला। उस मंत्र को सुनकर राक्षस को पूर्व भव का स्मरण हुआ कि मैंने पूर्व भव में संयम धारण किया था परन्तु संयम की विराधना करने से मैं इस नीच व्यंतर कुल में उत्पन्न हुआ हूं। इसलिये हे सज्जन पुरुष ! इस मंत्र को मुझे दीजिये और मेरा उद्धार कीजिये। मैं आपको नहीं खाऊंगा। तब उस व्रती पुरुष ने कहा—मुझे मार डालने पर भी मुझे इसकी परवाह नहीं है परन्तु मैं इस व्रत को आपको दे नहीं सकता हूं। तब राक्षस ने कहा अरे भाई हे महानुभाव मेरा उद्धार कीजिये इस मंत्र को मुझे देदो तव उन्हों ने कहा कि अगर इस मंत्र को लेना है और अपने जीवन को सुधार लेना चाहता है तो हे यक्ष ! अपने जीवन में जीव हिंसा नहीं करना और किसी भी जीव को नहीं मारने की प्रतिज्ञा करो। तब मैं इस मंत्र को आपको दे सकता हूँ। इस बात को सुनकर उस यक्ष ने हमेशा के लिए हिंसा का त्याग किया तत्पश्चात् उस व्रती पुरुष ने उसको णमोकार मंत्र दिया उसके बाद उस यक्ष के साथ घनिष्ट सम्बन्ध हुआ प्रेम हुआ और हमेशा को मित्रता वन गई। तत्पश्चात् वह व्रती बिजौरा के फल को लेकर राजा के पास गया और राजा के हाथ में दिया। तब राजा ने उसको देख

कर बड़े आश्चर्य के साथ सोचा कि यह पुरुष वहां से बचकर कैसे आया ? ऐसे मन में आश्चर्य करते हुए उस राजा ने उस व्रती पुरुष से पूछा कि भाई तू उस यक्ष राक्षस से बचकर इस फल को अपने हाथ में लेकर जीता कैसे आया ?

इसके उत्तर में श्रावक जिनदास ने उत्तर दिया कि मैं व्रतधारी होने के कारण इस णमोकार मंत्र का जाप किये विना अन्यत्र गमन नहीं करता हूँ। इसलिए समय का अभाव होने से इस मंत्र को रास्ते में जोर जोर से पढ़ता हुआ उस यक्ष के बगीचे में पहुंचा। उस मंत्र को जब मैं पढ़ रहा था उस समय इसकी आवाज सुन करके यक्ष देवता तुरन्त ही मेरे पास आया। तुरन्त आते ही उसने णमोकार मत्र का शब्द अपने कानों से सुनते ही स्तब्ध रह गया। थोड़े समय में उसे पूर्व भव की याद आई। मन में विचार करने लगा कि अरे मैं पूर्व में एक व्रती संयमी था और बीच में संयम भ्रष्ट होने के कारण दुर्ध्यान से मरकर इस बीच यक्ष की योनि में जन्म ले लिया है। मुझे धिक्कार है। इस तरह से पश्चाताप करते हुए वह यक्ष देव मेरे से प्रार्थना करने लगा कि हे भाग्यवान् ! तू मेरा उद्धार कर। जो तुम मंत्र का उच्चारण कर रहे हो उस मंत्र को तुम मुझे दे दो। फिर मैंने पूछा कि तू इस मंत्र को लेकर क्या करेगा ? तब उसने कहा कि इस मंत्र के अन्दर अनन्त शक्ति मालूम होती है इस मंत्र का शब्द मेरे कान में पड़ते ही मेरे अन्दर की कुभावना नष्ट हुई है। और ये भी बताया कि इस मंत्र के अन्दर ऐसी कौन सी शक्ति है जिसने एक दम मेरे क्रूर परिणाम को मर्दन कर दिया ? तब जिनदास ने कहा कि हे यक्ष देव ! ये मंत्र अत्यंत पवित्र है इस मंत्र को जो जीव अपने हृदय से आराधना करता है औरों को संसार में जो चीज प्राप्त नहीं होती वह उसके लिए प्राप्त हो जाती है। इस मंत्र की महिमा अत्यन्त महान है। कल्याण का कारण है। ऐसे सुनकर यक्ष देवता ने प्रार्थना की कि इस मंत्र को मुझे देकर मेरा उद्धार करो। तब मैंने कहा कि अगर तू आज से तेरे बाग में आने वाले मनुष्य को न मारकर फल दे दिया करे तो इस मंत्र को तुझे मैं दे सकता हूं। अब इस बात की प्रतिज्ञा करो कि भविष्य में आजन्म मैं किसी जीव को नहीं मारूंगा। इस बात को सुनकर के मन में अत्यन्त हर्षित होकर यक्ष देव ने इस बात की प्रतिज्ञा की। जिनदास श्रावक के शरण में नमस्कार करता है और प्रतिज्ञा की कि आज से मैं किसी जीव का वध नहीं करूंगा। तत्पश्चात् मैंने उसे णमोकार मंत्र दिया और इससे मेरा संबंध उससे बंधु का सा होकर अत्यंत प्रेम हो गया और यों वहाँ से बिजौरा फल लेकर आपके पास आया। इस बात को सुनकर राजा मन में अत्यंत खुश होता है और मन में पश्चाताप करता है कि अरे ! मैंने संयम का महत्व आज तक समझा नहीं। पंच नमस्कार के महत्व को भी आज तक नहीं समझा

और मैंने अपने पंचेद्रिय को तृप्त करने के लिए कितने मानवों की हत्या करवा दी। मेरे समान इस संसार में अधम कौन होगा। इस तरह पश्चाताप करते हुए राजा ने जिनदास से प्रार्थना की कि हे महानुभाव! मुझे भी इस मंत्र को देकर मेरा उद्धार करो। उस राजा की प्रार्थना को सुनकर जिनदास श्रावक ने उस राजा को णमोकार मंत्र देकर कहा कि आज से आप किसी के प्रति अत्याचार और जीव हिंसा मत करो और अधर्म का मार्ग छोड़कर सन्मार्ग ग्रहण करो तब यह मंत्र आपको फलदायक होगा। इस बात को सुनकर राजा कुमार्ग छोड़कर भगवान जिनेंद्र देव के कहे हुए मार्ग पर चलकर अत्यन्त धर्मात्मा बन जाता है। कहने का तात्पर्य है कि इस धर्म की महिमा देव भी वर्णन नहीं कर सकते हैं। इसलिये हे मानव प्राणी! ऐसे धर्म को जो एक सैकिण्ड भी हृदय में धारण करले तो उस जीव का कल्याण हो जाता है। और यही धर्म आत्मा का धर्म है अन्यथा नहीं ऐसा समझकर सच्चे आत्म धर्म की ही आराधना करो तभी सुख और शांति मिल सकती है अन्यथा नहीं।

देहादि परद्रव्यं सोहं तद्रूप नेंबवं वहिरात्मं।
बाह्यच्युतातं रात्मं देहादि व्याप्ति यिल्लुदं परमात्मं ॥२२॥

देहादि जो पर द्रव्य है वही मैं हूं वही मेरा परमात्म स्वरूप है। इस प्रकार जो बाह्य शरीर और शरीर सम्बन्धी पंचेद्रिय विषय और भोगोपभोग वस्तु हैं वही मेरी हैं, वही परमात्म रूप है, ऐसा कहने वाले बहिरात्मा हैं। और देहादि बाह्य वस्तुओं से च्युत होकर रहने वाला अर्थात् देहादि से भिन्न बाह्य वस्तु को और आत्मा को लक्षण भेद से अलग अलग रूप से जानने वाला वह अंतरात्मा है। देहादि पर वस्तु के सम्बन्ध से रहित जो शुद्धात्मा है वही परमात्मा है ॥२२॥

विवेचन—इस श्लोक में ग्रंथकार ने वहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन प्रकार के आत्म स्वरूप का वर्णन किया है।

अज्ञानी वहिरात्मा जीव देहादिक—अपने आत्मा से भिन्न पदार्थ को ही अपना आत्मा मानकर पर द्रव्य में रागी होकर रागभाव से पुद्गलादिकों में परिणमन करता है और कुम्हार के चक्र के समान संसार में परिभ्रमण करता है। उस अज्ञानी वहिरात्मा को एक सैकिण्ड भी संसार चक्र में शांति नहीं मिलती है। कहा भी है कि :—

आराररलद गर्भ दोळ्वलेयनारारोंडु मूत्राध्वदळ्।
वारं वंदुरे बंधुगलिपितृगलेदेन्नंमनानीकमें ॥
दारारेंजंलनुण्णुनात्म झरेनुत्तारार दुर्गंधदिं।
चारित्रंगिडनात्मने भ्रमितनो रत्नाकराधीश्वरा ॥

रत्नाकर कवि भगवान को सम्बोधन करके पूछता है—हे भगवन् ! ये आत्मा किस किस नीच योनि, गर्भ में जन्म लेकर वद्ध नहीं हुआ। किस किस के मूत्र माग में से बाहर नहीं आया। उस मूत्र मार्ग से बाहर आकर मेरे वन्धु, मेरे भाई, मेरे माता पिता, मेरी पत्नी, यह सब मेरा समुदाय इस प्रकार अपने मानकर किस किस की भूठन नहीं खाई। 'मेरा पुत्र' इस प्रकार मन में उसके प्रति अत्यन्त प्रेम या उस पर मोहित होकर किस किस के दुर्गन्ध से अपने आचरण को नष्ट नहीं कराया। इस प्रकार हे भगवान् आत्मा ! तू इस पर वस्तु में, क्षणिक परद्रव्य में इतना भ्रमित क्यों हो गया है। इसलिये हे आत्मन् ! तू ने अनादि काल से इन्हीं पुत्र कलत्रादि के मोह के कारण अनेक योनियों में जन्म लिया और भव-भव में दुःख पाया। इसलिये अब श्री गुरु का उपदेश मानकर स्व पर का ज्ञान करो; अपने शुद्ध निरंजन सच्चिदानन्द, आत्म स्वरूप का ध्यान करो और परवस्तु को अपनी आत्मा से दूर करो। इससे तुझे सुख और शांति मिलेगी और हमेशा के लिये संसार छूट जायेगा। इसलिये तू अन्तरात्मा बन जा। कहा भी है कि :—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएव।
परम-समाहि-परिट्ठियए पंडिउ सो जि हवेइ ॥

भावार्थ—यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से अर्थात् इस जीव के परवस्तु का सम्बन्ध अनादिकाल का मिथ्यारूप होने से व्यवहारनय से देहमयी है, तो भी निश्चयनय से सर्वथा देहादिक से भिन्न है, और केवलज्ञानमयी है। ऐसे निज शुद्धात्मा को वीतरागनिर्विकल्प सहजानन्द शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप परमसमाधि में स्थित होता हुआ जानता है, वही विवेकी अन्तरात्मा कहलाता है। वह परमात्मा ही सर्वथा आराधने योग्य है, ऐसा जानना।

इस प्रकार आत्मा का स्वरूप योगीन्द्राचार्य ने बतलाया है कि :—

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्के जेण।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परू सो परू मुणहि मणेण ॥

हे योगी ! जिसने देहादिक समस्त पर द्रव्य छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भाव कर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनों से रहित केवल ज्ञानमयी आत्मा का अनुभव कर लिया है। ऐसी आत्मा को हे योगी ! तू माया मिथ्या निदानरूप शल्य आदि समस्त विकार अर्थात् विभाव परिणाम से रहित होकर निर्मल चित्त से परमात्मा जान। तथा केवलज्ञानादि गुण वाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादि रूप सब परवस्तु त्यागने योग्य है। इस प्रकार

परमात्मा का स्वरूप है। ऐसे परमात्मा का स्वरूप अपने भीतर ही है। पहले कहे हुए तीन आत्मा के भाव को छोड़कर तू आत्मा का ध्यान कर। यह परमात्मा कैसा है? यह सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि आठों कर्मो से रहित है। स्पर्श, गंध वर्ण आदि से रहित है अरूपी है सम्पूर्ण परवस्तु से रहित है। ऐसा परमात्मा इस देहरूपी मन्दिर में हमेशा वास करता है इसलिये तू उसी का ध्यान कर। कहा भी है कि :—

जासु वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ।।
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ।।
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ।।

आगे फिर उसी परमात्मा का कथन करते हैं—जो अनन्तज्ञानादिरूप अपने भावों को कभी नहीं छोड़ता और जो काम क्रोधादिरूप परभावों को कभी ग्रहण नहीं करता है, तीन लोक तीन काल की सब चीजों को केवल हमेशा जानता है, वही शिवस्वरूप तथा शांतिस्वरूप है।

भावार्थ—संसार अवस्था में शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सभी जीव शक्तिरूप से परमात्मा हैं, व्यक्तिरूप से नहीं हैं। ऐसा कथन अन्य ग्रंथों में भी कहा है—'शिवमित्यादि' अर्थात् परमकल्याणरूप, निर्वाणरूप, महाशांत अविनश्वर ऐसे मुक्ति-पद को जिसने पा लिया है, अन्य कोई, एक जगत्कर्ता सर्वव्यापी सदा मुक्त शांत शिवरूप नैयायिकों का तथा वैशेषिक वगैरह का माना हुआ नहीं है। यह शुद्धात्मा ही शान्त है, शिव है, उपादेय है।

आगे पहले कहे हुए निरंजन स्वरूप को तीन दोहा-सूत्रों से प्रगट करते हैं—जिस भगवान के सफेद, काला, लाल, पीला, नीलस्वरूप पाँच प्रकार का वर्ण नहीं हैं, सुगन्ध दुर्गन्धरूप दो प्रकार की गंध नहीं हैं, मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय रूप पाँच रस नहीं हैं, जिसके भाषा अभाषा रूप शब्द नहीं है, अर्थात् सचित्त अचित्त मिश्ररूप कोई शब्द नहीं हैं, सात स्वर नहीं है, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरू, लघु, मृदु, कठिनरूप आठ तरह का स्पर्श नहीं है, और जिसके जन्म जरा नहीं है, तथा मरण भी नहीं है उसी चिदानन्द शुद्धस्वभाव परमात्मा की निरंजन संज्ञा है, अर्थात् ऐसे परमात्मा को ही निरंजनदेव कहते हैं। निरंजनदेव कैसा है? जिस सिद्ध परमेष्ठी के गुस्सा नहीं है, मोह तथा कुल जाति वगैरह आठ तरह का अभिमान नहीं है, जिसके माया व मान

कषाय नहीं है, और जिसके ध्यान के स्थान नाभि, हृदय, मस्तक वगैरह नहीं है चित्त के रोकने रूप ध्यान नहीं है, अर्थात् जव चित्त ही नहीं है. तो रोकना किसका हो। ऐसे निजशुद्धात्मा को हे जीव ! तू जान। सारांश यह हुआ, कि अपनी प्रसिद्धि महिमा, अपूर्व वस्तु का मिलना, और देखे सुने भोग इनकी इच्छारूप सव विभाव परिणामों को छोड़कर अपने शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्प समाधि में ठहरकर उस शुद्धात्मा का अनुभव कर। पुनः वह निरंजन कैसा है—जिसके द्रव्यभावरूप पुण्य नहीं, तथा पाप नहीं है, रागद्वेषरूप खुशी व रंज नहीं हैं, और जिसके क्षुधा वगैरह दोषों में से एक भी दोष नहीं है, वही शुद्धात्मा निरंजन है, ऐसा तू जान।

भावार्थ—ऐसे निज शुद्धात्मा के परिज्ञानरूप वीतरागनिर्विकल्प समाधि में स्थित होकर तू अनुभव कर। इस प्रकार तीन दोहों में जिसका स्वरूप कहा गया है, उसे ही निरंजन जानो, अन्य कोई भी कल्पित निरंजन नहीं है। इन तीनों दोहों में वो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला निरंजन कहा गया है, वही उपादेय है।

नदी में तैरने का विषय जिस मनुष्य का नहीं है ऐसे मनुष्य दूसरों को तैरने का उपदेश देकर उनको कैसे पार करा सकता है। इसी प्रकार विषय, कषाय या प्रमाद आदि से युक्त हमेशा संसार बन्धन में जकड़े हुए मनुष्य दूसरे को संसार से मुक्त होने का उपदेश दे भी दे तो वह निरर्थक होता है। कदाचित् उपदेश दे तो भी वह उनके इष्ट फल सिद्धि के लिये कारण नहीं बनता है। क्योंकि, जिस मनुष्य ने अपने जीवनकाल में तैरना नहीं सीखा है और तैरने का प्रयत्न भी नहीं किया और कैसे तैरते हैं लोग यह भी नहीं देखा, ऐसा मनुष्य यदि तैरने का उपदेश देदे तो लोगों का उस पर क्या विश्वास होगा। क्योंकि, तैरने की कला परिपूर्णरूप से नहीं वताने के कारण जनता प्रमाण नहीं मानती है। इसलिये उसका उपदेश नदी पार करने के फल को नहीं दे सकता है। इस उदाहरण से हमें यह समझना चाहिए कि आत्मस्वरूप को जिन्होंने जाना है ऐसा निर्मल बुद्धि वाला मनुष्य ही आत्मा के उपदेश के लिये योग्य होता है। जिन्होंने तिलमात्र भी आत्मस्वरूप को न जानकर अपनी बुद्धि को अत्यन्त मलिन कर रखा है, ऐसे मनुष्यों का उपदेश विश्वास के योग्य नहीं होता है। विद्वानों की दृष्टि में वह वंचक समझा जाता है। इसलिए जो मनुष्य आत्म विज्ञान का दूसरे को उपदेश करता हो तो उसके लिये सवसे पहले आत्म स्वरूप का परिज्ञान कर लेना उचित है।

दुनिया में नेत्र वाला पुरुष मार्ग को अच्छी तरह से जानने वाला होता है। इसलिये वह अन्धे को योग्य स्थान पर पहुँचा देता है परन्तु अन्धे को अन्धा कभी नहीं लेजा सकता क्योंकि अन्धे को मार्ग अपरिमार्ग का ध्यान नहीं है कदाचित्

अपने हठाग्रह से या जिद से अन्धा अन्धे को ले जाता है तो कहीं खड्डे या नाली में उसको गिरा देगा वह स्व और पर दोनों के प्राण न्योछावर कर देता है।
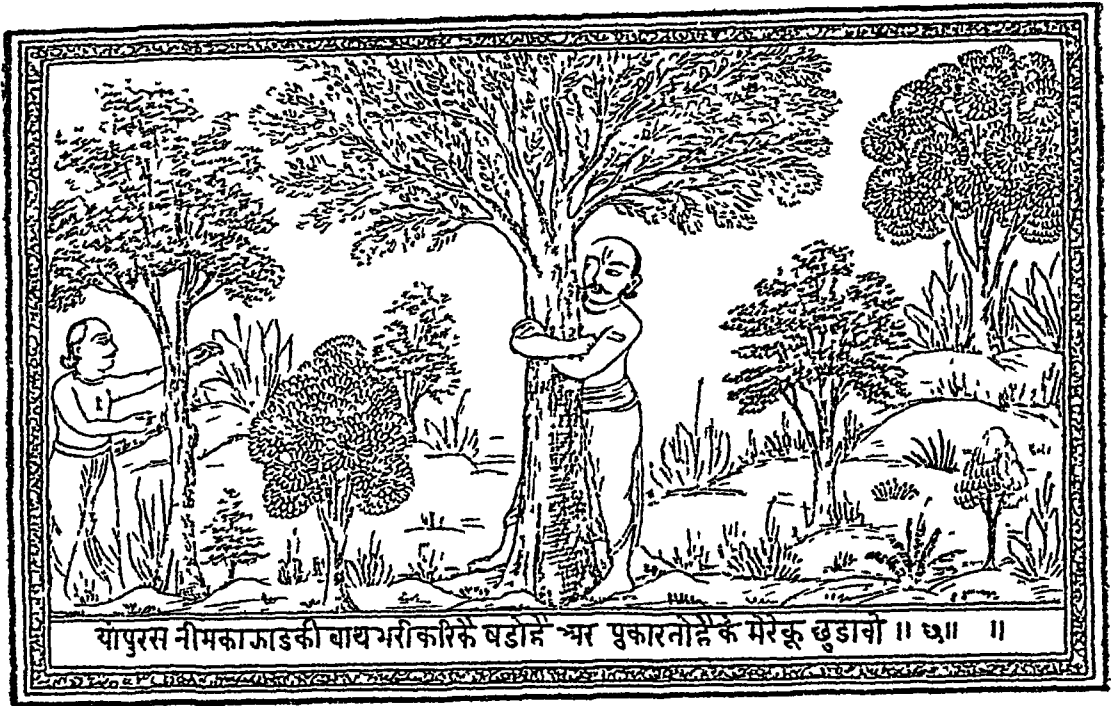
स्वयमेव इस मनुष्य ने इस झाड़ को पकड लिया है।
और कहता है इस झाड़ ने मुझे पकड़ लिया है।

इसलिये हे आत्मन्! यदि तू अपने आत्म स्वरूप का जानकार हो जाय तो दूसरे को ज्ञानवान् बनाने में समर्थ होगा।

इसलिये श्री गुरु कहते हैं कि हे भव्य आत्मन्! दूसरे को आत्म प्रतिबोध करने से पहले अपने स्वात्म को प्राप्त तो हो जा। अगर तू अपने आत्म स्वरूप को नही जानता है तो अज्ञान अवस्था में संसार में चक्र भ्रमण के समान घूमने वाले जीवों को तू क्या ज्ञान दे सकता है। न वे कभी आत्मज्ञान का उपदेश सुन सकते हैं। जितना उपदेश करते जायँ, उनके लिये वह निष्फल होता है। जिन्होंने आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा की है, उनको सबसे पहले अपने आप आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। वही सांसारिक जीवों को आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उपदेश दे सकता है अन्यथा नहीं।

जब तक आत्मा को आत्म ज्ञान न हो और उसका मार्ग, रूपरेखा जब तक किसी जीव को ठीक समझ में नहीं आवे, तब तक आत्म बोध नामक विज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। आत्म बोध के बिना आत्म कल्याण का साधन कर सिद्ध पद को प्राप्त करने में और दूसरे को आत्म कल्याण के मार्ग में लगाने के लिए वह योग्य नहीं होता है, इसलिए सबसे पहले इसकी जानकारी कर लेना अत्यन्त-आवश्यक है। तभी आत्मा के हिताहित का परिज्ञान हो सकता है।

आत्मा और शरीर भिन्न हैं, अगर किसी को इतना ज्ञान हो जाय तो जीव का कल्याण हो सकता है। केवल आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करने वाले को इस विषय का उपदेश व्यर्थ नहीं है। आचार्य बतलाते हैं कि जिनको इस पर विश्वास नहीं है उन्हें आत्म कल्याण का बोध होता है या आत्मा की प्राप्ति होती है, ऐसे नहीं है। जिनको निर्वाण पद को प्राप्त करने की इच्छा है, उनको सबसे पहले भगवान जिनेन्द्र देव के तत्व में अत्यन्त गाढ़ रुचि चाहिए।

परन्तु जो नास्तिक हैं, वे आत्मा नाम का कोई भिन्न पदार्थ ही नहीं है ऐसा मानते हैं। पृथ्वी जल आदि पंच भूतों से इस लोक में जीव की उत्पत्ति और विनाश होता है। इसलिए यहाँ सांसारिक सुख भोगने वाले को स्वर्ग और मोक्ष यहाँ के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। इस प्रकार उनके मन में यह धारणा परम्परा से होने के कारण वे हमेशा ये ही उपदेश देते हैं—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

तुम खूब कर्ज लेकर सुख का अनुभव करो। मरना है तो क्यों न खा पीकर मरना चाहिए। ये ही मोक्ष है।

ऐसे लोग आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते हैं। ऐसा कहने से उनको कभी भी मोक्ष की प्राप्ति या संसार से मुक्त होने की सामग्री भी नहीं मिल सकती है। ऐसे लोग हमेशा संसार में भ्रमण करते हैं। अगर हम नास्तिक की बात मान लें तो दीवाल के उस तरफ जो वस्तु है, वह दृष्टिगोचर न होने से असत्य समझी जायगी। इसलिए उस नास्तिक की बातें अज्ञानपूर्ण हैं। अगर कोई मुमुक्षु उन बातों को मान ले तो आत्म उन्नति नहीं कर सकता है। इसलिए आत्म उन्नति करने वाले जीव को ये बातें बाधक हैं। यह समझ कर उसको त्याग करने की आवश्यकता है। तव आत्म प्रबोध नाम के आत्मा के विषय को समझ करके आत्म कल्याण मार्ग में लगना ये ही युक्तियुक्त है। आत्म परिज्ञान हो जाने के बाद सिद्ध पद को देने वाले आत्म स्वरूप की प्राप्ति करने के लिए उसी आत्म स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

ज्ञानी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मा हमेशा नाशरहित है, नित्य आनन्द में है, सम्यग्दर्शन आदि गुण से हमेशा युक्त है और कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता है, नित्य गुण का भंडार है। पर्यायार्थिकनय से हमेशा अदल बदल होने के कारण परिणमनशील है। अपने आनन्द और ज्ञान से स्वानुभवयुक्त ऐसे विज्ञानी लोगों के द्वारा हमेशा समझा हुआ है। अनेक प्रकार के पदार्थों को समझने देखने

वाला होने के कारण ज्ञान दर्शनोपयोगमय है । पर्यायार्थिकनय से आत्मा की पर्याय सदा बदलती रहती है। इस प्रकार वह स्व और पर पदार्थो को जानने वाला है । अपने द्वारा कर्म का सम्पादन करने के कारण कर्ता भी माना जाता है। कर्म के फल का भोक्ता होता है और निराकुल अनन्त सुख का भंडारी भी है। इस प्रकार भावना करने वाला अन्तरात्मा संसार में होते हुए भी आत्मा से च्युत नहीं होता है और बाहर दिखने वाले रूपी जड़ पदार्थ में राजी नहीं होता है। ज्ञानी जीव जब आकुलता से रहित आत्मा का परिज्ञान और एकाग्र होकर अपनी आत्मा का स्वरूप चिन्तवन करता है तब एक दम बाह्य पदार्थ को भूल जाता है।

इस प्रकार की भावना करने वाला परमात्मा बन जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिए। क्योंकि आत्मा हमेशा द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य है, निरंजन है, शुद्ध है, बुद्ध है, आठों कर्मों से रहित है। पंचेन्द्रियों से रहित है। अनन्त ज्ञान का भण्डार है, नित्य है, निराधार है, ऐसा सिद्ध परमात्मा इस मानव शरीर के अन्दर विराजमान है। ऐसी सदा भावना करो । इससे तुझे अखण्ड अविनाशी सुखामृत की प्राप्ति होगी। इसके विपरीत अगर तू भावना करेगा तो फिर संसार में दीर्घकाल तक पड़ा रहेगा। अब ग्रंथकार पुनः परमात्मा का स्वरूप बतलाते हैं :—

संद चिदानन्ददोळा नंददे निजगुणदोळोंदि निदात्मं ता ॥
नोंदे परमात्म नण्पुडु संदेहमे पेळिमेंदनध्यात्मविदं ॥२३॥

अर्थ—सन्तोष से चिदानन्द में मग्न हुआ आत्मा अपने अनन्त ज्ञानादि गुणों में लीन रहता है। वही परमात्मा है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इस प्रकार अध्यात्म के ज्ञाताओं ने समझाया है।

आचार्य ने यहाँ परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। जो ज्ञानी जीव सम्पूर्ण परवस्तु को आत्मा से भिन्न मानकर अपने में रत हो जाता है और जो ज्ञान दर्शनोपयोग में आत्मा की पहचान करता है, वही जीव बाह्य शरीर तथा शरीर सम्बन्धी विषय को हेय मानकर परमात्म स्वरूप में रत रहता है। उसको परमात्मा का अनुभव होता है और जीव संसार का परित्याग करके परमात्मा बन जाता है, ऐसे भेद विज्ञानी आत्मा निर्मोही सद्गुरु ने कहा है। मिथ्यात्व रागादि को छोड़ने से निज शुद्धात्म द्रव्य के यथार्थ ज्ञान से जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियों को दूसरी कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है। इसलिए उनका मन कभी विषयवासना में नहीं लगता । यह विषय कैसा है ? ये विषय कषाय सिद्धात्मा की प्राप्ति के शत्रु हैं। ये भव भ्रमण के कारण हैं। काम भोग

रूप पंचेन्द्रियों का विषय मूढ़ जीवों के मन का साधन है। इनमें सम्यग्दृष्टि का मन नहीं लगता। ऐसे सम्यग्दृष्टियों ने वीतराग सहजानन्द अखण्ड सुख में तन्मय परमात्म तत्व को जान लिया है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि जो विषय वासना में रत है वह अज्ञानी है। और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी सदा विषय विकार से विरक्त रहते हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि केवल ज्ञानादि अनन्त गुण युक्त आत्मा को छोड़कर दूसरी वस्तु ज्ञानी के मन में नहीं रुचती। इसका उदाहरण है कि जिसने मरकत मणि रत्न को जान लिया है, उसको कांच से क्या प्रयोजन। इसलिये ज्ञानी संसार के विषय भोग को भोगता हुआ भी उसमें रत नहीं होता। मोह से भले और बुरे परिणामों को करता है किन्तु अपने आपको उसका कर्ता नहीं मानता। वह केवल कर्म को देखता है इसका सारांश यह है कि वीतराग परम आल्हाद रूप सिद्धात्मा की अनुभूति से जो रागादिक विभाव उनके फल को भोगता हुआ जो अज्ञानी जीव मोह के उदय से हर्ष विषाद भाव करता है, वह नये कर्म का बन्ध करता है अर्थात् वह निज स्वभाव से च्युत हुआ आये हुए कर्मों में रागद्वेष करता है। वह ही नये कर्म को बांधता है परन्तु ज्ञानी कर्म को नहीं बांधता है।

ज्ञानी जीव इस प्रकार विचार करता है कि अनादि काल से उपार्जन किये हुए शुभाशुभ कर्म के निमित्त से आत्मा उसमें परिरमण करते हुए विकारमय बन गया है। वह विकार जड़ वस्तु में है। विकारमय जड़ वस्तु में राग परिणति करने के कारण यह आत्मा अपने आपको रागीद्वेषी मानता है और विकारमय जड़ पदार्थ के साथ विकारी होकर संसार में भ्रमण करता है। अगर सम्पूर्ण वस्तु को आत्मा से भिन्न मानकर विचार किया जाये तो ये आत्मा शुद्ध निरंजन आनन्दमय परम ज्योति स्वरूप है और चिदानन्द है। कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है कि :—

जीवा अणाइणिहणा संता णंता य जीवभावादो।
सब्भावदो अणंता पंचग्गगुणप्पधाणा च ॥५६॥

जीव अपने जीव सम्बन्धी भावों की अपेक्षा अनादि निधन है, सांत है और अनन्त हैं। इस तरह पाँच मुख्य गुणधारी हैं तथा सत्तापने की अपेक्षा अनन्त है।

विशेषार्थ—ये जीव शुद्ध पारिणामिक परम भाव को ग्रहण करने वाली शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध चैतन्य रूप हैं। इससे अनादि अनन्त हैं अर्थात् पारिणामिक भाव सदा बना रहता है। और औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन भावों की अपेक्षा सादि सांत हैं अर्थात् ये तीन भाव कर्मों के उदय, उपशम या क्षयोपशम के द्वारा होते हैं और नष्ट होते हैं। तथा क्षायिक भावों की

अपेक्षा सादि अनन्त हैं। क्षायिक भावों को सादिसांत न मानना चाहिए क्योंकि वे भाव कर्मो के क्षय से केवल ज्ञानादि रूप से उत्पन्न होकर सदा बने रहते हैं, वे भाव सिद्ध जीव के समान जीव के स्वाभाविक भाव हैं और स्वभाव का कभी नाश नहीं होता है। यद्यपि ये जीव स्वभाव से शुद्ध हैं तथापि व्यवहारनय से अनादिकाल से कर्मबन्ध होने के कारण कर्दम सहित जल की तरह औदयिक आदि भावों में परिणमन करते हुए देखे जाते हैं। इस तरह स्वरूप का व्याख्यान किया गया।

अब असंख्य को कहते हैं कि ये जीव द्रव्य स्वभाव की गणना से अनन्त हैं अर्थात् इनकी संख्या अक्षय अनन्त है। सांत, अनन्त शब्द का दूसरा व्याख्यान करते हैं। जिनका अन्त हो अर्थात् जिनके संसार का अन्त हो सके वे जीव साँत अ ात् भव्य हैं व जिनके संसार का अन्त न हो सके वे जीव अनन्त अर्थात् अभव्य हैं। अभव्य जीव अनन्त है इनसे भी अनन्त गुणे भव्य हैं, इन अभव्यों से भी अनन्नगुणे अभव्य समान भव्य हैं, जिनका भी ससार अन्त होने का अवसर नहीं आयगा—इस सूत्र का यह तात्पर्य है कि जो भव्य जीव सादि साँत मिथ्यात्व रागादिदोष के त्याग में परिमन करने वाले हैं, उनको अनादि अनन्त अनन्त-ज्ञानादि गुण के धारी शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है।

भावरहित वहिरात्मा को आत्मानंद का स्वाद अत्यन्त हेय लगता है और भावलिंगी अन्तरात्मा को आत्मानंद अच्छा लगता है और वाह्य पदार्थ का रस उनको हेय लगता है, ऐसे ग्रंथकार आगे के श्लोक में कहते हैं :—

बहिरात्मा भावरहितं स्वहितकरं भव्यनमृतमयनागिर्पा ।
सहजात्मननाराधिप महिमं भेदज्ञनंतरात्मं कुशलं ॥२४॥

अर्थ— ाव ग्हित वहिरात्मा है। वहिरात्मा हमेशा परवस्तु को अपनी आत्मा मानते हैं। और जो अपने अन्दर अमृतमयी के रूप में रहने वाले शुद्धात्म परमात्मा को भजने वाले महान् बुद्धिशाली स्व पर का ज्ञान कर लेते हैं, वे भव्य जीव हैं। इस प्रकार जिनका लक्षण है, वे अन्तरात्मा समझनी चाहिए।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में वतलाया है कि वहिरात्मा मूढ़ प्राणी हमेशा पर द्रव्य को ही अपनी आत्मा मानता है। और जो ज्ञानी भव्यजीव है वह पर वस्तु से भिन्न अन्तरात्मा मे हमेशा रुचि रखते हुए, वाह्य वस्तु रहने पर भी आत्म रुचि से कभी भी विमुख नहीं होता। इसलिये ग्रंथकार ने यह वतलाया है कि हे अज्ञानी मूढ़ प्राणी! अनादि काल से वाह्य पंचेंद्रिय विषय भोगों में जो पर वस्तु है उस। को अपना मानकर तू वहिरात्मा वन गया है। अव तेरे भाग्य से

श्री गुरु का समागम हुआ है तथा उनका कल्याणमय उपदेश तूने सुना है। अतः अब तू स्व पर का जानकार बन। और वाह्य परद्रव्य से मुंह मोड़कर अपने आत्मा में लीन होजा। अरे अज्ञानी! जैसे किसी ने अपने घर में ही करोड़ों की निधि गाड़ कर रखी हुई है, किन्तु इसका परिज्ञान न होने के कारण भीख माँगने वाला भिखारी वना हुआ है। इसी तरह तू क्षणिक वस्तु की पूर्ति करने के लिए अनेक देश विदेश भ्रमण करता है। अन्त में प्राप्त किये हुए उत्तम मानव पर्याय को छोड़कर अनेक योनियों में भटकता फिरता है। परन्तु इतना होने पर भी तुझे सुख और शांति न मिल सकी और अनेक निंद्यगति तुझे प्राप्त हुई। हे मूढ़ प्राणी! अब तू वहिरात्म भाव छोड़ दे, अंतरात्मा होकर के तू अपने अन्दर ही अपनी खोज कर तब अपने अन्दर ही तू अखंड अविनाशी निजानंद शुद्ध परमात्मा-स्वरूप आनंदकंद ऐसे अमृतमयी आत्म स्वरूप को प्राप्त होगा। तू बाह्य आडंम्बरों में जो सुख मान बैठा है, वह सुख क्षणिक है और हमेशा तेरी आत्मा को मलिन करने वाला है। इसलिये ग्रंथकार कहते है कि हे योगी! शीघ्र ही पर भाव को त्याग कर निर्मल आत्मानंद के अमृतमयी रस का पान कर। वह अपने अन्दर ही खोज करने से तुझे प्राप्त होगा।

हे योगी! तू जिस शरीर को धारण किये हुए है, उस संपूर्ण शरीर में वह आत्मा सुज्ञान, सुदर्शन, सुख और शक्ति से युक्त है। और वह आत्मा स्वयं निराकार है, निर्भय है, अर्थात् वह आत्मा निराकार होते हुए भी साकार शरीर में प्रविष्ट है। उस आत्माराम का कहां तक वर्णन करूं?

सार परिवार दारा गारधरा पुत्रगात्रममकारा हं।
कारयुतं संसाराधारं बहिरात्मनात्मतत्वविदूरं ॥२५॥

अर्थ—सारभूत परिवार स्त्री, गृह, जमीन, पुत्र, शरीर आदि में ममत्व रखने वाले, अहंकारी, हमेशा संसार में भ्रमण करने वाले और आत्म स्वरूप से सदा दूर रहने वाले जीव बहिरात्मा होते हैं।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में वहिरात्मा जीव का स्वरूप वतलाया है। यह वहिरात्मा जीव सदा अपने पंचेन्द्रिय विषय भोगों को बढ़ाने वाले शरीर, पुत्र, धन धान्य आदि के चिन्तन में रत रहता है। ऐसे बहिरात्मा जीव को कभी भी अंतरात्मा की प्राप्ति नहीं होती है। वह हमेशा पर द्रव्य में रत होकर संसार में पंचेन्द्रिय विषय सुख की पूर्ति करने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है।

इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि हे भव्यजीव! बाह्य पंचेन्द्रिय विषय भोग

को वढाने वाला यह पर द्रव्य किसी के साथ आया न गया। केवल इस जीव को दु:ख देने वाला है। कहा भी है कि :—

द्रविणपवनप्राङ्माताना सुखं किमिहेक्षते,
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः।
चरणमपि किं स्पृष्टुं शक्ताः पराभवपांशवो,
वदत तपसोप्यन्यन्मान्यं समोहितसाधनम् ॥

अर्थ—अहो भव्य जीवो! तुम समझते होंगे कि धन दौलत तथा विषय-सेवन सुख के कारण हैं। तप धारण करने वाले को ये छोड़ने पड़ते हैं। इसलिये तप कोई अच्छी चीज नहीं है। तप करना अर्थात् अपने आप न आये हुए दुःखों के बीच आकर फंसना है, न पैदा हुए दुःखों को पैदा करना है, न आने वाले दुःखों को आग्रह करके बुलाना है। तप की तरफ न झुककर यदि विषयसेवन किया जाय तो वड़ा ही आनंद आता है। धन दौलत से विषयों का सुगमता के साथ सग्रह हो सकता है इसलिये धन दौलत भी इकट्ठा करना वहुत जरूरी है।

पर यह तो कहो कि आंधी पवन के जोरदार झकोरे लगने पर जीव इधर उधर डगमगाने लगता है, तब क्या उसे थोड़ा भी आनंद प्रतीत होता है या क्लेश? उस अवस्था में आनंद कैसा। अपने संभालने की उलटी चिन्ता पड़ती है, मन स्थिर नहीं रहता। उस समय यह विचार होने लगता है कि मैं कहीं गिर न जाऊं, इसमें कैसे संभलना होगा? इत्यादि। इस तरह की जब मन में चिन्ता लग जाती है तो सुख कैसा? वहां तो अपने को संभालते संभालते वेजार होना पड़ता है। बस, यही हालत धन-दौलत की है। जो इसके चक्कर में पड़ जाता है वह अपने को संभालते संभालते बेजार हो जाता है। वहां क्या थोड़ा सा भी सुख किसी को दीख पड़ता है? नहीं। तो फिर धन-दौलत में आनंद क्या रहा? रहा विषय-सेवन, पर यह भी एक व्याध के समान अत्यंत दुष्ट है। व्याध जिस प्रकार पक्षियों को अपने जाल में फसा लेता है और उन्हें परतत्र बांधकर रखता है, कभी कभी मार भी डालता है। इसी प्रकार विषय भी जीवों को फसाते हैं और फिर अपने चंगुल में आये हुए उन जीवों को कभी निकलने नहीं देते, सदा उसी फदे के पराधीन रखते हैं, कभी कभी उन्हें मार भी डालते हैं। विषयों में अति लुब्ध हुआ प्राणी अंत में उन्हीं में फंसकर प्राण गंवाता है। काम की दुःखमयी अनेक अवस्थाओं में से अंत की मरण अवस्था ही है। काम-भोग का वियोग होने पर अति लुब्ध हुआ प्राणी अति विचार कर संताप उत्पन्न कर शरीर को सुखा देता है और कालान्तर में कदाचित् तीव्र आर्तध्यान के वश होकर या तीव्र वेदना बढ़ने पर अपने प्राण पखेरूओं को शरीर में रोक नहीं सकता। काम के संयोग से शरीर

क्षीण होने से प्राणान्त होने की बारी आती है और वियोग में संताप वेदना बढ़ने से मरण तक होता है। इसलिये विषयों की लालसा हर हालत में दुःखदायक है। इसके सतत संयोग रखने की इच्छा से जीव नौकरी सेवा आदि अनेक प्रकार के अपमान दुःख सहते हैं।

क्या ये सब दुःख सर्व विषयों को छोड़कर तपश्चरण में रत होने वाले को होते हैं ? नहीं। तप तो इसलिये किया जाता है कि शरीर से स्नेह टूट जाय और आत्मतत्व की सच्ची पहिचान तथा प्राप्ति हो। कामादि विकार बढ़ाने वाले शरीर और मन की दुष्ट भावना है। काय क्लेशादि तपों द्वारा जब शरीर सूख जायगा तो कामादि विकारों को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। आत्म चिंतन-ध्यान द्वारा जब मन पवित्र विचारों में लग जायगा तो उसमें गंदे विचार नहीं उठेंगे किन्तु धीरे धीरे आत्म-तत्व के ज्ञानानंदमय स्वभाव को प्राप्त कर लेने से काम-भोगादि संबंधी, उपर्युक्त सभी दुःख दूर हो जायेंगे। अब कहिये, तपश्चरण से अधिक और भी कोई परम इष्ट सुख का साधक हो सकता है ? क्या तपस्वी के चरणों तक भी, संसारी जीवों को पद पद पर होने वाली अपमानादि रज पहुंच सकती है ? जो विषयाधीन होकर उनके पोषणार्थ पर का आश्रय करे उसको ये सब दुःख होते हैं, तपस्वी को इनसे क्या काम हैं ? अब कहिये, तप अच्छा है या विषयभोग ? अथवा, यों कहिये कि चारित्र तथा तप आदि धारण करने वाला विषय तथा संसार से इतना दूर रहता है कि उसे कभी अपमानादि दुःख रज का स्पर्श तक नहीं हो पाता। इसीलिये ग्रंथकर्ता यह पूछते हैं कि, अपमानादि धूल चारित्र को कभी छू भी सकती है क्या ? नहीं। पर चारित्र न धारण करने वाले विषयाधीन जन तो उस धूल से सदा धूसरित बने ही रहते है। जग में अपमानादिक ही तो बड़े दुःख हैं जो कि विषयासक्त का पीछा कभी नहीं छोड़ते, पर ये तपस्वी के पास तक भी नहीं फटक पाते। इसलिय तप दुःख नाश का और सुख प्राप्ति का मूल कारण मानना ही चाहिये।

हे योगी ! शुद्ध निरंजन निर्विकार रूप ज्ञानदर्शनउपयोग मय आत्मा हमेशा शुद्ध होने पर भी पर वस्तु के निमित्त से वह अशुद्ध बनकर परद्रव्य के अनुसार परिवर्तन करता है। जैसे एक उदाहरण है कि बगुलों के समुदाय में एक हंस का बच्चा आ गया। उनमे मिल जाने से उन्हीं बगुलों के समान उसके आचरण विचार होने लगे। उस बच्चे को अपनी जात, गोत्र, खान पान का भान भी नहीं रहा। इसलिये वह बच्चा यही समझ गया कि ये बगुला ही मेरे रिश्तेदार है और मैंने इन बगुलों से ही जन्म लिया है। दूसरे मेरे कोई भी नहीं। इस प्रकार गलत धारणा उसके अन्दर बैठ गई। एक दिन उसकी जाति का एक हंस भ्रमण करते २ वहां आया। उसने देखा कि अपनी जाति का एक हंस का

बच्चा बगुलों के साथ भ्रमण कर रहा है। तब तुरंत ही उसने उस हंस के बच्चे से पूछा—अरे तू हंस होते हुए, हमारी जाति का होते हुए तू बगुलों के झुंड में, यह कितने आश्चर्य की बात है। तेरी जाति, स्थान और आचरण सभी भिन्न हैं, तू हमेशा मोती चुगने वाला है। परन्तु बगुलों की संगति से तू कीड़ा, मकोड़ा खाकर उनके साथ भ्रमण कर रहा है। देख, तू विचार करके देख, तू कौन है, तेरा स्वरूप क्या है, तेरा खाद्य क्या है ? यह सब विचार न करते हुए बगुलों की संगति में बगुला बन गया है यह कितने आश्चर्य की बात है ! अरे भाई तू कहाँ से आकर इस झुंड में मिल गया है। तेरे आचरण बगुलों के माफिक ही मालूम हो रहे हैं। तू अब तो मेरी तरफ देख, मेरे सम्मुख होजा। तेरे और मेरे में क्या अन्तर है। बगुलों के झुंड की तरफ से दृष्टि हटाकर मेरी तरफ देख, तब तुझे मालूम होगा। तब उसे मालूम हुआ कि बगुलों की जो पंक्ति है, वह मेरी जाति की नहीं है। वह मेरे से भिन्न है। तब हंस पक्षी के कहने से बगुलों के साथ रहे हुए हंस ने उस हंस की तरफ देखा तब मालूम पड़ा कि अज्ञान से जिसकी उसने सगति की वे बगुले हैं। और मेरे स्वरूप के नहीं है। मुझे आज तक यह ज्ञान नहीं था कि मेरा स्वरूप अलग है, बगुलों का स्वरूप अलग है। मैं यही समझता था कि मेरा रंग भी सफेद है, उनका रंग भी सफेद हैं। इस प्रकार स्व और पर का ज्ञान होने के पश्चात् अब गल्ती समझ में आ गई। अब वह अपने आपको समझ गया कि मैं बगुला नहीं हूँ, मैं हंस हूं। अब मुझे बगुलों का संग करना भी नहीं और उस तरफ देखना भी नहीं। जब वह जाने लगा तो बगुलों ने समझाया कि हमारा भाई होकर कहाँ जा रहा है। इस प्रकार उसे बहुत मोह में डालना चाहा। लेकिन जब उसको ठीक प्रकार से प्रतीति हो गई कि मैं हंस हूँ, बगुला नहीं हूँ तब वह अपने भाई के साथ जाने के लिये तैयार हो गया। इसी प्रकार जब तक इस जीव को सत्यासत्य का ठीक निर्णय नहीं होता है, तब तक जीव सत्य को असत्य मानकर संसार में परिभ्रमण करता है, और बहिरात्मा जीव बनकर संसार में अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। जैसे वह हंस पक्षी मोती चुगने वाले अपने भाई के साथ जाकर वह भी मोती चुगने लगा। इसी तरह हे भाग्यशाली ! यह आत्मा अनादिकाल से दुनियादारी के नाते जोड़कर अपने को भूल में डालकर इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। विचार करके देखा जाय दुनिया की जितनी भी वस्तु हैं वे अपनी नहीं। उससे भिन्न शुद्ध निरंजन निर्मल अमृत अनंतज्ञान, अनंतशक्ति का धारक यह आत्मा है। इस प्रकार जब तक तू ठीक नहीं जानेगा, तब तक तू अपना स्वरूप नहीं जान सकता है। किन्तु अज्ञानता के कारण दुनियादारी में फंसा हुआ है। इसके निमित्त से शरीर को धारण किया गया है। इस शरीर से ममत्व के कारण आत्मा अपने को दुखी और सुखी मानकर इस शरीर को अपना मान रहा है। और हमेशा उसकी रक्षा करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। कहीं

यह शरीर विगड़ न ज~ । अतः ~ की रक्षा करने के लिए लाखों उपाय करता है। इसलिये सद्गुरु कहते हैं कि हे आत्मन् ! तू जिस शरीर को अपना मानकर

औरों को तो गिनता है किन्तु केवल अपने आपको नहीं गिनता । अपने को ही भूला हुआ है ।

जब तक इसके पीछे रहेगा, तब तक सुख और शाँति नहीं मिलेगी। सद्गुरु कहते हैं कि तू दुनियादारी के वगुलों के झुंड में शामिल होकर उनकी तरह आचरण कर रहा है, किन्तु तू निरंजन नित्य हंस रूप है। देख, मेरी तरफ देख, और तेरी जाति देख। रूप देख, अपने गुणों की तरफ देख, आचरण की तरफ देख, रंग देख उसकी नीति को देख, तब तुझे पता पड़ेगा। जब तक इसका ठीक विचार करके देखेगा नहीं, तब तक तुझे ठीक ज्ञान नहीं होगा। परन्तु अज्ञानी जीव गुरु के समझाने पर भी इसका त्याग करने की इच्छा नहीं करता। यह कितने आश्चर्य की बात है।

मन्ननें गारिप मुनिपं बन्नमनिर बेंय्दि कणल्दु कालकनक्कु ।
मुन्निन कर्म मनरियदे बन्नं संसार जलधियोळ्मुळुगिकुं ॥२६॥

अर्थ—पूजा, ख्याति, सत्कार की इच्छा करने वाले मुनिराज अत्यंत क्रोध के आधीन होते हैं। फिर इस क्रोध के कारण अनंत संसार के दुःख के आधीन होते हैं। वे पूर्व में उपार्जन किये हुए कर्म के कारण भवसमुद्र में सदा डूबते रहते हैं ॥२६॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में योगी को सम्बोधन करते हुए कहा है कि हे योगी ! अगर तू अपने आत्मा की पहिचान करना चाहता है, या सिद्धात्मपद की प्राप्ति करना चाहता है तो तू लाभ ख्याति, पूजा, सत्कार आदि का त्याग कर दे। जब तक तेरे मन में लाभ, ख्याति और पूजा आदि की लालसा रहेगी, तब तक तुझे आत्मा की प्राप्ति न होकर दुर्गति का बन्ध होता रहेगा। फिर तुझे संसार चक्र में भ्रमण करके अनेक दुःख उठाने पड़ेगे। इसलिये तू बाह्य लाभ ख्याति पूजा आदि की लालसा को त्याग कर अपने अन्दर अनादिकाल से छिपे हुए अंतरात्मा के सन्मुख होजा। इस संसार तथा संसार सम्बन्धी पर पदार्थों का त्याग कर आत्म सम्मुख होना ही अपने लिये श्रेष्ठ है। कहा भी है कि :—

कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः ।
बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता ॥

अर्थ—जो मुनि कीर्ति प्रतिष्ठा और अभिमान के अर्थ में आसक्त हैं, दुःखित हैं तथा लोकयात्रा से प्रसन्न होते हैं अर्थात् हमारे पास बहुत से लोग आवें जावें और हमको माने जो ऐसी वाञ्छा रखते हैं, उन्होंने अपने ज्ञानरूपी नेत्र को नष्ट किया है। ऐसे मुनियों के ध्यान की योग्यता नहीं हो सकती है।

अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं मिथ्यात्वविषमुद्धतम् ।
निस्यूतं यैर्न निःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रमीयते ॥

अर्थ—जिन मुनियों ने अपने अन्तःकरण की शुद्धता के लिये उत्कृष्ट मिथ्यात्वरूपी समस्त विष नही वमन किया (नहीं उगला) वे तत्वों को प्रमाणरूप नहीं जान सकते हैं। क्योकि मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि, इसका लेशमात्र भी हृदय में रहे, तो तत्वार्थ का ज्ञान श्रद्धान प्रमाणरूप नहीं होता, तब ऐसी अवस्था में ध्यान की योग्यता कहां ?

दुःषमत्वादयः काला: कार्यसिद्धेर्न साधकम् ।
इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते ॥

अर्थ—कोई २ साधु ऐसा कहकर अपने तथा पर के ध्यान का निषेध करते हैं कि, यह काल दुःषमा (पंचम) है। इस प्रकार कहने वाले के ध्यान कैसे हो ?

संदिह्यते मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलालसा ।
विप्रलुब्धान्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति ॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अन्यमत के शास्त्रों से ठगी हुई है तथा जो काम और अर्थ में लुब्ध होकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप में संदिग्धरूप (संदेहसहित) है वह ध्यान करने का पात्र कैसे हो ? क्योंकि जब तक तत्त्वों में (वस्तुस्वरूप में) संदेह होता है, तब तक मन निश्चल नहीं हो सकता और जब मन ही निश्चल नहीं, तब ध्यान कैसे हो ?

निसर्गचपलं चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम् ।
स्याद्यस्य स कथं ध्यानपरीक्षायां क्षमो भवेत् ॥

अर्थ—एक तो मन स्वभाव ही से चंचल है, तिस पर भी जिसका मन नास्तिकवादियों द्वारा वंचित किया गया हो, वह मुनि ध्यान की परीक्षा में कैसे समर्थ हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि नास्तिकमती खोटी २ युक्तियों से आत्मा का नाश ही सिद्ध करते हैं। उनकी कुयुक्तियों में जिसका मन फंस जाता है, उसके ध्यान की योग्यता कहां से हो सकती है ?

अपने आपको न ढूंढकर मूढ़ जीव अपने आपको पर वस्तु में ढूंढ़ता है ऐसा आगे के श्लोक में कहते हैं :—

मतं तन्निं तन्नोळ् पतदे पोर मोरगे मोच्चिच बहिरंगदोळं ।
पति बहिरात्ममनवकट, पत्तदे माण्दप ने मिथ्येयेडेयोळगनिशं ॥२७॥

अर्थ—यह बहिरात्मा जीव अपने में आसक्त न होकर बाह्य वस्तुओं में ही अत्यंत रत रहता है और सदा मिथ्यात्व में ही चिपका रहता है, जैसे गाय के स्तन पर रहने वाली चीचड़ी हमेशा खून ही पीती है परंतु खून के पास दूध होने पर भी दूध का स्वाद जिन्दगी भर अनुभव नहीं किया। इसी तरह यह अज्ञानी बहिरात्मा जीव शरीर में आसक्त रहता है और उसके अन्दर रहने वाले अनन्त सुख के भण्डार आत्मा का कभी अनुभव नहीं करता। यह कितने आश्चर्य की बात है ? सचमुच में यह मूढ़ प्राणी अंत में इस शरीर का त्याग करने पर महान नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है और वहां के दुःखों का अनुभव करता है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में बाह्य विषयों और पदार्थों के त्याग का उपदेश दिया है। जब तक बाह्य वस्तु में यह जीव आसक्त है तब तक अपने आत्मा का अनुभव नही कर सकता है। क्योंकि बाह्य पदार्थ के साथ रागद्वेष के निमित्त यह आत्मा अनादि काल से चिपटी हुई है। इसलिए योगी को सम्बोधन

रत्नहार गले में होते हुए भी वह उस हार को जगह जगह ढूंढ़ता फिरता है।

करते हुए आचार्य ने कहा है कि हे योगी ! अगर तू संसार के बन्धन से शीघ्र छुटकारा चाहता है तो बाह्य पदार्थ की आसक्ति को छोड़। कहा भी है कि :—

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्मको,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः।
अन्तःशान्तिमुपैहि यावदुदयप्राप्तान्तक प्रस्फुरज्-
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान्॥

अर्थ—अरे भव्य, तू वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता। इसीलिए स्त्री पुत्रादि इतर वस्तुओं में मोहित होकर स्त्री पुत्रादि या रत्न सुवर्णादि को हितकारी समझता है, शत्रु सर्प विषादि को अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों ही गमाता है ? ऐसी कल्पना तेरी तभी तक होती हैं जब तक कि तू असली आत्मीय शांति को प्राप्त नही हुआ। ये तेरी सभी कल्पनाएं झूठी हैं, क्योंकि, अन्य पदार्थो में तुझे सुख दुख देने की शक्ति नही है ? जो कुछ सुख दुःख होते तुझे दीखते हैं वे तेरी ही संकल्पवासना के फल हैं। देख, इधर तो तू यों ही फंसा रहेगा किन्तु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दबा लेगा। इसलिये उससे बचने का उपाय देख। वह यह है कि जब तक, चाहे जब आजाने वाले निर्दयकाल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान जठराग्नि के मुख में

पड़कर तू भस्म नहीं हुआ तभी तक तू अपने अंतःकरण को पूर्ण शाँत करले, जिस से कि उस काल का आक्रमण आगामी भव के लिये दुःखदायक न हो, क्योंकि, अन्तरंग में शांति उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का बन्ध होगा अथवा परम शाँति उत्पन्न होने पर मोक्ष-सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिए काल का भय मिट जायगा।

यद्यपि पाप के उदय से नरक-योनि, पुण्य के उदय से देवों का शरीर और शुभाशुभ मिश्र से नर-देह तथा मायाचार से पशु का शरीर मिलता है, अर्थात् इन शरीरों के भेदों से जीवों की अनेक चेष्टायें देखी जाती हैं, परन्तु दर्शन ज्ञान लक्षण से सब तुल्य हैं। उपयोग लक्षण के बिना कोई जीव नहीं है। इसलिए ज्ञानीजन सबको समान जानते हैं। निश्चयनय से दर्शन ज्ञान चारित्र जीवों के लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र चांडालादि देह से भेद देखकर रागद्वेष नही करना चाहिए। सब जीवों से मैत्रीभाव करना चाहिए।

हे योगी ! अपने मन में यह विचार करो कि जीवों के शरोर में बाल वृद्धावस्था आदि कर्मो से होती है। चतुर्गति और उनमें प्राप्त होने वाला शरीर भी पूर्वकृत कर्मो के कारण मिलते हैं। ये अवस्थाएं कर्म जनित हैं, जीव की नहीं। फिर तू इन शरीरादि में मोह क्यों करता है। यह सभी जीव द्रव्य प्रमाण से अनन्त हैं। क्षेत्र की अपेक्षा व्यवहारनय से अपने मिले हुए देह के प्रमाण है तो भी निश्चयनय से लोक प्रमाण असंख्य है। सब लोक मे सब काल में जीवों का यही स्वरूप जानना। वादर सूक्ष्मादि भेद कर्मजनित हैं। यह समझकर जीव में भेद करो। सभी जीव ज्ञानदर्शन स्वरूप है। चैतन्य स्वरूप हैं। किन्तु कर्मों के कारण अनेक पर्याय धारण किये हुए हैं। मेरी आत्मा भी अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रही है। अतः तू स्व पर का ज्ञानी होकर परवस्तु से भिन्न अपने स्वभाव का चिन्तन कर। ससार का अन्त करना यही सुख का मार्ग है। इसलिए हे योगी ! निज शुद्धात्मा के ध्यान से निज शुद्धात्मतत्व से विपरीत मोह छोड़। जिस मोह से अथवा मोह करने वाले पदार्थ से कषाय रहित परमात्म स्वरूप ज्ञानानन्द स्वभाव के विनाशक क्रोधादि कषाय होते हैं, उन्हीं से संसार है। इस मोह कषाय का अभाव होने पर रागादि रहित निर्मल ज्ञान को तू पा सकेगा। वह वस्तु मन वचन काय से छोड़नी चाहिए, जिससे कषायरूपी अग्नि उत्पन्न न हो, तथा उस वस्तु को अंगीकार करना चाहिए, जिससे कषाय शांत हो। तात्पर्य यह है, कि विषयादिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियों का संग सब तरह से मोह कषाय को उपजाते हैं, इससे ही मन में कषायरूपी अग्नि दहकती रहती है। सत्संगति तथा शुभ सामग्री (कारण) कषायों को उपशमाती है, कषायरूपी अग्नि को बुझाती है, इसलिए उस संगति वगैरह को अंगीकार करना चाहिए। कहा भी हैं कि :—

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्डयतेऽधिकम् ।
शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम् ॥

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी ! जो अपने चित्त को रागादिक से रहित करने को समर्थ नहीं है तो व्यर्थ ही अन्य क्लेशों से आत्मा को दंड क्यों देता है ? क्योंकि रागादिक के मिटे बिना अन्य खेद करना निष्फल है ।

क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम् ।
यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समीहितम् ॥

अर्थ—क्षीण हुआ है राग जिसमें और च्युत हुआ है द्वेष जिसमें तथा नष्ट हुआ है मोह जिसमें ऐसा जो मन संवरता को प्राप्त है तो वांछित सिद्धि है । चित्त से द्वेष और मोह तो नष्ट हों और रागादिक क्षीण हों तथा अपना स्वरूप साधने में राग रहे तो सर्व मनोवांछित सिद्ध होते हैं ।

मोहपंके परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे ।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥

अर्थ—मोहरूपी कर्दम के क्षीण होने पर तथा रागादिक परिणामों के प्रशान्त होने पर योगीगण अपने में ही परमात्मा के स्वरूप का अवलोकन और अनुभव करते हैं ।

महाप्रशमसंग्रामे शिव श्रीसंगमोत्सुकैः ।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ॥

अर्थ—मुक्ति रूपी लक्ष्मी के संग की वांछा करने वाले योगीश्वरों ने महाप्रशमरूपी संग्राम में ज्ञानरूपी शस्त्र से रागरूपी मल्लको निपातन किया । क्योंकि इसके हते बिना मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं है ।

असंक्लिष्टमविभ्रान्तमविप्लुतमनाकुलम् ।
स्ववशं च मनः कृत्वा वस्तुतत्वं निरूपय ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! अपने मन को संक्लेश, भ्रान्ति और रागादिक विकारों से रहित करके अपने मन को वशीभूत कर तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को अवलोकन कर ।

रागाद्यभिहतं चेतः स्वतत्वविमुखं भवेत् ।
ततः प्रच्यवते क्षिप्रं ज्ञानतत्वादिमस्तकात् ॥

अर्थ—जो चित्त रागादिक से पीड़ित होता है वह स्वतत्व से विमुख हो जाता है इसी कारण ही मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नमय पर्वत से च्युत हो जाता है।

रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गः स्थिरीभवेत्।
संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशंकितः ॥

अर्थ—संसाररूपी वन में भ्रमण के क्लेशों से भयभीत संयमी मुनि रागद्वेष मोह के अभाव होने से ही मोक्षमार्ग में स्थिर होता है। रागद्वेष मोह के विद्यमान रहते मोक्षमार्ग में स्थिरता नहीं होती।

आचार्य कहते हैं कि यह जो मन है, वह रागादि से बार बार वंचित हुआ है। जब तक मन में रागद्वेष रहता है तब तक परमात्मा का स्वरूप नहीं रहता। रागद्वेष के लुप्त होने पर ही शुभाशुभ को प्राप्त करने वाले परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसलिये हे योगी! तू इस बात को भली प्रकार समझ कर बाह्य प्रकार रागद्वेष को दूर कर केवल अपनी आत्मा का अवलम्बन लेकर उसी आत्म बल से मोहादि जनित पर वस्तु को हटाकर तू इस संसार के बन्धन से मुक्त हो जा। यही उपदेश है।

आत्म परिज्ञान बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं।

अरियदे निज भावने यं परिपडिसत्कधमनखिलतनुदंडनेयिं।
उरे ने गळ्व तपासिनंदं लरगेलेयं पोसेदु रसमनरपंतवकुं ॥२८॥

अर्थ—हे मूर्ख प्राणी! अपनी आत्मा को अपने द्वारा किस तरह भावना चाहिये इसका परिज्ञान न होने के कारण तू केवल एकांतवाद को पकड़ कर बैठा है। और दुःष्कृत्य को बढ़ाने वाले परद्रव्य को ही प्रतिदिन ध्यान करके अपनी आत्मा को दुर्गति की तरफ ले जाने का प्रयास किया और इससे निरंतर संसार में अपने आप को रुलाया और तेरे समान मूर्ख कौन होगा? जैसे कोई मूर्ख मानव सूखे हुए पेड़ को पानी डालकर फल की इच्छा करता है, उसी तरह तू केवल अचेतन पर पदार्थ की भावना या ध्यान करके मोक्ष फल की प्राप्ति करना चाहता है या जैसे कोई सूखे पत्ते को इकट्ठा करके उसको निचोड़ करके रस निकालना चाहता है क्या कोई बकरी के गले में लटकने वाले स्तन के सदृश दिखने वाले स्तन को वास्तविक स्तन समझ कर उसमें से दूध निकाल सकता है? इस तरह हे मूर्ख प्राणी तू भगवान वीतराग देव के कहे हुए अनेकांत मार्ग को न समझ कर जड़ को ही अपनी आत्मा मानकर बहिरात्मा बन गया है। अब भगवान वीतराग-देव के अनेकांत धर्म को ठीक न समझ कर और स्व, पर का ज्ञान किये बिना इस

आत्मा को संसार रूपी कीचड़ से उठाकर निराबाध स्थान में रख नहीं सकते। इसलिये हे भव्य जीव ! अगर तुझे शीघ्र ही संसार से मुक्त होना है तो पर का मोह त्याग कर शीघ्र शुद्ध निरंजन आत्मा के स्वरूप के सम्मुख हो जा।

विवेचन :—इस श्लोक में आचार्य ने यह प्रतिपादन किया है कि जैसे चूहा दिन छिपते ही धान प्राप्त करने के लिये मिट्टी खोद कर ढ़ेर लगाते हैं परन्तु उस मिट्टी में धान का एक भी कण प्राप्त नहीं होता। किन्तु अन्न की आशा में मिट्टी खोदता जाता है और उसके अन्दर अनाज के कण को ढूंढ़ता है। जब प्रभात होता है तो वह थोड़ी सी भी आवाज सुनकर तुरत ही भाग जाता है। यही हाल तेरा भी है। तू अनादि काल से विषय वासना रूपी कण के लिये क्षणिक पर पदार्थ में उसी विषयवासना के कण का अन्वेषण करता हुआ अनेक बार जन्म और मरण का भोग भोगता रहा है किन्तु तुझे सुख और शान्ति आज तक प्राप्त नहीं हुई। जिस प्रकार धान को कूटकर या निकाले हुए भूसे के ढ़ेर को फिर कूट करके उसमें से चावल प्राप्त करना चाहता है। परन्तु इतने प्रयास करने पर भी उसमें से चावल की प्राप्ति नही होती। और सारा प्रयास व्यर्थ जाता है। इसी तरह तू निस्सार पर पदार्थ में सुखमय विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति करना चाहता है किन्तु आज तक किसी को न मिला है न मिलने की उम्मीद है।

आत्मतत्वानभिज्ञस्य न स्यादात्मन्यवास्थितिः।
मुह्यत्यंत पृथक् कर्तुं स्वरूपं देह दहिनोः ॥

आचार्य ने बतलाया है कि आत्म तत्व के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानने वाले पुरुष के आत्मा में निश्चयपूर्वक ठहरना नहीं होता, और अंतरंग में शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न करने और समझने में मोह को प्राप्त होकर भूल जाता है कि इस देह में द्रव्य इंद्रिय, भाव इंद्रिय, द्रव्य मन, भाव मन, दर्शन, ज्ञान, सुख, क्रोध, भान, मान, माया और लोभ रागद्वेष अज्ञानादि जो अनेक भाव दीखते हैं, इनमें से आत्मा कौन सी है ? इस प्रकार भ्रम उत्पन्न होता है। इसलिये पहले आत्मा का अनेक नये मार्गो द्वारा निश्चय कर लेना चाहिये।

उस देह और आत्मा के भेद विज्ञान के बिना आत्मा का लाभ नहीं होता है। और आत्मा के लाभ बिना भेद विज्ञान स्वप्न में भी दुर्लभ हैं ॥२॥

तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभः प्रजायते ।
तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥२६॥

अर्थ—इसलिये सब से पहले मोक्षाभिलाषियों को समस्त पर द्रव्यों की पर्याय से रहित आत्मा का ही निश्चय करना चाहिये ॥३॥

वह आत्मा समस्त देहधारियों में बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार से व्यवस्थित है। इसलिये तू बहिरात्मा को छोड़कर अंतरात्मा का ध्यान कर। यह आत्मा में कर्म रूपी विकार नहीं है वह सिद्धरूप है, अत्यंत निवृत्त है, अविनाशी सुखरूप है। निर्विकल्प है और शुद्धात्मा है।

प्रश्न है कि यदि आत्मा ऐसी है तो आत्मा को देहादिक पदार्थों के समूह से पृथक् करके निर्विकल्प अतींद्रिय ऐसा किस प्रकार ध्यान करे ?

इसका उत्तर यह है कि—जो बहिरात्मा है, वह चैतन्य स्वरूप आत्मा को देह के साथ संयोजन करता है अर्थात् एक समझता है और ज्ञानी है वह देह से देही को पृथक देखता है। यही बहिरात्मा और अंतरात्मा के ज्ञान का भेद है ऐसा समझना चाहिये।

पानी मथने से मक्खन नहीं निकलता है ऐसे आगे के श्लोक में कहता हैं कि—

सारतरमेंनसिदात्मा कारद भावने पनुळिदु पर भावने यिं।
सारता सुख मनरिपड़े नीरं कडे दहिल वेण्णेयर पंतवकुं ॥

अर्थ—अत्यन्त सारभूत आत्मा की भावना को छोड़कर परवस्तु की भावना से अत्यन्त सारगर्भित सुख को अगर ढूंढ़ना है तो समझना चाहिये कि पानी को मंथन करके मक्खन निकालना चाहता है।

विवेचन—ग्रथकार ने इस श्लोक में इस प्रकार दर्शाया है कि यह ससारी मूढ़ जीव अपने शरीर के आकार होकर रहने वाले सारभूत आत्मा का स्वरूप नहीं जानता और उसको छोड़कर अपनी आत्मा से भिन्न परवस्तु की भावना करके, परवस्तु के अन्दर ही सारभूत ऐसी आत्मा सुख को प्राप्त करना चाहता है कोई मूर्ख मनुष्य पानी का मंथन करके उसमें से मक्खन निकालने की चेष्टा करता हो। कहा भी है कि :—

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमहं निपीडयंति स्फटुमत्वदीयाः ॥

सुख के लिये यह सांसारिक प्राणी दुख की आराधना करता है। पुण्य के लिये अनेक दोषों की आराधना करता है। धर्म के लिये पाप की आराधना करता है। तेल के लिये बालू को पेलता है।

जब तक बाह्य वस्तु के प्रति मन लगा रहेगा तब तक उस जीव को अपने स्वरूप का पता नहीं लग सकता। कहा भी है कि—

त्वामासाद्य पुरा कृतेन महता पुण्येन पूज्यं प्रभुं ।
ब्रह्माद्यैरपि यत्पदं न सुलभं तल्लभ्यते निश्चितम् ।।
अर्हन्नाथ परं करोमि किमहं चेता भवत्संनिधा-
वद्यापि ध्रियमाणमप्यतितरामेतद्वहिर्धावति ।।

हे अरहन्त देव ! पूर्वकृत महान् पुण्य के उदय से पूजने के योग्य आप जैसे स्वामी को पा करके जो पद ब्रह्मादि के लिए भी दुर्लभ है वह निश्चित ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु हे नाथ ! मैं क्या करूँ ? आपके संविधान में बलपूर्वक लगाने पर भी यह चित्त आज भी बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ता है।

संसारो बहुदुःखदः सुखपदं निर्वाणमेतत्कृते ।
त्यक्त्वार्थादि तपोवनं वयमितास्तत्रोज्झितः संशयः ।।
एतस्मादपि दुष्करव्रतविधेर्नाद्यापि सिद्धिर्यतो ।
वातालीतरलीकृतं दलमिव भ्राम्यत्यहो मानसम् ।।

संसार वहुत दुःखदायी है, परन्तु मोक्ष सुख का स्थान है। इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए हम धन सम्पत्ति आदि को छोड़कर तपोवन को प्राप्त हुए हैं उसके विषय में हमने सब प्रकार के सन्देह को भी छोड़ दिया है। किन्तु इस कठिन व्रतविधान से भी अभी तक सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि वायु समूह के द्वारा चंचल किये गये पत्ते के समान यह मन भ्रम को प्राप्त हो रहा है। इस वाह्य पदार्थ से विमुख होकर अपने निरंजन निज शुद्धात्मा को जिस शरीर में आप अपना मानने है उस शरीर में सर्वाङ्ग यह दूध और पानी के समान एक क्षेत्रवगाह रूप में स्थित है।

अगुष्टं मोदलागि नेत्तिबरेगं सर्वाङ्ग सम्पूर्ण नु-
तुंगज्ञानमयं सुदर्शनमयं चारित्र तेजो मयं ।
मांगल्यं महिमं स्वयंभु सुखि निर्वाध निरापेक्षि नि-
र्मंगंबोल्परमात्मनैदं रुपिदै ! रत्नाकराधीश्वरा ! ।।३१।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

परमात्मा तुम्हारे शरीर में पाँव के अंगुल से लेकर मस्तिष्क तक सम्पूर्ण अवयवों में तिल में तेल की भांति भरा रहता है। वह अधिक से अधिक ज्ञान स्वरूप और सम्यक्चारित्र रूप ऐमा अत्यन्त तेजस्वी प्रकाशमान स्वरूप वाला है। वह पुनः मंगल स्वरूप अतिशय युक्त कषाय रहित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त

हो गया है। वह स्वरूप वाला विषयासक्ति से रहित ऐसा परमात्मा सम्पूर्ण शरीर में भर करके रहा हुआ है, ऐसा आपने कहा है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है कि :—

संकप्प-महो जीवो सुह-दुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥

यदि जीव संकल्पमय है और संकल्प सुख दुःखमय है तो सर्व शरीर मे मिला हुआ होने पर भी जीव उसी को जानता है। यदि जीव संकल्पमय है अर्थात् संकल्पों का एक पुंज मात्र है और संकल्प सुख दुःखमय है तो शरीर में मिला होने पर भी जीव समस्त शरीर प्रदेशो में होने वाले सुख दुःख को ही जानता है। आशय यह है कि यदि चार्वाक जीव को संकल्प विकल्पों का एक समूह मात्र मानता है तो वे संकल्प विकल्प सुख दुःख रूप ही हो सकते हैं। उन्हीं को जीव जानता है तभी तो उसे मैं सुखी हूं, मै दुःखी हूं, इत्यादि प्रत्यय होता है। बस वही तो जीव है। आगे कहा है कि जीव शरीर से बिल्कुल भिन्न है। कहा भी है कि—

देह मिलिदो वि जीवो सव्व कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पयट्टमाणे एयत्तं बुज्झदे दोण्हं ॥

जिस कारण से शरीर से युक्त भी जीव तथा अपि शब्द से विग्रह गति वगैरह में औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर से रहित भी जीव घट, वस्त्र लकड़ी मुकुट, गाड़ी, घर वगैरह बनाता है, असि, मसि, कृषि, व्यापार, आदि से आजीविका करता है, इस तरह वह सब कार्यो को करता है तथा ज्ञाना-वरण आदि शुभाशुभ कर्म करता है, इस कारण से कार्य वगैरह करने वाला मनुष्य यह मान वैठता है कि जीव और शरीर दोनों एक ही हैं। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है—जीव जुदा है और शरीर जुदा है। निस्सार सांसारिक पंचेंद्रिय विषय में सार वस्तु आत्मा का स्वरूप है। निःसार पदार्थ में आत्मा की निज वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

मोरडियोळु मादल फलमं वरडिन केच्चलोलु पाल मोलदोळकोडं।
तरटनोळु कुसळ् बंबल् नरसुवे शिवसुखवमरुळे पर भावनेयोळ् ॥३०॥

हे मूर्ख प्राणी! पहाड़ की चोटी पर बिजौरा फल को, बांझ गाय के स्तन में दूध को, खरगोश के सिर में सींग को और गंजा मनुष्य के सिर में बाल के पुंज या राशि को ढूंढने वाले मूर्ख के समान पर वस्तु की भावना में मोक्ष सुख ढूंढता है? कितने आश्चर्य की वात है ॥३०॥

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने यह बताया है कि अनादि काल से यह अज्ञानी जीव नि:सार अर्थात् सार रहित सांसारिक पर पदार्थ में अपने सुख की प्राप्ति के लिए हमेशा प्रयत्न करता जा रहा है। परन्तु इस जीव को आज तक न सुख मिला न मिल सकता है। क्योंकि जितने भी संसार में दिखने वाले सुख हैं वे सब सार रहित हैं यह जीव अज्ञान से पंचेन्द्रिय विषयों में रागी बनकर इन्द्रिय आदि पर वस्तु में अपना सुख मान बैठा है इसलिए उस जो यह दु:ख का कारण है। जब तक स्व और पर पदार्थ का श्री गुरु द्वारा सच्चा ज्ञान नहीं होगा तब तक सच्चा आत्म सुख का मार्ग मिलना दुर्लभ है इसलिए आचार्य ने बताया है कि वे अज्ञानी जीव ! जब तक पर वस्तु का मोह नहीं त्यागेगा तब तक सुख प्राप्त नहीं होगा।। इसलिए यहां पर द्रव्य के सम्बन्ध के त्याग का उपदेश दिया है। कहा भी है कि—

मल्लाहं विणासंति गुण अहं ससग्ग खलेहिं।
वईसाणरु लोहहं मिलिउ तें पिट्टियइ घणेहिं॥

विवेकी जीवों के शीलादि गुण, मिथ्यादृष्टि, राग, द्वेष अविवेकी जीवों की संगति से नाश हो जाते हैं। अथवा आत्मा के निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुभ भावों के सम्बन्ध से मलिन हो जाते हैं। जैसे अग्नि लोहे के सग से पीटी कूटी जाती है। यद्यपि आग को घन कूट नहीं सकता, परन्तु लोहे की संगति से अग्नि भी कूटने में आती है, उसी तरह दोषों के संग से गुण भी मलिन हो जाते हैं। यह जानकर आकुलता रहित सुख के घातक जो देखे सुने अनुभव किये भोगों की बांछा रूप निदान बंध आदि खोटे परिणाम रूपी दुष्टों की सगति नहीं करना, अथवा अनेक दोषों सहित रागी द्वेषी जीवों की भी संगति कभी नहीं करता, यह तात्पर्य है मोह के त्याग की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि—जो आकुलता से रहित है वह दु:ख का मूल मोह है। मोही जीवों को दु:ख सहित देखो। वह मोह परमात्मा स्वरूप की भावना का प्रतिपक्षी दर्शनमोह चारित्र मोह रूप है। इसलिए तू उसको छोड़ पुत्र स्त्री आदिक में तो मोह की बात दूर रहे, यह तो प्रत्यक्ष में त्यागने योग्य ही है, और विषय वासना के वश देह आदिक पर वस्तुओं का रागरूप मोह जाल है, वह भी सर्वथा त्यागना चाहिए। अन्तर बाह्य मोह का त्याग कर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना चाहिए। शुद्धात्मा की भावना रूप जो तपश्चरण इसका साधक जो शरीर उसकी स्थिति के लिए अन्न जलादिक लिए जाते हैं, तो उनमें विशेष राग न करना, राग रहित नीरस आहार लेना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि हे योगिन ! जब तक संसार की सार तथा असार वस्तु को विचार कर नहीं देखेंगे तब तक आत्म साधन की सामग्री प्राप्त होने पर

भी आत्म सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए आचार्य ने कहा है कि सबसे पहले जिस वस्तु को प्राप्त करना है उसके कारण को ठीक समझ ले, विना उसके समझे साधन भी निरर्थक हो जाता है।

हे अज्ञानी प्राणी! केवल शारीरिक शक्ति निर्माण करने से या पंचेन्द्रिय विषय को पुष्ट करने से कर्म खपेगा नहीं। इस शरीर के साथ सम्यग्दर्शन सहित संयम और चारित्र की जरूरत है। चारित्र धारण करे विना और अन्तरंग बाह्य तप के साधन के बिना कर्म हटेगा नहीं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा हैं। शारीरिक शक्ति केवल बाह्य शत्रु को नाश करती है, किन्तु अन्तरंग कषाय शत्रु को नाश करने में असमर्थ है। अगर इस शरीर के साथ संयम हो तो अन्तरंग और बाह्य शत्रु दोनों को नाश कर देती है।

संसार की चिंता ही अकल्याणमार्ग है—

संसारी विषय वासनाओं में फंसे हुए प्राणी बाह्य विषय की चिंता के कारण सुख दुःख का अनुभव करते रहते हैं और उनको बाह्य विषय अधिक प्रिय होने से कोई अपना नाम चाहता है कोई अपना रूप चाहता है, कोई अपना पद चाहता है। अगर अपने अनुकूल उनको प्राप्त नहीं होता तो उनको बड़ा दुःख होता है। परन्तु अपने अन्दर ही अनादि काल से सुख का भण्डार छिपा पड़ा है। सुख शान्ति को देने वाले तथा अनन्त गुणों के धारक, रूप रहित, स्पर्श रहित, शब्द रहित, वर्णादि रहित, गुण निधान परमानन्द आत्मा के जानकार अधिक नहीं हैं। अधिकतर लोग केवल बाह्य वस्तु के चिन्तन में ही अपने समय को व्यतीत करते हुए संसार में चक्कर काट रहे हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है?

उदाहरण स्वरूप एक मनुष्य कुमार अवस्था में था। उसको एक चिन्ता थी कि संसार में अनेक प्रकार के दुःख हैं इन दुखों को मैं कैसे निभा सकता हूं। वह अपने मन में विचार करने लगा कि मैं इसी प्रकार से रहूं तो मुझे किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होगी अपने जीवन को मैं सुखी बना सकता हूं। कभी कभी यह चिन्ता उत्पन्न होती थी कि क्या करूँ। व्याह करूँ या संन्यासी बनूं। इस तरह उलझन में पड़ा था। एक दिन उसका मित्र कहने लगा कि अरे भाई! इस तरह से संसार में मनुष्य जन्म प्राप्त करके व्यर्थ ही गंवाना ठीक नहीं। क्योंकि अन्त में तुझे वृद्धावस्था प्राप्त करने के बाद कोई न कोई रक्षार्थ चाहिए। इसलिए तू व्याह कर। अन्त समय में स्त्री तुम्हारी रक्षा करेगी। तब कुमार ने विचार किया, ठीक है। विषय सुख को अनुभव किये विना जन्म व्यर्थ है। विषय सुख के विना आत्म सुख नहीं प्राप्त हो सकता। अगर मैं बीमार हो जाऊं तो मेरी रक्षा कौन करेगा? सहायता कौन करेगा? शुभ कार्य में मेरी सहायता कौन करेगा।

इसलिए संसार में सुख अनुभव करने के लिए व्याह करना ही हितकारी होगा। इस प्रकार मन में विचार करके वह कोई रूपवती कन्या ढूंढ़ने लगा। वह कन्या का रूप रंग अच्छा चाहता था, वह गुण नहीं चाहता था। उसके पास पैसे की कमी भी नहीं थी। घर में अकेला ही था। उसने एक रूपवती कन्या को देखकर व्याह कर लिया और भोगोपभोग में रत हो गया। जैसे वह स्त्री कहती थी उसकी आज्ञानुसार कार्य करता था। एक दिन उसकी स्त्री कहने लगी कि इतनी सम्पत्ति होते हुए भी कार आदि नहीं है, तुम जल्दी से जल्दी एक कार की व्यवस्था करो। तुरन्त ही एक कार खरीद कर लाया। परन्तु बार बार ज्यादा घूमने से पैट्रोल आदि में ज्यादा व्यय होने लगा तथा पंचर आदि होने लगा। इसी की चिन्ता करने लगा कि धन ज्यादा व्यय हो रहा है। अब उसका परिवार भी बढ़ने लगा और परिवार के पालन पोषण की चिंता साथ लग गई। हारी बीमारी भी होने लगी। इससे डाक्टरों के खर्चे की चिन्ता हो गई। अब आय कम व्यय ज्यादा हो गया। सरकारी टैक्स भी बढ़ गया। इस प्रकार चारों तरफ से चिन्ता बढ़ गई। मन में विचार करने लगा कि जब तक व्याह नही किया था सुखपूर्वक रहता था परन्तु अब आधि-व्याधि बढ़ती जा रही है। शान्ति क्षण मात्र भी नहीं है। शरीर में सुख शांति भी नहीं है। मैं अब क्या उपाय करूं। अब यह विडम्बना किसी प्रकार से टल जाये। अब मैं सद्गुरु के पास जाकर इसका उपाय पूछूं। तुरन्त ही गुरु के पास आकर पूछने लगा—मुझे सुख शान्ति कैसे मिल सकती है? सद्गुरु ने कहा कि तुझे संसार विलास में शान्ति कहाँ से मिलेगी। संसार में अनेक प्रकार की चिन्ता, विकल्प संकल्प हमेशा ही है। संसार में अनेक प्रकार की कषाय, मोह आदि जिस आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उसको सुख शान्ति नहीं मिल सकती है। अगर उस चिन्ता संताप आदि को टालना चाहता है तो तू इस शरीर के द्वारा व्रत, संयम नियम, तप आदि कर। इससे आत्म गुणों की पहचान होगी और फ़ल मिलेगा। जितना कर्म आत्मा के साथ घर बांध कर पड़ा हुआ है, इस संयम तप आदि को देख करके ये खुद ही भाग जायेगा। जब तक कर्म का बंध है वह शुभाशुभ फल देगा। अगर तू व्रत और नियम का सम्यग्दर्शन पूर्वक पालन करेगा तो ये कर्म आत्मा से हट जायेगा अगर तू संयम धारण नहीं करता तो कर्म की निर्जरा नहीं होगी। और केवल इस शरीर से व्रत नियम आदि धारण करके शुभ काम आदि करेंगे तो अशुभ कर्म नष्ट हो जायेगा। अशुभ कर्म नष्ट होने से शुभ कर्म के द्वारा अनेक प्रकार के इन्द्रिय भोग विषय-जनित सुख की प्राप्ति होगी। अगर इसमें मुग्ध हो जाय तो फिर भी संसार में फसेगा। इसलिए हे जीव! तुझे इन दोनों को दूर करने के लिए हमेशा इसी शुभ पुण्य के द्वारा ही प्रयत्न करना चाहिए। पुण्य और पाप दोनों ही संसार के

लिए कारण हैं। इसलिए सबसे पहले आचार्य ने अशुभ को दूर करने के लिए शुभ राग अणुव्रत आदि धारण करने का आदेश दिया है। इसके द्वारा जो पुण्य संचित हो जाता है वह पुण्य अनेक प्रकार के इन्द्रिय भोग आदि को प्राप्त कराता है। अगर यह जीव दुबारा फंस जायेगा तो संसार के लिए कारण होगा। इसलिए पाप और पुण्य का त्याग सिद्ध आत्मा का कारण होता है। इसके सम्बन्ध में रागद्वेष आदि जो प्राप्त हुआ है वह भी शुभ पुण्य के द्वारा प्राप्त हुआ है। तू केवल पंचेन्द्रिय विषय में लीन होकर नाम और रूप को देखता है। गुण को नहीं देखता है। इसलिए फिर भी तू बहिरात्मा बन कर इसी राग रूप से संसार में परिभ्रमण करेगा। इस कलिकाल में ज्यादातर मानव की प्रवृत्ति बाहरी रूप नाम के प्रति ही लगी रहती है। और उसी में आनन्द मानते हैं। इसी से उनको मानसिक चिंता संताप आदि लगे रहते है। इसका कारण है कि बाह्य रूप नाम आदि के निमित्त से या उनके मोह से उनको तरह २ की चिंता उत्पन्न होती है। उसी चिंता से अनेक प्रकार का कर्म बंध करके संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। उदाहरणार्थ–जैसे कोई लड़का शादी होने के बाद अपने ससुराल पहले पहल पहुंचा। सास और ससुर उसको बहुत प्रेम करते हैं, लड़की भी प्रेम करती है। परन्तु उसे चिंता हमेशा रहती थी। पति का नाम ठनठनपाल था। इसी नाम से लड़की को शर्म सी लगती थी। दूसरे के पति के नाम सुनकर खुश होती थी परन्तु अपने पति के नाम को सुनकर उसको हमेशा चिंता रहती थी। इससे अच्छा नाम क्या मेरे सास ससुर को नहीं मिला जो उन्होंने मेरे पति का नाम ठनठनपाल रखा। परन्तु वह अपने सास ससुर से पूछ नहीं सकती। इससे उसका शरीर सूखने लगा, खान-पान की रुचि कम होने लगी। सास ने पूछा—बहू तेरा शरीर क्यों सूखता जा रहा है। ऐसी कौन सी चिंता हैं तुझे। परन्तु पुत्र वधु ने कोई जवाब नहीं दिया। केवल ऊंचा सांस लेकर चुपचाप बैठ जाती। चिंता का कारण किसी को मालूम नहीं हुआ। उसे कहने की हिम्मत नहीं होती थी। कोई पूछता था तो उसको उत्तर भी नहीं देती थी। एक दिन उसके घर में एक लक्ष्मी नामक स्त्री लाख बेचने के लिए आई। पहले उसने स्त्री का नाम पूछा। उसने अपना नाम लक्ष्मी बताया। वह पूछने लगी, जब तुम्हारा नाम लक्ष्मी है तो तुम लाख क्यों बेचती हो ? लक्ष्मी ने कहा—अरे नाम में क्या रक्खा हैं। जब गुण नहीं हो तो नाम व्यर्थ है। नाम तो दुनिया में बहुत रख दिये जाते हैं परन्तु गुण न हों तो वह सब बेकार है। नाम से कुछ नहीं होता है, गुण में प्रेम रखना चाहिए। केवल मेरा नाम ही लक्ष्मी है परन्तु मेरे पास गुण नहीं है इसलिए मैं लाख बेचकर पेट पालती हूं। गुण से ही आदमी पूजा जाता है, नाम से नहीं। इस प्रकार लक्ष्मी की बात सुन करके उसकी चिंता दूर हो गई। एक दिन धनपाल

नामक बनिया दो रुपये मांगने आया तब उसने पूछा—तुम्हारा नाम क्या है। बनिये ने बताया कि मेरा नाम धनपाल है। वह पूछने लगी—अरे तेरा नाम धनपाल होते हुए तू याचना क्यों कर रहा है। दीनता-हीनता दिखाता है। वह बोला—नाम तो मेरा सुन्दर है परन्तु पुण्य नहीं है तथा नाम के माफिक गुण नहीं हैं। ऐश में उसको खत्म कर दिया। जिनके अन्दर सुन्दर गुण हो उनका जीवन सफल है। तब उसे चिंता करने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार मन में समझ करके बिल्कुल चिंता छोड़ दी। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि कई लोग यौवन रूप आदि में फंसे रहते हैं। कई लोग नाम में मोहित हो जाते हैं। उससे सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि से हमेशा विमुख रहते हैं। अनेक प्रकार के संताप चिंता आदि में फंसे रहते हैं। इससे उनको शांति नहीं मिलती। जो बाह्य नाम रूप में हमेशा व्यस्त रहते हैं, कभी भगवान के गुणों में उनकी लगन नहीं रहती है। वे आत्मिक गुणों की प्राप्ति करने में असमर्थ रहते हैं। उन्हें आत्म भावना के लिए कभी भी मन में विचार नहीं आता है। हमेशा मन में संकल्प विकल्प रहता है। इसलिए जीव ! तू हमेशा इस तरह से बाहर के नाम रूप गुण के प्रति जब तक फंसे रहेंगे जब तक विडम्बना के प्रति मोहित होंगे तब तक आत्म कल्याण का मार्ग कभी भी तुझे प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए संकल्प को उत्पन्न करने वाली चिंता को छोड़ दो।

पुदगलदोळ्त्म भेदम् नदनरियदे बाह्य तपदोळेसगुवडदु टां।
विदिरेलेयोळु रसवरसुव पदनवकुं मुक्तिगेय्दि सल्कार्तपुदे ॥३१॥

अर्थ—पुद्गलमय जड़शरीर और आत्मा के भेद को न समझ कर केवल बाह्य तप करने मात्र से क्या आत्म सिद्धि होगी ? अर्थात् कभी नहीं। जिस तरह बांस के पत्ते को इकट्ठा करके मसल करके रस निकालने की चेष्टा करने से रस कभी नही निकलेगा। इसी तरह केवल शरीर तपाने से मुक्ति की प्राप्ति होना कठिन है। भीतर की जब तक कषाय न सूखे, तब तक केवल शरीर को सुखाने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

विवेचन—हे अज्ञानी जीव ! शरीर और आत्मा के भेद को न समझ कर केवल काय क्लेश मात्र से आत्म सिद्धि नहीं हो सकती है।

देशोन पूर्व कोट्या यदर्जितं भवति विभक्त चारित्रं।
तदपि हि कषायकलुषो, हारयतिमुनिर्यतेना ॥

पूर्व करोड़ वर्ष तक तप किया, चारित्र भी धारण किया, अगर कषाय कलुष दूर नहीं हुआ तो वह साधु संसार से मुक्त नहीं हो सकता और आत्म सिद्धि

को प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिए बाह्य विषय वासना से जब तक मोह नहीं हटेगा और स्व पर का ज्ञान न होगा तब तक साधु संसार से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता है। भरतेश वैभव में कहा है कि—

जो मनुष्य ज्ञान शून्य होकर काय क्लेश तप करता है, अनेक प्रकार से शरीर को कष्ट देता है उसका पंचेन्द्रिय निग्रह अग्नि के समान है। और जो ज्ञानी है किन्तु संसार में रत है इन्द्रिय भोग भी भोगता है उसके लिए इन्द्रिय पच रत्न के समान है। ज्ञान रहित होकर संसार में भोग भोगने वाले भोगी भव्य रोगी है। और सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित विषय भोग भोगने वाला भोगी योगी के समान कहलाता है। ज्ञानी कर्म करता हुआ भी कर्म को स्पर्श नहीं करता है। ज्ञानी जो कर्म करता है वह ज्ञानपूर्वक करता है। और वह ज्ञानी हमेशा कर्म करते हुए भी यह ज्ञान ही मेरा शरीर है और बाह्य शरीर मेरा नही है, इस प्रकार भेद दृष्टि से आराधना करता है। इसलिए उसको कर्म बन्ध नहीं हो सकता है। अज्ञानी आत्म ज्ञान न होने के कारण संसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है। ये ही ज्ञानी और अज्ञानी का भेद है।

विज्ञान के दो भेद हैं। एक तो अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। अन्तरंग विज्ञान ग्राह्य विज्ञान है अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। बाह्य विज्ञान बाह्य वस्तु को समझने के लिये है। ये सभी हेय है। रत्न परीक्षा, हाथी की परीक्षा, घोड़े की परीक्षा ये सभी प्रयत्न के साथ परीक्षा करना ये सब वाह्य विज्ञान है। रत्नत्रय रूप मेरा आत्मा है ऐसे अपने अन्दर ही देखना, उसमें लीन होना यह अन्तरंग विज्ञान है। कामशास्त्र, वैद्यकशास्त्र मंत्र, तंत्र आदि जानना यह भाव विज्ञान है। अत्यन्त निर्मल, निरंजन अपने आत्मा को अन्तरंग में जानना उसमें लीन रहना यह अन्तरंग विज्ञान है। गणितशास्त्र, महाभारत पंचांग वस्तु लक्षण, ये सभी जानना ये सभी भाव विज्ञान है। गुण और गुणी सहित अपनी आत्मा को अपने अन्दर जानना ये अन्तरंग विज्ञान है। छन्द, अलंकार, काव्य नाटकशास्त्र ऐसे अनेक प्रकार के शास्त्र को जानना ये भाव विज्ञान है। सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धी परवस्तु को अपनी आत्मा से भिन्न जानना, अपने अन्तरंग मे आत्मा को जानना यह अन्तरंग विज्ञान है। वेद, पुराण आगम आदि को जानना यह सभी भाव विज्ञान है। स्व पर का भेद करके भेद विज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के अन्दर समझना, रूचि रखना, इसमें लीन रहना यह भेद अन्तरंग विज्ञान है। हे मूढ़ प्राणी ! पहिले जन्म में अनेक बार भाव विज्ञान का ज्ञान प्राप्त हो चुका है और आज तक भी भाव विज्ञान की परीक्षा करता आ रहा है परन्तु आज तक तुझे भाव विज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। जब तक अन्तरंग विज्ञान की प्राप्ति न हो, तब तक इस जीव को संसार का अन्त करके मोक्ष की प्राप्ति का होना अत्यन्त

दुर्लभ है। यह अन्तरंग विज्ञान सामान्य नहीं है। यह अन्तरंग विज्ञान मोक्ष पद के लिये बीज है। और चिन्तामणि रत्न के समान है। कामधेनु के समान है। इच्छित पदार्थ को देने वाला है। कल्पवृक्ष के समान है। इस प्रकार ये अन्तरंग विज्ञान जब तक प्राप्त न हो तब तक यह जीव संसार में बाह्य वस्तु में रत होकर संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये हे प्राणी ! तू बाह्य विज्ञान को छोड़कर अन्तरंग विज्ञान प्राप्ति के लिये हमेशा प्रयत्न कर।

ये बहिरात्मा हमेशा पर वस्तु को अपना आत्मा मान लेता है। कहा भी है कि :—

वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम्।
स्वस्व संपदमेतेन मन्वानं मुह्यते जगत्॥

अर्थ—शरीर में जो आत्मबुद्धि है सो बन्धु धन इत्यादि की कल्पना उत्पन्न कराती है, तथा इस कल्पना से ही जगत् सम्पदा को अपनी मानकर ठगा गया है।

तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेषतः॥

अर्थ—शरीर में ऐसा जो भाव है कि यह मैं आत्मा ही हूं ऐसा भाव संसार की स्थिति का बीज है। इस कारण, बाह्य में नष्ट हो गया है इन्द्रियों का विक्षेप जिसके ऐसा पुरुष उस भावरूप संसार के बीज को छोड़कर अन्तरंग में प्रवेश करे, ऐसा उपदेश है।

आगे आचार्य कहते हैं कि कोई अज्ञानी प्राणी जैसे नारियल के भीतर के हिस्से को छोड़कर ऊपर के छिलके खावे। इसी प्रकार यह आत्मा अन्तरंग विज्ञान रूप रस को छोड़कर बाह्य वस्तुओं को ग्रहण करता है और उसी में सुख मानता है। कहा है कि :—

अंगात्ममेदमरियदे संगत मागिर्द कर्ममं किडिसुवोडदु।
लुंगोग्र तपदोलेसेगदे तेगं पिडिदोटेवेररि मेलुवं तक्कुं॥३२॥

अर्थ—शरीर और आत्मा में रहने वाले भेद को समझकर यह मूर्ख जीव अत्यन्त कठिन तप करके शरीर को सुखा देता है। परन्तु आत्मा में अनादिकाल से चिपके हुए कर्म को नाश करने की भावना उसमें नहीं होती। केवल बाह्य तप को ही कर्म की निर्जरा का कारण समझता है। जैसे कि, नारियल के अन्दर की

गिरी को न खाकर ऊपर के छिलके को खाने वाले को पशु के समान समझना चाहिये। अर्थात् वह मूर्ख है। इसलिये आचार्य बतला रहे हैं कि आत्मा का भेद भेदक ज्ञान और बहिरंग अन्तरंग दोनों मिलकर तपस्या हो तो आत्मा में चिपका हुआ कर्म नाश हो जाता है।

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने बहिरात्मा जीव का वर्णन किया है। उस बहिरात्मा जीव ने अनादि काल से पर वस्तु का संयोग होने के कारण अपने अन्तरंग आत्मा को प्राप्त नहीं किया है। जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी होने पर भी वह सुगन्धि पर लुब्ध होकर उसको बाहर प्राप्त करना चाहता है। क्योंकि वह नही जानता है कि उसकी नाभि में कस्तूरी है। इसको न जानकर बाह्य सुगन्ध के लिये प्रयत्न करता है। इसी तरह बहिरात्मा बाह्य सुख को ही अपना सुख मानकर अपने अन्दर अखंड अविनाशी सुखमय अमृत का सरोवर पास होने पर भी उसका स्वाद लेना नहीं चाहता है। जिस प्रकार भैंस के सामने हरे पत्ते क सहित गन्ने को रख दिया जाय तो वह गन्ने के रस के स्वाद को न जानकर हरे पत्तों को खाकर आनन्द मानती है। इसी तरह पंचेन्द्रिय बाह्य विषय भोगों में रत हुआ यह बहिरात्मा जीव उसी में मग्न होकर अपनी निजी वस्तु का रस पास होने पर भी उसका स्वाद नहीं लेता है। जैसे समुद्र में हमेशा रहने वाली मछली अपने पास ही रहने वाले पानी को न पीकर बाहर के पानी से अपनी तृष्णा बुझाना चाहती है।

जैसे धोबी दिन भर पानी में खड़ा होकर सबके कपड़े धोकर देता है परन्तु अपने कपड़े जो कि मैले हैं उनको धोने के विचार नहीं करता है। इसी प्रकार बहिरात्मा अज्ञानी जीव बाह्य पंचेन्द्रिय विषयभोगों में आसक्त होकर उसी की चिंता में जन्म मरण करके अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। परन्तु अनेक प्रकार के दुःख और चिन्ता को मिटाने वाले अचिन्तनीय ऐसे अपने अन्दर ही रहने वाले सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रय आत्मा को न पहिचानकर उसको आस्वादन कर सुखी नहीं होना चाहता यह कितने आश्चर्य की बात है।

जो देह को आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृत को नहीं पाता। वह अज्ञानी है। इन तीन प्रकार के आत्माओं में से बहिरात्मा तो त्याज्य ही है--आदर योग्य नहीं है। इसकी अपेक्षा यद्यपि अंतरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि वह उपादेय है, तो भी सब तरह से उपादेय जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह अंतरात्मा हेय ही है। अतः शुद्ध परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है, ऐसा जानना।

यहाँ भी आचार्य ने बहिरात्मा का स्वरूप बतलाया है कि :—

मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा ।।

जो जीव मिथ्यात्वकर्म के उदयरूप परिणत हो, तीव्र कषाय से अच्छी तरह आविष्ट हो और जीव तथा देह को एक मानता हो, वह बहिरात्मा है। जिसकी आत्मा मिथ्यात्वरूप परिणत हो, अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि तीव्र कषाय से जकड़ी हुई हो और शरीर ही आत्मा है ऐसा जो अनुभव करता है वह मूढ़ जीव बहिरात्मा है। गुणस्थान की अपेक्षा से बहिरात्मा के उत्कृष्ट आदि भेद बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं—प्रथम गुणस्थान में स्थित जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है। दूसरे गुणस्थान वाले मध्यम बहिरात्मा है और तीसरे मिश्र गुणस्थान वाले जघन्य बहिरात्मा हैं। विशेष अर्थ इस प्रकार है । जो जीव शरीर आदि परद्रव्य में आत्मबुद्धि करता है वह बहिरात्मा है। और इस प्रकार की बुद्धि का कारण मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उदय होने से शरीर आदि परद्रव्यों में उसका अहंकार और ममत्वभाव रहता है। शरीर के जन्म को अपना जन्म और शरीर के नाश को अपना नाश मानता है। ऐसा जीव बहिरात्मा है। उसके भी तीन भेद हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है, क्योंकि उसके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है। दूसरे सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम बहिरात्मा है, क्योंकि वह अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो आने के कारण सम्यक्त्व से गिरकर दूसरे गुणस्थान में आता है, क्योंकि उसके मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। तीसरे मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य बहिरात्मा है, क्योंकि उसके परिणाम सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए होते है तथा उसके न तो मिथ्यात्व का उदय होता है और न अनन्तानुबन्धी का उदय होता है।

अहो भव्य जीवो ! यह समस्त लोक केवलज्ञानगोचर है तथापि इस संस्थानविचय नाम धर्मध्यान में मुनि सामान्यता से सब ही को तथा व्यस्त कहिए कुछ भिन्न भिन्न को अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तवन करें।

ओर्वने निजशुद्धात्मं निर्वाणसुखक्के हेतुवेंदरेयदवं ।
निर्बंधदे माळ्प तपं कर्बि रे पेर्विदिरनहसि मेलुवंतक्कु ।।३३।।

अर्थ—अपना निज शुद्ध आत्मा ही मोक्ष के लिये कारण है ऐसा न समझने वाला बहिरात्मा द्रव्यलिंगी मुनि अत्यन्त घोर कठिन तप करना है । किन्तु वह कर्म निर्जरा का कारण न होकर संसार के लिये ही कारण बन जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे नारियल को लेकर ऊपर के छिलके को खाया और भीतर

की असली गिरि को फेंक दिया अथवा ऐसा समझना चाहिए कि सामने हाथ में रखे मीठे गन्ने को छोड़कर सूखे बांस को गन्ना समझकर खा लिया। इसी प्रकार भाव रहित बहिरात्मा द्रव्यलिंगी को समझना चाहिए। इसका सार यह है कि तप से रहित होने के कारण आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म की निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति होना उस मुनि को अत्यन्त दुर्लभ है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में अज्ञानी बहिरात्मा को संबोधन करते हुए कहा है कि यह अज्ञानी जीव अनादिकाल से बाह्य वस्तु का भोगी होकर अनेक प्रकार के दु;ख भोग रहा है। अब तो चेत, इस तरह तू जन्म मरण कब तक करेगा। अरे प्राणी ! अपने मन में स्थिर होकर सोच तो। कहा भी है कि :—

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रूण्णाण णयणणीरं सायरसलिलाहु अहियथरं॥

हे मुने ! तूने माता के गर्भ में रहकर अनेक बार जन्म लिया और मरण भी किया। जहाँ-जहाँ जन्म लिया वहाँ-वहाँ उस माता के लिए तूने मोह के कारण रुदन किया। अगर आज तक के तेरे रुदन के पानी की बूंदों को इकट्ठा किया जाय तो एक समुद्र के जल से भी अधिक या अनन्त गुना होगा।

हे योगी ! तूने इस अनन्त संसार में अब तक जितने जन्म लिए हैं अगर उनके नखकेश अस्थि आदि को इकट्ठा किया जाये तो मेरु पर्वत से भी अधिक ढेर हो जाय।

हे जीव ! जल में, पृथ्वी में, अग्नि में, वायु में, आकाश में, पर्वत में, नदी में, पर्वत की गुफा में, वृक्ष में, वन में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ जन्म लेकर तूने वास न किया हो। इस प्रकार करते हुए तू अनादिकाल से पराधीन हो कर संसार में भ्रमण कर रहा है।

हे जीव ! इस लोक में जितने पुद्गल स्कन्ध हैं तूने बार-बार उनको ग्रहण किया है परन्तु आज तक तेरी तृप्ति न हुई।

हे जीव ! इस लोक में तृष्णा की पीड़ा से तूने तीन लोक का समस्त जल पी लिया। संसार का मथन किया तो भी रत्नत्रय का चिन्तवन एक बार भी न किया।

मुनिवर ! तूने इस अनन्त भवसागर में इस शरीर को अनंत बार ग्रहण कर छोड़ दिया। उसकी गिनती नहीं है। अब तू चेत। हे जीव ! तूने अनेक प्रकार की योनियों में भ्रमण करते हुए विष भक्षण आदि द्वारा मरण किया। शस्त्र घात से मरण किया। संक्लेश परिणाम किये। संक्लेश परिणाम करके

मनुष्य पर्याय में जन्म लिया। आहार और स्वास्थ्य का निरोध होने के कारण आयु का क्षय हो गया। शीतकाल में शीत से तूने अनेक प्रकार के कष्ट उठाये। अग्निकाय के द्वारा जलकर अपना दहन किया। पर्वत से कहीं गिर पड़ा। वृक्ष पर चढ़कर कभी मरण किया। इस प्रकार तुझे अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़े। कषाय के कारण तूने पारा आदि की विद्या को सीखा। उसके संयोग से कभीं कभी उसको खाकर के मरण भी किया और भी अन्य चोरी, अन्याय, व्यभिचार आदि के निमित्त से अनेक प्रकार के बुरे काम करके कुमरण किया। तूने अनेक प्रकार के तिर्यञ्च मनुष्य आदि पर्याय धारण करके आयु का विच्छेद किया और मरते समय तीव्र दु:ख उठाया। खोटे परिणाम से मरकर दुर्गति में पड़ा। इस प्रकार हे जीव ! तूने संसार में जहाँ तहाँ दु:ख उठाया। इसलिए आचार्य दयालु होकर कहते हैं कि अरे ! संसार से मुक्त होने का आज तक तूने कोई विचार नहीं किया।

निगोद का दु:ख—हे आत्मन् ! तू निगोद वास में एक अन्तर्मुहूर्त में छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस वार मरण को प्राप्त हुआ। अर्थात् निगोद में एक श्वास में अठारह विभाव पर्याय धारण किये। वहाँ एक मुहूर्त में ३३७३ श्वासोच्छ्वास लिए। उसमें छत्तीस सौ पिचासी और एक श्वास के तीसरा भाग के ६६३३६ वार निगोद में जन्म मरण किया। इससे सम्यग्दर्शन पाये बिना मिथ्यात्व के उदय से अनेक प्रकार का दु:ख सहन किया। इसी प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त में द्वीन्द्रिय के एक शुद्र ८०, तीन इन्द्रिय के ६० चार इन्द्रिय के ४० और पांच इन्द्रिय के २४ ऐसे हे आत्मन् तूने ऐसे भव धारण किये। अर्थात् अन्य स्थानों में भी विका है। कहा है कि-पृथ्वी, अप्,तेज, वायु, साधारण निगोद के सूक्ष्म बादर के दस और प्रतिष्ठित वनस्पति एक ऐसे ग्यारह स्थान के भव तो एक एक के छ: हजार १२ मिलकर ६६१३२ हो गये। पुन: वह द्वीन्द्रिय २०४ ऐसे कुल मिलाकर छयासठ हजार तीन सौ इक्कीस एक अन्तर्मुहूर्त में हो गये।

हे जीव ! इतने पर्याय धारण करने पर भी तूने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रत्नत्रय को नहीं पाया। पूर्व में कहे हुए इस संसार में तूने भ्रमण किया। अब तू स्व पर का ज्ञान कर। अपने को तू पहचान, रत्नत्रय का ध्यान कर।

हे आत्मन् ! अपने आत्मा में रत होकर यथार्थ रूप का अनुभव कर। यही सम्यक् श्रद्धान है। आत्मा का जानना सम्यक्ज्ञान है। अपने आत्मा का आचरण करना, रागद्वेष में परिणत न होना अपने आत्मा में रमण होना उसका नाम चारित्र है। यही निश्चयरत्नत्रय है। यही मोक्ष मार्ग है।

हे जीव ! तूने इस संसार में जन्म जन्मांतरों में अनेक प्रकार के कुमरण

किये। अब तू जिस मरण से जन्म और मरण का नाश होता है, ऐसे शुद्ध रत्नत्रय आत्मस्वरूप का चिन्तन कर।

मरण के भेद शास्त्र में इस प्रकार बतलाये हैं कि—(१) आवीचि मरण (२) तद्भव मरण (३) अवधि मरण (४) आद्यंत मरण (५) वालमरण (६) पंडित मरण (७) आसन्न मरण (८) बाल पंडित मरण (९) सशल्यमरण (१०) पलायमान मरण (११) वृशार्थ मरण (१२) विप्राणसमरण (१३) सिद्धपुष्टमरण (१४) भक्त प्रत्याख्यान मरण (१५) इंगिनी मरण (१६) प्रायोपगमनमरण (१७) केवली मरण। ऐसे मरण के सतरह भेद हैं।

इनका खुलासा इस प्रकार है। जो आयु का उदय होने से समय समय पर मरण होवे उसको आवीचि मरण कहते हैं। वर्तमान पर्याय का अभाव होना, शरीर का अभाव होना उसको तद्भव मरण कहते हैं। मरण वर्तमान पर्याय मे होता है उसको अवधि मरण कहते है। इसके दो भेद हैं। जैसे प्रकृति स्थिति अनुभाग वर्तमान का उदय आया, उसी तरह आगे का भी उदय आवे। उसको सर्वावधिमरण कहते हैं। और एक देश बंध उदय होकर जो मरण हो जाये उसे देशावधि मरण कहते हैं।

जो वर्तमान पर्याय स्थिति आदि का जैसा मरण था वैसा ही आगे की सर्वतो अथवा देशतो बंध हो, उसको आद्यंत मरण कहते हैं।

पांचवां बालमरण है। वह बाल मरण पाँच प्रकार का हैं।

(१) अभिव्यक्तवाल (२) व्यवहारबाल (३) ज्ञानबाल (४) दर्शनाबल (५) चारित्रवाल। धर्म अर्थ काम इनको न जाने इनका आचरण करने में समर्थ इनका शरीर नहीं हो इसे अभिव्यक्त बालमरण कहते हैं। जो लोक के और शास्त्र के व्यवहार को न जाने तथा बालक अवस्था के समान आचरण करे वह व्यवहार बाल है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होना वह ज्ञान बाल है। तत्व श्रद्धान रहित मिथ्यादृष्टि बाल है।

चारित्र रहित प्राणी चारित्र बाल है। इससे मरना वह बालमरण है। यहाँ मुख्यतया दर्शन बाल का ग्रहण किया है। इससे सम्यक्दृष्टि के अन्य होते हुए भी दर्शन पंडित के सद्भाव से पंडित मरण में गिना है। यहाँ दर्शन बाल मरण संक्षेप से दो प्रकार का है। इच्छा प्रवृत्त, अनिच्छा प्रवृत्त। उसमें अग्नि से धूम से, विष से, अग्नि से जलकर या पर्वत के शिखर से नीचे गिरकर, अति शीत उष्ण की बाधा से, बन्धन से, क्षुधा से, तृष्णा के अवरोधन से, जीभ काढ़कर, विरुद्ध

आहार सेवन से, अज्ञान से जो बाल अज्ञानी मरते हैं उनको इच्छा प्रवृत्त कहते हैं। और जीने की इच्छा कर के जो मरता है वह अनिच्छा प्रवृत्त है।

पंडित मरण चार प्रकार के हैं। व्यवहार पंडित, सम्यक्त्व पंडित, ज्ञान पंडित और चारित्र पंडित। उसमें लोक व्यवहार में प्रवीण होकर जो मरता है वह व्यवहार पंडित मरण है। सम्यक्त्व सहित जो मरता है वह सम्यक्त्व पंडित है। सम्यक् ज्ञान सहित जो मरता है वह सम्यग्ज्ञान पंडित है। सम्यक् चारित्र सहित जो मरता है वह चारित्र पंडित है। यहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र सहित पंडित मरण का ग्रहण है। व्यवहार पंडित को मिथ्यादृष्टि बाल मरण में गिना है। मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होकर संग से छूटने वाले को आसन्नभव कहते हैं। उसमें पार्श्वस्थ स्वच्छन्द, कुशील, संतप्त भी होता है। ऐसे पांच प्रकार के भ्रष्ट साधु का मरण आसन्न मरण कहलाता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक का जो मरण है उसको बाल पंडित मरण कहते हैं।

सवशल्य मरण दो प्रकार के है। वहाँ मिथ्यादर्शन, माया, निदान यह तीन शल्य भाव शल्य है और पाँच स्थावर और त्रस में असहनीय ये द्रव्यशल्य सहित है। ऐसे शल्य मरण है। जो प्रशस्त क्रिया में आलसी होकर व्रत में अपनी शक्ति को छुपाता है और ध्यानादि से दूर रहता है और व्रत से रहित हो उनके मरण को पलायमान कहते हैं। वृशार्थ मरण चार प्रकार के हैं। वह आर्त रौद्रध्यान सहित मरण है। जहाँ पांच इन्द्रियों के विषय में रागद्वेष सहित मरण होना वह इन्द्रियवृशार्थ मरण है। साता असाता की वेदना सहित मरे वह वेदना वृशार्थ मरण है। क्रोध मान माया लोभ कषाय के वशीभूत होकर मरे उसको कषाय वृशार्थ मरण कहते हैं। हास्य विनोद कषाय के वशीभूत होकर मरे वह नोकषाय वृशार्थ मरण है। जो अपने व्रत क्रिया चारित्र में उपसर्ग लाये वह कहीं भी न जाय, भ्रष्ट होने का समय हो जाये और उसके अन्दर आसक्त होकर उसके अन्दर मर जाता है तथा अन्न पानी का त्याग कर देता है वह विप्रानस मरण है। जो शस्त्र ग्रहण कर मरण करता है वह गृद्धकृष्ट मरण है। जो अनुक्रम से अन्न पानी का यथाविधि त्याग करके मरे वह भक्त प्रत्याख्यान मरण है। जो सन्यास से मरण को धारण करे और अन्य किसी से भी वैयावृत्य आदि न करावे उसे इंगिनी मरण कहते हैं। जो प्रायोपगमन सन्यास करे तथा किसी से वैयावृत्य न करावे, आप भी न करे और प्रतिमायोग में रहे वह प्रायोपगमन मरण है। परमानन्द का योग कौन प्राप्त कर सकता है—

हे योगी! ऐसा अनुपम योग जिसको प्राप्त होता है उसी को परमानन्द निजी स्वरूप की प्राप्ति होती है। यह योग न तो अनुपम आत्म योग धारण करने से या न बहुत खाने वाले योगी को प्राप्त होता है या न बिल्कुल न खाने वाले

को प्राप्त होता है या न अधिक शयन करने वाले को होता है और न अत्यन्त जागने वाले को प्राप्त हो सकता है। जिन्होंने अपने मन से इन्द्रिय विषय को, कषाय को दूर कर अपने मन को एकाग्र कर पर वस्तु से ममत्व बिल्कुल दूर किया है तथा जो इस संसार के भयानक दुःखों से घबराया है और सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्र ऐसे रत्नत्रय में रुचिपूर्वक रमण करते हुए जो उत्कृष्ट चारित्र में रमण कर रहा है और रमण करते हुए अपने आत्मा को अत्यन्त पवित्र शुद्ध तथा निर्मल किया है चारित्र मार्ग का अनुकरण किया है उन्हीं को, यह मार्ग अर्थात् परमानन्द निजी रूप की प्राप्ति या परमानन्द का योग प्राप्त हो सकता है और उन्हीं योगी को यथार्थ रूप में अपने अंतरंग में मिलता है। इसका सार यह है कि भव भव के नाश करने वाले यथा शुद्ध पवित्र आचरण करने वाले के निज में ही निज की प्राप्ति होती है और अमृतमयी आनन्द पान का आस्वादन करते हुए बाहर के विषयादि को भूल जाता है। जैसे कोई पुरुष बढ़िया से पकवान खाकर के डकार लेता है उसी तरह परमानन्द पवित्र योगामृत का स्वाद करके जिनकी तृप्ति हो गई है ऐसे योगी बिना खाये डकार लेता है और परम सन्तोष क साथ उसमें रत रहता है उसी योगी को यह निजात्म तत्व की प्राप्ति होती है।

चारित्र की महिमा को बतलाते हैं –

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव ।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥

अर्थ—जीवाजीव के स्वरूप को सत्य, निराला दिखाने वाला जो ज्ञान उसे विज्ञान समझना चाहिये। उसके द्वारा जब मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है तब सम्यग्दर्शन का लाभ होता है। क्योंकि, भेद ज्ञान के होने पर सम्यग्दर्शन के घातक दर्शन मोहनीय नामा कर्म का नाश होगा और फिर सम्यग्दर्शन का लाभ अवश्य ही होगा। इस प्रकार सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान ये मोक्ष के दो साधन जब कि मिल चुके तो तीसरे एकमात्र चारित्र का मिलना बाकी रह गया। यह तीसरा साधन जब प्राप्त हो जाता है तब मोक्ष का प्राप्त होना दूर नहीं और उसमें विलम्ब नहीं समझना चाहिये। परिग्रह का त्याग होने से चारित्र प्राप्त होता है या यों कहिये कि, परिग्रह का त्याग होना ही चारित्र है, क्योंकि, विषयों में रागद्वेष होने से संसार बढ़ता है इसलिये संसार के असार स्वरूप से जो विरक्त होगा उसका परिग्रहों से मन हटेगा और इसलिये परिग्रह का छूट जाना उसके लिये एक सहज बात है। जो जिसे अच्छा बुरा समझता है उसका उसमें रागद्वेष होना सहज सिद्ध है। इसी प्रकार जो जिसे निस्सार समझता

है उसका उससे मोह छूट जाना भी सहज बात है। इसलिये जो विषयों के दुःखदायक फल को समझ चुका है वह उनसे क्यों न उदास होगा ? जब कि विषयों से उदास हो गया तो विषयों के ही लिये इकट्ठे किये जाने वाले परिग्रहों मे क्यों न हटेगा ? बस, इसलिये परिग्रहों का छूट जाना अंतरंग के चारित्र परिणाम का प्रकाशक हो सकता है। जब कि इतनी सूक्ष्म दृष्टि से विचार न करना हो तो यों कह लीजिये कि, परिग्रहों का त्यागना ही चारित्र है। जब ये तीनों रत्न प्राप्त हो चुके तो समझना चाहिये कि मोक्ष-प्राप्ति के पूरे साधन जुड़ गये। ऐसी अवस्था में जरामरणादि शरीर संबंधी दुःखों से रहित मोक्ष पद की प्राप्ति क्यों न होगी ? क्योंकि, कुल कारणों के मिल जाने पर कार्य का सिद्ध होना अवश्य ही न्याययुक्त है।

जो केवली मुक्ति प्राप्त करे वह केवली मरण है। इस प्रकार यह सत्रह प्रकार के कहे हुए मरण हैं। उनमें पाँच प्रकार के मरण मुख्य हैं—पंडित पंडित, पंडित, बाल पंडित, बाल और बाल बाल। वहाँ दर्शन ज्ञान चारित्र के अतिशय से सहित केवली का जो मरण होता है वह पंडित पंडित है। और इनके समान जो साधु का मरण होता है वह पंडित है। सम्यग्दृष्टि श्रावक वह बाल पंडित है और पूर्व में चार प्रकार जो पंडित कहा है उनमें से एक भी भाव जिसमें नहीं है वह बाल है। और जो सबसे शून्य है वह बाल बाल है। इसमें पंडित पंडित मरण, पंडित मरण और बाल पंडित मरण ये तीन प्रशस्त-सुमरण कहे हैं। इनसे जो अन्य मरण हैं, वे हेय हैं और कुमरण के कारण हैं। या तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र एकदेश सहित मरे और जो इनके स्मरण सहित मरे। इनको स्मरण करने का उपदेश जिनेन्द्रदेव ने कहा है। हे योगी ! अगर तुझे कल्याण करना है तो ऊपर कहे हुए सुमरण का स्मरण करो और भाव से अर्थात् अंतरंग से बहिरात्मा के भाव को छोड़कर अंतरात्मा के सम्मुख बनो। और इन पच परावर्तन संसार को छेद कर संसार से मुक्त होजावो।

हे जीव ! तूने कभी भावलिंग धारण नहीं किया। केवल तूने द्रव्यलिंग को ही धारण किया परंतु द्रव्यलिंग को धारण करके इन तीन लोक प्रमाण सर्व स्थान में जन्म लिया। एक परमाणु. प्रमाण एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ कोई जन्म लिया न हो या कोई ऐसा स्थान खाली नहीं जहाँ तूने मरण नहीं किया। सारांश यह है कि इस जीव ने द्रव्यलिंग धारण कर के स्वर्ग में भी जन्म और मरण किया। जन्म नहीं लिया ऐसा कोई प्रदेश नहीं रहा। इसलिये हे योगी ! द्रव्यलिंग और भावलिंग सहित अंतरंग में प्रवेश करके आत्मतत्व का अन्वेषण करके संसार से मुक्त हो ऐसा उपदेश है। इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं।

सम्यक्त्व हीन नक्कट, कर्मक्षय हेतुवेंदु नेगळवं तपदोळ् ।
कर्मद केडु मदागदु केम्मने सुयिगुट्टियाक्किपर पंतक्कुं ॥३४॥

अर्थ—भगवान जिनेश्वर द्वारा कहे हुए पदार्थों में यथार्थ विश्वास या रुचि पूर्वक श्रद्धान इसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसे सम्यक्त्व श्रद्धान से रहित अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव का तप भाव विना केवल द्रव्यलिंग धारण करके कठिन तपस्या करके भी कर्म की निर्जरा के लिए कारणभूत नहीं होता है। परतु वह अज्ञानी बहिरात्मा उसी से कर्म निर्जरा समझकर उसी का आचरण करता है क्या उससे कर्म की निर्जरा होगी ? अर्थात् नहीं होगी। वह बहिरात्मा अज्ञानी जीव चावल के कणरहित भुस को कूटकर उससे चावल की इच्छा करने वाले मूर्ख के समान व्यर्थ ही प्रयास करता है। क्या कभी भुस कूटने से चावल की प्राप्ति होगी ? नहीं। इस तरह अज्ञानी बहिरात्मा कितने भी कठिन से कठिन तप करे फिर भी सम्यक्त्व रहित तप से कर्म की निर्जरा होकर निजात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् सम्यक्त्व रहित तपस्या निष्फल है ऐसे समझना चाहिये ॥३४॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में कहा है कि भगवान जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यथार्थ जो तत्व है उसी तत्व पर सम्यक् श्रद्धानपूर्वक रुचि न रखने के कारण जीव ने सम्यक्त्वरहित होकर अनेक प्रकार के कठिन तप करके संसार मे भ्रमण किया परन्तु तेरा प्रयास भुस में से चावल निकालने के समान व्यर्थ हो गया। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे प्राणी ! अगर तुझे संसार के बंधन से मुक्त होना है तो भगवान वीतराग देव द्वारा कहे हुए तत्व पर रुचि रख। और उसकी आराधना कर। वह आराधना इस प्रकार है—

सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमहिगमो जो वा ।
णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुते ॥

परमागम के अर्थ की भावना करना अथवा उपर्युक्त जीव आदि भावों का भले प्रकार ज्ञान करना व्यवहार ज्ञानाराधना है। संशय विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीन मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान आराधना में बाधक हैं अर्थात् यह जीव है या अजीव ? इस प्रकार विरुद्ध अनेक कोटियों का अवगाहन करने वाला ज्ञान संशयज्ञान, जीव को अजीव ही मानना वा अजीव को जीव ही मानना इस प्रकार विपरीत एक कोटि का निश्चय करनेवाला ज्ञान विपर्यय ज्ञान और यह कुछ है इस प्रकार का ज्ञान अनध्यवसाय है। ज्ञान की सत्ता आत्मा में जब तक विद्यमान रहती है तबतक जीव ही है अथवा जीव और अजीव आदि है इस प्रकार की सम्यग्ज्ञान आराधना का उदय नहीं होता। किंतु जब संशय

आदि मिथ्याज्ञान सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उस समय सम्यग्ज्ञान आराधना का उदय होता है इसलिए जो पदार्थ जैसे हैं उन्हें वैसे ही मानना सम्यग्ज्ञान आराधना है । भगवान जिनेन्द्रदेव ने परमागम की भावना अथवा उक्त जीवादि पदार्थों का अधिगम इस प्रकार सम्यग्ज्ञान आराधना के दो स्वरूप वतलाये हैं सो ठीक है । क्योंकि जीव आदि पदार्थों का स्वरूप इतना गहन है कि विना परमागम का अवलंबन किये, विना सर्वज्ञ के दूसरा कोई जान ही नहीं सकता इसलिये मूलकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम के अनुसार जीवादि पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान सम्यग्ज्ञान आराधना है। अल्पज्ञानियों द्वारा रचे गये शास्त्रों के अनुसार जीव आदि पदार्थों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान आराधना नहीं वन सकता। अथवा जो वह परमागम की भावना है वही जीवादि पदार्थों का अधिगम हैं दोनों एक हैं क्योंकि जीवादि पदार्थों के स्वरूप वर्णन से भिन्न परमागम कोई पदार्थ नहीं और उसकी भावना जीवादि पदार्थों के समूह के अधिगम से भिन्न नहीं है। इसलिये परमागम की भावना से ही सम्यग्ज्ञान आराधना का स्वरूप मालूम पड़ जाता है तथापि मूलकार ने जो पुनः जीव आदि पदार्थों का अधिगम सम्यग्ज्ञान भावना है यह लिखा है वह स्पष्टता के लिये ही किया समझना चाहिये।

जो मनुष्य भगवान जिनेंद्र द्वारा प्रतिपादित और नव पदार्थों के वर्णन से देदीप्यमान अद्भुत जैन सिद्धांत की भक्तिपूर्वक भावना करता है अथवा सदा जीव आदि पदार्थों का भले प्रकार ज्ञान करता है वह समस्त निंदित कर्मों को त्यागकर अद्भुत अनंत सुख प्रदान करने वाली निश्चय सम्यग्ज्ञान आराधना को प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दर्शन के बिना हे जीव ! कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती है भले ही कितनी ही कठिन तपस्या करे। जब तक सम्यक्त्व सहित वैराग्य न हो तव तक कुटुम्ब को छोड़ना या नहीं छोड़ना वरावर ही है। इसलिये कोई जीव भाव से घर छोड़कर मुक्त हुआ उसको मुक्त कहो। और बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्र आदि से जो मुक्त हुआ उसको मुक्त मत कहो । इसलिये हे जीव ! ऐसा जानकर के आभ्यन्तर वासना को त्याग करके भगवान वीतराग के मार्ग पर तू श्रद्धान रख । उदाहरणार्थ देखो बाहुबलि श्री वृषभदेव के पुत्र ने राज्य आदि को छोड़ा परन्तु मन मे थोड़ी परिग्रह के कारण अर्थात् मान कषाय के कारण मन में कलुषित परिणाम रहा इसलिए वह वहुत से आतापन तप करके भी शीघ्र केवल ज्ञान नहीं पा सका। योगलीन होकर साल भर खड़ा रहा जव भरत चक्रवर्ती ने आकर समझाया तब उनको निर्वाण प्राप्त हुआ।

भावरहित मधुपिंगल मुनि ने संसार में भ्रमण किया। उस मुनि ने भाव आराधना को छोड़कर खूब तप किया और निदान वन्ध करके शरीर छोड़ा और निंद्य गति में गया।

वह कथा इस प्रकार है। इस भरत क्षेत्र में सुरम्य देश है। उसमें पोदनपुर नामक नगर है। वहाँ राजा त्रर्णपिंगल का पुत्र मधुपिंगल था। वह चारणयुगल नगर के राजा सुयोधन की पुत्री सुनसा के स्वयंवर में आया था। और वहां इस प्रकार राजा सगर भी आया था। सगर के मंत्री ने मधुपिंगल को कपट से सामुद्रिक शास्त्र का अवलम्बन लेकर धोका दिया कि इनके नेत्र पिंगल हैं वह बिल्ली के समान है इसलिये जो इन्हें कन्या देगा वह मरण को प्राप्त होगा। तब कन्या ने सगर के गले में माला डाल दी। मधुपिंगल के गले में नहीं डाली। तब मधुपिंगल ने विरक्त होकर दीक्षा लेली। बाद में उसने कारण पाकर सगर के मंत्री के कपट को जानकर क्रोध किया और अन्त में निदान किया कि मेरे तप का यह फल हो कि जन्मांतर में सगर के कुल का नाश करूं। इस तरह से मन में निदानबंध करके मधुपिंगल मरकर महाकालासुर नाम का असुर हो गया। तब सगर को मंत्री सहित मारने का उपाय सोचा तब क्षीरकदम्ब ब्राह्मण का पुत्र पर्वत उसको मिला। तब पशु की हिंसा रूपी यज्ञ का सहायी होकर कहा कि सगर राजा को यज्ञ का उपदेश देकर यज्ञ कराओ। तेरे यज्ञ का सहायी मैं होऊंगा। तब पर्वत ने सगर के पास जाकर यज्ञ कराया और उसमें अनेक पशु होम दिये। उस पाप से सगर सातवें नरक में गया और कालासुर उसका सहायक बन गया। अर्थात् वह यज्ञ के कारण स्वर्ग में गया ऐसा बताया। इस प्रकार मधुपिंगल मुनि निदान बंध करके आगे जाकर पाप को भोगने वाला हो गया। इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे योगी! भाव बिगड़ने से आत्मसिद्धि को प्राप्त नहीं होता है। इसलिये भाव सहित तप कर्म की निर्जरा का कारण होता है उससे विशुद्ध मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

जो पद की आकांक्षा करते हों उन्हें चाहिये कि, ज्ञान की आराधना करें। क्योंकि, ज्ञान जीव का मूल स्वभाव है। किसी भी वस्तु की चिरकाल तक कामना या आराधना करने से उसकी प्राप्ति एक दिन अवश्य होती है।

ज्ञान भावना का फल—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मन्यते॥

ज्ञान की आराधना करने का या ज्ञान में मग्न होने का असली व उपयोगी फल यही है कि परोक्ष व अल्प श्रुतज्ञान हटकर सकलप्रत्यक्ष केवल ज्ञान का लाभ हो। यह फल अविनश्वर है व आत्मा को पवित्र तथा सुखी बनाने का कारण होने से स्तुत्य है। तपश्चरण करना, धर्माचरण करना, ज्ञानाभ्यासादि करना, यह सब इसलिए कि अणिमा महिमा आदि ऋद्धि, सिद्धि व सम्पत्ति आदि की प्राप्ति हो, ऐसा मानना मोह का माहात्म्य है। जिन जीवों का मोह शांत होकर आत्मतत्व

की परीक्षा प्राप्त नहीं हुई है वे इन पराधीन क्षणनश्वर दुःखमय संसारविषयों की अभिलाषा करते हैं। घर द्वार छोड़कर तपस्वी वनने पर भी उनकी यह अभिलाषा नष्ट नहीं हो पाती। इस मोह की महिमा का क्या ठिकाना है? परन्तु यह खूब समझ लो कि चाहने से कुछ नहीं मिलता है।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अंगारवत् खलो दीप्तो ङ्गली वा भस्मी वा भवेत्॥

शास्त्रों का ज्ञान होने से वस्तुओं पर सच्चा प्रकाश पड़ता है और कर्म कलंक जल जाते हैं। इसलिए शास्त्र ज्ञान एक प्रकार की आग है। अग्नि में पड़ने से रत्न जैसे शुद्ध होकर चमकने लगता है वैसे ही निर्मोह हुए भव्य जीव शास्त्र ज्ञान में मग्न होकर कर्म कालिमा को जला डालते हैं और निर्मल होकर अथवा कर्मो से छूटकर प्रकाशमान होने लगते हैं। जिनकी विषय वासना नहीं छूटी है ऐसे मोही जीव शास्त्र ज्ञान में प्रविष्ट होकर भी आधे जले हुए अंगार की तरह चमकते तो हैं परन्तु मलिन ही वने रहते हैं। अन्त में जव पूरे जल चुकते हैं तो भस्म की तरह प्रकाश से भी शून्य निस्सार हो जाते हैं। ठीक ही है, मोही जीव यदि ज्ञान का सम्पादन भी करें तो भी अन्त में विषयासक्त होकर अज्ञानी ही रह जाते हैं। नीच कर्म करने से वे मलिन दीखने लगते हैं व विवेकशून्य हो जाने से अंत में भस्म की भांति निस्सार दीख पड़ते हैं। परंतु ज्ञानी उसी शास्त्रज्ञान के द्वारा पवित्राचरण रखता हुआ चमकता है व अंत में शुद्ध वन जाता है।

इसलिये हे योगी! द्रव्यलिंग को छोड़कर भावलिंगी होकर और वाह्य पर वस्तु को त्याग कर अपने अंतरंग में आप ही लीन होकर अपना ही ध्यान करो। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र युक्त तू ही है। तव अपनी आत्मा से भिन्न वाह्य वस्तु आप ही आप अपने शरीर से भिन्न हो जाती है। जव तक वाह्य वस्तु अपनी आत्मा के साथ रहती है और जव तक आत्मा उसमें रागी होकर परिभ्रमण करती है तव तक रागी कहलाती है इसलिये रागद्वेष को अपनी आत्मा से भिन्न मानकर जव आप अपने अन्दर देखेगा तव सव कुछ अपने अन्दर ही मालूम होगा।

हे योगी! यदि हमेशा भगवान जिनेश्वर के चरण कमलों में भक्ति पूर्वक लीनता, इन्द्रियों के विषयों आदि से विरक्ति, तपस्या के भाव को सम्हालने के लिये अनुकूल शक्ति, शरीर को ज्ञान के द्वारा आत्मा से अच्छी तरह भिन्न करके आत्म स्वरूप को पूर्ण रूप से देखने की युक्ति और गुणों में प्रीति तुम्हारे अन्दर उत्पन्न हो जाये तो शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति होगी और यदि ये गुण तुम्हारे अन्दर व्याप्त नहीं होंगे तो मनुष्य जन्म लेने से क्या फायदा। इसलिए

हे जीव ! तू सम्पूर्ण भाव विषय वासना, पर पदार्थ से विमुख होकर आत्म सन्मुख होजा, तब तुझे शुद्धात्म की प्रतीति होगी और मोक्ष की प्राप्ति होगी।

पल्लुं बायारूत्तिर लेल्ला ओदुगकनोदि तन्नय गुणदोळ् ॥
निल्लुदव नोडुगिळियो दल्लदे पेरतल्लबेंबमुनि मुनिवृषभं ॥३५॥

अर्थ—दांत और मुंह द्वारा बहुत से ग्रंथ पढ़े अर्थात् तर्क, व्याकरण छंद, अलंकार, नाटक, भरतशास्त्र, गणित, वेद, ज्योतिष, आगम न्याय शास्त्रादि अनेकों शास्त्र रातदिन पढ़े परन्तु यह शास्त्र अध्ययन एक अज्ञानी तोते के रटने के समान है। क्योंकि, तोते को जितना सिखाया जाता है उतना ही वह रटता है परन्तु पढ़ लेने पर भी जीव ने ज्ञान नहीं प्राप्त किया। इससे सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मा का अनुभव नहीं हुआ और आत्म साधन नही हुआ। जो योगी मुनि अपने आत्मानुभव में रमने वाले हैं वही मुनि मुनिवृषभ हैं अर्थात् मुनियो में श्रेष्ठ है ॥ ३५ ॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि बहिरात्मा अज्ञानी ने बहुत से शास्त्र पढ़े किन्तु उनका पढ़ना केवल तोते के समान ही है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि इतने शास्त्र पढ़ने पर भी उसके हृदय में सम्यग्ज्ञान नही हुआ और आत्मा को पहिचान न सका तब शास्त्र कंठस्थ करने से क्या लाभ ? केवल उनका पढ़ना शुष्क भेरी की आवाज के समान ही समझना चाहिये। कहा भी है कि:—

गिरिय सुक्तिदरेनु हववुजोदिदरेनु पिरिपु लांछन तोटेद्रेनु।
अरियदे निज परमात्मनध्यानव नरिकगि बललि सन्तते ॥

पहाड़ की प्रदक्षिणा करने से क्या ? अनेक प्रकार के लाखों शास्त्रों का अध्ययन करने से क्या पंडित बन गया ? अगर निज परमात्म को ध्यान के द्वारा नहीं जानता है तो उसका ज्ञान वैसा ही है जैसा कि एक सियारनी अपने बच्चे के साथ किसी किसान के गन्ने के खेत में पहुंच जाती है और खूब गन्ना चूसकर पेट भरती है तब एकदम चिल्लाती है परन्तु यह नहीं समझती कि अगर मैं चिल्लाऊंगी तो मेरे बच्चे किसान के हाथ में पड़ जायेगे और मारे जायेगे। जब वह चिल्लाती है तो किसान भागा आता है और वह सियारनी भाग जाती है और बच्चा उसके हाथ में फंस जाता है। इसी तरह इस संसारी आत्मा ने दुनिया के सारे पर पदार्थों को जानकर, उनका अनुभव कर ज्ञान प्राप्तकर सभी कुछ किया, चारों गतियों में भ्रमण किया, अनेक प्रकार के कला कौशल आदि में निष्णात हुआ तो भी अपनी आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना। इससे जो बाह्य तप, संयम आदि पालन किया,

कठिन से कठिन तप किया इससे कर्म की निर्जरा आज तक तो न हो पायी। इसलिये हे योगी ! मनुष्य पर्याय धारण करके व अनेक बार संयम धारण करके पीछी कमंडल धारण किया। यदि वे सभी इकट्ठे किये जायें तो मेरु पर्वत से भी अधिक हो जाएँगे। इसलिये हे निर्बुद्धि जीव ! अपने आत्म स्वरूप को पहचान। यदि तू संसार से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो बाह्य इन्द्रिय जन्य विषय भोग के मोह को त्याग कर यदि अपने अन्दर आप ही रत होकर अपने को देखेगा तो तू ही परमात्मा बन जायगा। तू ही मोक्ष रूप है और अन्य कोई मोक्ष रूप नहीं है। इसलिए भावलिंगी बनकर आत्म स्वरूप का चिन्तन कर ऐसा श्री गुरु का उपदेश है।

नेट्टने निजशुद्धात्मनं निट्टियिसत्मोक्ष मक्कुमेंदरियरिदवं ॥
निट्टेयिनुरे माळ्प तपं पोट्टंबडिदल्लियाक्कियरपंतक्कुं ॥३६॥

अर्थ—ठीक एकांत में बैठकर संपूर्ण पर वस्तु को अपनी आत्मा से दूर हटाकर शुद्धोपयोग के द्वारा शुद्धात्म रत होकर जो अपने आपको देखता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है इस बात को निश्चय और श्रद्धान पूर्वक अर्थात् निष्ठा पूर्वक न जानने वाला मूर्ख अज्ञानी जीव जो कठिन तप करता है वह व्यर्थ तप करता है। उस तप को ऐसा समझना चाहिये जैसे कि धान को कूटकर, चावल निकालकर फेंके हुए छिलके या भूसा को कूटकर उसके अदर चावल को ढूंढ़ने वाले मूर्ख शिरोमणि हों। अर्थात् अध्यात्म रहित जिनका तप है वह तप निष्फल है ऐसा समझना चाहिये।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि जो योगी सम्यक्त्व सहित श्रद्धानपूर्वक एकांत स्थान में बैठकर संपूर्ण आत्मा से परवस्तु को भिन्न मानकर और अपनी आत्मा में रत होकर वीतराग सहजानंद समरसी बन गया और निर्विकल्प समाधिरूप अपने अहं में रत होकर शुद्धोपयोग पूर्वक ध्यान करता है वही ज्ञानी जीव मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस बात को न जानने वाले बहिरात्मा, अध्यात्म शून्य, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव, भूसे के ढेर को कूटकर चावल देखने वाले मूर्ख के समान है। जो मूर्ख अध्यात्म से शून्य होकर केवल कठिन से कठिन बाह्य तप करने वाले द्रव्यलिंगी हैं उन्हें मोक्ष की सिद्धि कभी नहीं हो सकती है।

आत्म ज्ञान रहित तप करने वाले योगियों को उनकी पाँचों इंद्रियां पंचाग्नि के समान हैं और अध्यात्म सहित होकर तप करने वाले आत्म ज्ञानी की पांचों

इन्द्रियाँ पंचरत्न के समान हैं ऐसा समझना चाहिये। इसलिये हे योगी! आत्मज्ञान सहित तप करो। आत्मज्ञान रहित तप सदा दीर्घ संसार और दुःख का कारण बनता है। इससे तुझे संसार में अनेक दुःख सहन करना पड़ेगा।

प्रश्न—आत्मा का परिचय कैसे हो?

समाधान—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥

उत्पत्ति, स्थिति, नाश इन तीनों धर्मों का सतत रहना वस्तुओं का सामान्य लक्षण कहलाता है। इन्हीं सर्व वस्तुओं के अंतर्गत जीव भी एक द्रव्य या तत्व है। उसका भी सामान्य स्वभाव वही है जो बाकी सर्व वस्तुओं का है। परन्तु जीवों का जो निजी तत्व है उसी के कल्याण के लिये सारा घटाटोप है। शास्त्रों का उपदेश व व्रत, तप, दान, धर्म, ये सब कर्म केवल जीव के कल्याणार्थ ही कहे व किये जाते हैं। इसलिये जीव की निराली पहचान होना बहुत ही आवश्यक कार्य है। उसके कल्याण मार्ग उसके जानने पर ही जाने जा सकते है। तब?

जीव का स्वभाव ज्ञान है। जीवों को जितने दुःख, अशांति, उद्वेग, क्षोभ, होने दिखाई देते हैं वे सब रागद्वेष के वश होने से व अज्ञानी रहने से। इसी प्रकार जहाँ जहाँ पर रागद्वेष की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पड़ती है वहीं वहीं सुख-शांति व अनुद्वेग देखने में आता है। वस्तु में उद्वेग व अशांति न रहना यही उस वस्तु का मूल स्वभाव समझना चाहिये। क्षोभ व अशांति अथवा उथल पुथल होना विजातीय संयोग का कार्य है। इसीलिये क्षोभ रहित शांत होकर ठहरना वस्तु का मूल स्वभाव समझा जाता है। रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा की क्षोभ-अशांति मिटती है और शांति प्राप्त होती है। रागद्वेष की अवस्था जैसे जैसे मंद होती है वैसे वैसे तत्वज्ञान की वृद्धि होती है और वैसी ही वैसी जीवों को शाँति प्राप्त होती प्रतीत होती है। इसलिये रागद्वेष का पूर्ण अभाव, ज्ञान की पूर्णता होना निज स्वभाव व पूर्ण सुख-शांति प्राप्त होने का कारण मानलेना, अनुभव के विरुद्ध न होगा।

वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति होना ही अविनाशी अवस्था की प्राप्ति है। वह अवस्था फिर कभी नहीं छूटती है।

ओदुवुदु तन्न नरियद लकोदुवुदिह परके हितमनाचरिपडे ता-
नोदुवुदललदोड दुर्गिकि योदिदिवोलोदिनवके पंडितनवकु ॥३७॥

अर्थ—स्व पर आत्म ज्ञान के लिये, इह पर साधन के लिये और सच्चे आचरण के लिये शास्त्र का पठन, अभ्यास करना आवश्यक है। अगर वह शास्त्र का पठन और अभ्यास स्व पर आत्मा को जानने के लिये या सच्चा चारित्र धारण करने के निमित्त नहीं होता है तो उसे ऐसा समझना चाहिये कि तोते का पठन पाठन है। जितना तोता रटता है उतना ही बोलता है उससे अधिक नहीं। केवल शास्त्र के श्लोक को पढ़कर या रटकर तोता विद्वान तो कहला सकता है परन्तु उसके शास्त्र का पठन उसके आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये नहीं होता है। इसी तरह बहिरात्मा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि का शास्त्र पठन केवल बाहरी ज्ञान के लिये निमित्त कारण बनता है और वह ज्ञानी तो जरूर कहलाता है परन्तु वह आत्मज्ञानी नहीं कहलाता। केवल शास्त्र का ज्ञानी कहलाता है। हजारों शास्त्र पढ़कर भी वह आत्म ज्ञान से शून्य रहकर संसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के दुःख सहता है ॥३७॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में कहा है कि स्व-पर ज्ञान के लिये शास्त्र का पठन किया जाता है। अगर वह शात्र स्व पर आत्मज्ञान के लिये निमित्त कारण नहीं होता, अर्थात् वह शास्त्र आत्मज्ञान करने का निमित्त कारण नहीं होता तो तोते के ज्ञान के समान केवल श्लोक रटकर दुनिया को सुनाने के समान ही समझना चाहिये। कहा भी है कि:—

छंद शास्त्र कंठस्थ है, पढ़ लिये सारे वेद ।
बिन वैराग्य मुक्ति नहीं, कोटि करो अश्वमेध ॥

छंद शास्त्र, गणित, अलंकारादि कंठस्थ हैं सारे वेद भी पढ़ लिये और करोड़ों अश्वमेधादि यज्ञ भी किये परन्तु जब तक वैराग्य नहीं आया तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

तर्क व्याकरण न्याय तथा धर्म शास्त्रादि पढ़कर शास्त्र की परीक्षा देकर पंडित पद प्राप्त किये हुए बहुत विद्वान लोग हैं किन्तु वह शास्त्र का ज्ञान स्व पर के कल्याण के लिये उपयोग नहीं किया जाता तो वह शास्त्र अपने लिए और दूसरों के लिये शास्त्र न होकर शस्त्र बन जाता है। कहा भी है कि—

शास्त्रं बंदोडे शांति सैरने निगर्वंनीति सैल्वातुमु- ।
क्तिस्त्री चित्तें निजात्मचिंतें निलवेळ्कतंल्लदाशास्त्रदिं ॥
दुस्त्री चिंतने दुर्मुखं कलहमुं गर्व मनगोडडा ।
शास्त्रं शस्त्रमें शास्त्रि शस्त्रिकनला ? रत्नाकराधीश्वरा ॥

हे रत्नाकराधीश्वर ! अर्थात् हे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे रत्नत्रय के अधिपति जिनेन्द्र भगवान ! संपूर्ण शास्त्र का ज्ञान होने के बाद समाधान, सहनशीलता, अहंकार रहित होना, हिंसारहित धर्म के प्रति रुचि रखना, अत्यंत मधुर भाषी होना, हमेशा मोक्ष की चिंता और स्वात्मचिंतादि में स्थिर होकर रहना चाहिये। अगर इस प्रकार न रहकर उस शास्त्र से दुष्ट स्त्रियों की चिंता, क्रोधादि कषायो से विकार को प्राप्त हुआ मुख तथा झगड़ा अहंकारादिक भावनाएं मन में आक्रमण करने के लिये उठें तो वही शास्त्र शास्त्र रूप न होकर शस्त्र अर्थात् आयुध के समान होता है और वह शास्त्री शस्त्रधारी कहलाकर स्व पर का घात करता है।

आचार्य शास्त्र अध्ययन का फल बतलाते हैं:—

पर-तत्तीं-णरवेक्खो दुट्ठ-वियप्पाण णासण-समत्थो।
तच्च-विणिच्छय-हेदू सज्झाओ झाण-सिद्धियरो ॥

स्वाध्याय, तप परनिन्दा से निरपेक्ष होता है, दुष्ट विकल्पों को नष्ट करने में समर्थ होता है। तथा तत्व के निश्चय करने का कारण बनता है और ध्यान की सिद्धि करने वाला होता है। सुष्ठु रीति से पूर्वापर विरोधरहित अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं। अर्थात् आत्मा के हित के लिये अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय परनिन्दा से निरपेक्ष होता है, क्योंकि स्वाध्याय में लीन हुए मुनि का मन और वचन स्वाध्याय में लगा होता है इसलिये वह किसी की निन्दा नहीं करता। तथा स्वाध्याय करने से रागद्वेष और आर्त, रौद्र ध्यान रूपी दुष्ट विकल्प नष्ट हो जाते हैं। पुत्र, स्त्री, धन धान्य आदि चेतन अचेतन बाह्य वस्तुओं में कि ये मेरे हैं इस प्रकार के परिणामों को संकल्प कहते हैं, और 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूं।' इस प्रकार चित्त में होने वाले क्षोभ विक्षोभ रूप परिणामों को विकल्प कहते हैं। स्वाध्याय करने से उपरोक्त दुष्ट संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि स्वाध्याय करने वाले का मन स्वाध्याय में ही लगा रहता है। इसलिये उसका मन इधर उधर नहीं जाता। तथा स्वाध्याय करने से तत्वों के विषय में होने वाला संदेह नष्ट हो जाता है और धर्म तथा शुक्ल ध्यान की सिद्धि होती है। जो मुनि अपनी पूजा प्रतिष्ठा की अपेक्षा न करके, कर्म शोधन के लिये जिनशास्त्रों को भक्ति पूर्वक पढ़ता है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी होता है। आदर, सत्कार, प्रशंसा और धन प्राप्ति की वांछा न करके ज्ञानावरण आदि कर्म रूपी मल को दूर करने के लिये जो जैन शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त होता है। जो पण्डिताभिमानी लौकिक फल की इच्छा रखकर शास्त्रों की सेवा करता है और साधर्मी जनों के प्रतिकूल रहता है उसका शास्त्रज्ञान भी व्यर्थ है।

जो विद्या के मद में गर्विष्ट हो अपने को पण्डित मानता है और प्रशंसा, पूजा, धन, भोजन, औषधि वगैरह के लाभ की भावना से जैन शास्त्रों को पढ़ता तथा पढ़ाता है और सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनियों का विरोधी रहता है उसका शास्त्रज्ञान भी विष के तुल्य है क्योंकि वह संसार के दुःखो का ही कारण है। कहा भी है—'ज्ञान घमण्ड को दूर करता है" किन्तु जो ज्ञान को ही पाकर मद करता है उसका इलाज कौन कर सकता है ? यदि अमृत ही विष होजाये तो उसकी चिकित्सा कैसे की जा सकती है।

जो पुरुष रागद्वेष से प्ररित होकर लोगों को ठगने के लिये युद्धशास्त्र और कामशास्त्र को पढ़ता है उसका स्वाध्याय निष्फल है। क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्री रागद्वेष आदि के वशीभूत होकर दुनिया के लोगों को कुमार्ग में लेजाने के लिये युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र शस्त्रों की विद्या का अभ्यास करता है, स्त्री-पुरुष के संभोग से सम्बन्ध रखने वाले कोकशास्त्र, रतिशास्त्र, भोगशास्त्र, काम-क्रीड़ा आदि कामशास्त्रों को पढ़ता है उसका पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ है। अर्थात् जो शास्त्र मनुष्यों में हिंसा और काम की भावना को जागृत करते हैं उनका पठन-पाठन व्यर्थ है। ऐसे ग्रन्थों के स्वाध्याय से आत्महित नही हो सकता। इसी तरह लोगों को ठगकर धन उपार्जन करने की दृष्टि से सामुद्रिकशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र और वैद्यकशास्त्र को भी पढ़ना व्यर्थ है। सारांश यह है कि जिससे अपना और दूसरों का हित किया जा सके वही स्वाध्याय स्वाध्याय है। जो अपनी आत्मा को इस अपवित्र शरोर से निश्चय से भिन्न तथा ज्ञायकस्वरूप जानता है वह सब शास्त्रों को जानता है। स्वाध्याय का यथार्थ प्रयोजन तो अपने शरीर में बसने वाली आत्मा को जान लेना ही है। अतः जो यह जानता है कि सात धातु और मलमूत्र से भरे इस शरीर से मेरी आत्मा वास्तव में भिन्न है, तथा मैं शुद्ध बुद्ध चिदानन्द स्वरूप परमात्मा हूं, केवल ज्ञान, केवल दर्शन मेरा स्वरूप है, वह सब शास्त्रों को जानता है। कहा भी है। जो श्रुतज्ञान के द्वारा इस केवल शुद्ध आत्मा को जानता है उसे लोक को जानने, देखने वाले केवली भगवान् श्रुतकेवली कहते हैं। जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिन भगवान ने श्रुतकेवली कहा है। क्योंकि पूरा ज्ञान आत्मा है अतः वह श्रुतकेवली है। जो ज्ञान स्वरूप आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह आगम का पठन-पाठन करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता।

इस कलिकाल में ध्यान नहीं, ऐसा कहने वाले का निषेध करते हैं।

ध्यानं पुसियेंबवन ज्ञानि बहिर्मुखननंतसंसारियवं।
हीननातिकष्ट मुक्ति स्थानक्के विरुद्धनप्पवं बहिरात्मं ॥३८॥

अर्थ—इस कलिकाल में "ध्यान नहीं है" ऐसा कहने वाले अज्ञानी हैं, आत्मस्वरूप से वहिर्मुख हैं, अनन्त संसारी हैं, हीन है, कष्ट से जीवन को बिताने वाले हैं, मोक्ष स्थान के विरुद्ध होकर रहने वाले वहिरात्मा हैं ॥३८॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि इस कलिकाल में "ध्यान नहीं है" ऐसा कहने वाले महा नास्तिक हैं, मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मा, अनन्त आपत्ति को उठाने वाले, अपने जीवन को अति दुःख से बिताने वाले तथा दीर्घ संसारी हैं और पाप के योग से अनेक निंद्य पर्याय धारण करने वाले महापापी हैं ऐसा आचार्य ने कहा है। नागसेन मुनि ने ध्यान का समर्थन करते हुए अपनी तत्वसार टीका में लिखा है कि :—

संकाकंखागहिया विसयवसत्था सुमग्गयब्भट्ठा।
एवं भणंति केई णहु कालो होइ झाणस्स ॥

कितने ही मानव केवल शास्त्रों को जानकर व चर्चा वार्ता करके ही संतोष मान बैठते हैं। वे आत्मध्यान करने का पुरुषार्थ नहीं करते हैं। जब कोई कहता है कि आप आत्मध्यान क्यों नहीं करते, तब ऐसा कह देते हैं कि यह दुखमा पंचमकाल है; इसमें मोक्ष नहीं हो सकता है अतएव ध्यान नहीं बन सकता है। ऐसा कहने वाले प्रमादी मानव वैसे ही हैं जिनको रत्नत्रयमई धर्म का पूर्ण श्रद्धान नहीं हुआ है, जिनके भीतर आत्मा तथा परमात्मा के अस्तित्व में भीतर से शंका है, या जिनके भीतर से विषय सुख की आकांक्षा या तृष्णा नहीं मिटी है, जो आत्मसुख में श्रद्धा नहीं रखते हैं, विषय सुख को ही ग्रहणयोग्य माने हुए हैं तथा जो विषय-भोगों की सुन्दर सामग्री एकत्र करते रहे हैं व विषयभोगों में, खाने पहनने आदि में लीन रहते हैं।

वास्तव में ऐसे मानव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं। वे ऊपर से अपने को धर्मात्मा मान बैठते हैं या "हम तत्वज्ञानी हैं" ऐसा अहंकार रखते हैं, परन्तु वे वास्तव में तत्वज्ञान से शून्य केवल विषयासक्त प्रमादी हैं। जिसको सम्यग्दर्शन का लाभ होगा, वह सदा ही स्वानुभव का प्रेमी रहेगा। और गृहस्थावस्था में भी जब अवसर मिलेगा तब स्वानुभव के लाभ के लिए आत्मा का ध्यान करेगा। इस काल में भी इस काल के योग्य ध्यान हो सकता है। प्रमाद, कार्य की सिद्धि का विरोधी है। विषयभोगों की आसक्ति ध्यान में बाधक है। जो सच्चा सम्यक्त्वी होगा, वह निःशंकित व निःकांक्षित अंग का पालन करने वाला होगा। वह आत्मा की प्रभावना करने का उद्योगी होगा। अतएव वह कभी ऐसा वचन कहकर अपने को व दूसरों को धोखा नहीं देगा।

तत्वानुशासन में श्री नागसेन मुनि ने कहा है—

ये आहुर्नहि कालो ऽ यं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।
तेऽर्हन्म..नभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥८२॥

जो ऐसा कहते हैं कि यह काल ध्यान करने योग्य नहीं है, वे अपने कथन से प्रकट करते हैं कि वे श्री जिनेन्द्र के मत को नहीं जानते हैं।

धर्म ध्यान हो सकता है :—

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं ।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहिं णिव्वाणं ॥

आज भी इस पंचमकाल में मध्य लोकवासी मानव आत्मा का ध्यान कर स्वर्गलोक को जा सकते हैं। इस पंचमकाल में तीन शुभ संहनन नहीं हैं। अर्थात् मानवों की हड्डी वज्रवृषभ नाराच, वज्र नाराच, नाराच संहनन रूप नहीं हैं। तीन उत्तम संहननधारी ही श्रेणी पर चढ़कर आठवें गुणस्थान से ऊपर जा सकते हैं। आजकल तीन हीन संहनन है। इसलिए सातवें गुणस्थान तक सम्भव है। अप्रमत्त गुणस्थान तक पूर्ण धर्मध्यान है। आगे शुक्ल ध्यान है। सो आजकल नहीं है। धर्मध्यान में आत्मा का ध्यान भली प्रकार किया जा सकता है। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान से धर्म ध्यान या आत्म ध्यान हो सकता है। इस धर्म ध्यान में शुभोपयोग मंद कषाय के उदय से होता है। इससे विशेष पुण्य का बंध हो सकता है और यह जीव स्वर्ग में उत्तम देव हो सकता है। वहाँ से चौथे काल में उत्पन्न होकर मानव भाव से तप साधन कर कर्म का क्षय कर निर्वाण का लाभ कर सकता है।

इसलिए आज भी परम्परया निर्वाण का भाजन वही होगा जो निश्चिन्त होकर आत्म ध्यान का अभ्यास करेगा। अतएव प्रमाद को दूर कर निर्विकल्प तत्व जो निज शुद्ध आत्मा है उसको शुद्ध निश्चयनय के द्वारा लक्ष्य में लेकर उपयोग को भावना के द्वारा स्थिर करनें का या स्वानुभव के लाभ का यत्न करना जरूरी है। जिससे स्वात्मानन्द का लाभ हो सके। सम्यक्त्वी कभी भी प्रमादी नहीं होता है, वह सदा निज सुख के स्वाद का प्रयत्न करता रहता है। श्री नागसेन मुनि भी कहते हैं :—

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम् ॥८३॥

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तन्निषेधकं ॥८४॥

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागरपारगाः ।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ।।८५।।

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति ।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ।।८६।।

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं ।
धारणासौष्ठवाद्ध्यान-प्रत्ययानपि पश्यति ।।८७।।

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि ।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्त्तिनाम् ।।८८।।

श्री जिनेन्द्र ने इस पंचम काल में यहां केवल शुक्ल ध्यान का अभाव बताया है। उपशम-क्षपक श्रेणियों के नीचे रहने वालों को धर्म ध्यान का होना निषेध नहीं किया है। वज्रकायधारियों को ध्यान होता है, ऐसा आगम में कहा है। वह वज्रकायधारियों की अपेक्षा से कहा है। नीचे के तीन संहनन वालों की अपेक्षा से नहीं कहा है। यद्यपि आजकल श्रुतकेवली के समान आत्मा के ध्याता मुनि नहीं हो सकते, तो भी क्या अल्प श्रुत के ज्ञाताओं को अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान न करना चाहिए ? अवश्य ही करना चाहिए।

यद्यपि आजकल यथाख्यात चारित्र के आचरण करने वाले नहीं हो सकते, तो क्या दूसरे तपस्वियों को यथाशक्ति चारित्र नहीं पालना चाहिए ? अवश्य पालना चाहिए। जो कोई साधक के उपदेश से भली प्रकार आत्म ध्यान का अभ्यास निरन्तर करता रहेगा और उसकी धारणा उत्तम हो जायेगी तो वह अनेक चमत्कारों को भी देख सकेगा।

जैसे बड़े बड़े शास्त्र भी अभ्यास के बल से बुद्धि से समझे जाते हैं, वैसे ही अभ्यास करने वालों का ध्यान भी स्थिर हो जाता है।

इसलिए पुरुषार्थ करके आत्म ध्यान का अभ्यास निरन्तर करना योग्य है।

आत्म ध्यान की प्रेरणा :—

तम्हा अब्भसउ सया मुत्तूणं रायदोसवा मोहो ।
झायउ णियअप्पाणं जइ इच्छइ सासयं सुक्खं ।।

इस काल में भले प्रकार धर्म ध्यान हो सकता है ऐसा निश्चय करके हर एक श्रद्धावान गृहस्थ या साधु को, नर या नारी को उचित है कि अपनी ही

आत्मा के भीतर बिराजमान जो सच्चा आत्मिक अविनाशी सुख है उसका स्वाद लेने का उत्साह करे। परम धर्मानुरागी होकर अपने ही शुद्धात्मा को और उपयोग को स्थिर करने का या स्वानुभव करने का अभ्यास करे।। आत्मा के ध्यान की प्राप्ति के लिए ज्ञान व वैराग्य की जरूरत है। आत्मा व अनात्मा का सच्चा भेद विज्ञान होकर यह सम्यग्ज्ञान होना चाहिए कि मैं आत्म द्रव्य हूं, सबसे भिन्न एकाकी हूँ, अपने ज्ञान आनन्द आदि गुणों का अखण्ड पिंड हूं। रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म से मैं भिन्न हूं, सिद्ध के समान शुद्ध हूँ।

वैराग्य यह होना चाहिए कि मुझे सिवाय निर्वाण के और किसी क्षणिक पद की, इन्द्र चक्रवर्ती आदि पद की लालसा नहीं है। संसार-शरीर-भोगों से पूर्ण वैराग्य भाव होना चाहिए। जब पर को पर जान लिया तब पर से ज्ञानी को राग कैसे हो सकता है? ज्ञानी निज आत्मा के दुर्ग को ही अपना निवास स्थान व उत्तम ठिकाना जानता है। यह ज्ञान वैराग्य गृहस्थ अविरत सम्यक्त्वी में भी होता है। वह घर में जल में कमल के समान अलिप्त रहता है। कषायों के उदय को रोग जानकर आत्म बल की कमी से गृहस्थ के न्यायपूर्वक भोगों को भोगता है, परन्तु लक्ष्य आत्मानन्द के भोग का बना रहता है। जैसे कोई छात्र विद्या पढ़ना नहीं चाहता हो, क्रीड़ा का रुचिवान हो तथापि माता पिता के दबाव से विद्या पढ़ता हो, परीक्षा में उत्तीर्ण होता हो। उसी तरह सम्यक्त्वी आत्मा के भीतर रहने का प्रेमी होता है, तो भी कषाय के वश में होने से रुचि न होने पर भी उसे गृहस्थ के सब काम उत्तम प्रकार से करने पड़ते हैं। जैसे बालक अवसर पाते ही खेल में लग जाता है क्योंकि पढ़ने की अपेक्षा खेलने की उसे गाढ़ रुचि है, उसी तरह सम्यक्त्वी अवसर पाते ही आत्मा के ध्यान के अभ्यास में लग जाता है।

प्राणी को रागद्वेष मोह को त्यागने की जरूरत है। उसको व्यवहार नय को गौण करके निश्चय नय की मुख्यता से देखने का अभ्यास करना योग्य है। इस निश्चय दृष्टि में सर्व ही सिद्ध व संसारी जीव एक समान शुद्ध द्रव्य दिखलाई पड़ेंगे। तब रागद्वेष मोह कोई निमित्त ही नहीं रहेगा। समभाव का अभ्यास रखना ही ध्यान का साधन है। दुःख व सुख के कारण मिलने पर भी ध्यानी को कर्मों का उदय विचार कर समभावी रहना योग्य है।

पापी को परमात्म ध्यान नहीं सकता है: —

पापिष्ठनहंकारि कुरूपि कृतघ्नं विवेक विकलं चपलं ।।
कोपियाविचारि येनिसिर्पा पुरुषं ब्रह्मदल्लि निल्लनमोघं ।।३९।।

पापिष्ठ, अहंकारी, कुरूपी, कृतघ्न, विवेकहीन, क्रोधी, अविचारी अर्थात् विचारशून्य आदि पुरुष को बहिरात्मा समझना चाहिए। ऐसा महा पापी दुराचारी मिथ्यादृष्टि परमात्मा का स्वरूप स्थिर कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है। यह भगवान जिनेन्द्र देव का वचन है यह वचन कभी भी असत्य नहीं हो सकता है।

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह समझाया है कि अत्यन्त पापी अहंकारी कुरूपी कृतघ्न विवेकहीन दुराचारी कषाय से युक्त क्रोधी आदि पापी पुरुष को आत्म ध्यान नहीं हो सकता, ऐसा पूर्वाचार्यो ने कहा है। वहिरात्मा को ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। वहिरात्मा अपने शरीर और शरीर सम्बन्धी पर वस्तु को ही अपनी आत्मा मानता है। और अनेक प्रकार के पाप करता है, दुराचार करता है, सद्धर्म-सत्य शास्त्र और सच्चे गुरु की निंदा करता है। अपने द्वारा ग्रहण किये हुए खोटे मार्ग को ही सुमार्ग समझता है। और एकान्तवाद की पुष्टि करता है, धर्मात्मा लोगों का तिरस्कार करता है। सदा खोटे ध्यान में लीन रहता है, धर्म-कर्म को नहीं समझता है, उसका मन हमेशा पाप मार्ग में ही भ्रमण करता है। कहा भी है कि—

> वपुष्यात्ममतिः सूते बंधुवित्तादिकल्पनम् ।
> स्वस्य संपदमेतेन मन्वानं मुषितं जगत् ॥

शरीर में जो आत्म बुद्धि है सो वन्धु धन इत्यादिक की कल्पना उत्पन्न करती है तथा इस कल्पना से ही जगत को अपनी संपदा मानता हुआ ठगा गया है।

हे योगी। तू दुर्ध्यान तथा विषय कषाय को छोड़ कर अपनी अन्तरात्मा के सम्मुख हो जा। जब तक विषयवासना से विमुख होकर आत्म सम्मुख न होगा तव तक अपने निज शुद्ध परम वीतराग आत्मानन्द का अनुभव नहीं कर सकता। विषय कषाय के फन्दे में फंसकर तूने ज्ञान शून्य होकर संसार में परिभ्रमण किया। अव तू अपने मन में समझले। और बाह्य परिणति को छोड़कर अन्तर्मुख बन। कहा भी है कि—

> आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं ।
> स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ॥
> आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः ।
> स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥

अरे जीव ! तू अपना नाश करने वाले निंद्य आत्म चरित्रों को धारण करके दुष्ट या नीच जन बन रहा है । तुझे अपने स्वरूप का कुछ पता ही नहीं रहा कि मैं कौन और कैसे हूं ? अब तू अपना कर्म ऐसा पवित्र कर जिससे आत्मा सुखी हो और तुझे अपनी पहिचान हो, जिससे कि बहिरात्मा से अंतरात्मा बन जाय । जब तू ऐसा पवित्र हो जायगा तो तेरा अनन्त सुखकारी केवलज्ञान गुण अपने आप प्रगट होगा और उस समय सहज में ही तू आत्मा की परम पवित्र दशा को प्राप्त हो जायगा, जिसे कि परमात्मपद कहते हैं । उस समय अवश्य आत्मीय परम सुख प्रगट होगा, जो कि किसी के पराधीन नहीं है, किन्तु अपने ही आधीन जिसकी उत्पत्ति है । उसी समय तू असली शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ अपने आप में मग्न होकर अत्यन्त सुख तथा पवित्र ज्ञान के साथ प्रकाशित होता हुआ दिखाई देगा । परन्तु यह सब आनन्द तब तक नहीं मिल सकता, जब तक कि तू अपने शरीर से प्रीति कर रहा है । शरीर छूट जाने पर ही ऐसा परम पवित्र सिद्ध स्वरूप प्रगट होता है । शरीर उस दशा को कभी प्राप्त नहीं होने देता और शरीर से जब तक प्रीति लग रही है तक तक शरीर कैसे छूट सकेगा ?

समय मत चूको । देखो:—

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित-
स्ततो ऽ नशनसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः ।
क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं,
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम् ।।

इसी शरीर ने पहिले चिरकाल पर्यन्त तुझे इस संसार में सेवक के तुल्य बनाकर भ्रमाया है । क्या तुझे यह बात याद नहीं आती ? जब इसने तुझे इतना कष्ट दिया है तो तू भी इससे आज पूरा पूरा बदला निकाल ले । आज यह तेरे हाथ में आ चुका है । जब तक इसका नाश न हो तब तक तू इसे खूब क्षीण कर अथवा तू इसे इस तरह कष्ट दे कि जिससे नष्ट न होकर यह कृश होता रहे किन्तु अपने से बलवान न हो सके । यदि यह बलवान हुआ तो फिर इन्द्रिय तथा मन के द्वारा तुझे विषय कीच में फंसा देगा, जिससे कि तुझे चिरकाल तक इसके आधीन रहना पड़ेगा ।

इसलिए हे योगी ! तू इस बाह्य विषय वासना से मुख मोड़कर अपनी अंतरात्मा बन जा ।

अब आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन् ! ज्ञान योगी के हृदय में ही रहता

है, उन्हीं को उसका अनुभव होता है। तथा सुख और शान्ति का अनुभव वे ही करते हैं।

ज्ञानिगळ्हृदयदोळ् सले तानिर्कुमनंत सौख्यमयमदु शुद्ध ।
ज्ञानमदु ज्ञातमाग ल्ता नेय्दु गुमखिल सुख मनल्ल दोडिल्लं ।।४०।।

अर्थ—ज्ञानी के हृदय में अनन्तसुखमय अत्यन्त सुन्दर निर्मल परम विशुद्ध ज्ञान हमेशा सुख सागर के रूप में स्थिर है। स्वानुभव से वह सुख उनको प्राप्त होता है। अगर वह योगी स्व और पर का ज्ञान करके अपने अन्दर देखेगा तो वह सम्पूर्ण सुख को प्राप्त कर सकता है। अगर बाह्य विषय या वहिरात्मा के रूप में परिभ्रमण करेगा तो वह कभी भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता है।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि वह सुख अनन्त गुण के धारक विशुद्ध आत्म ज्ञानी के हृदय में हमेशा वास करता है। बिना ज्ञानी के वह सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अगर वह ज्ञानी अपनी आत्मा के द्वारा देखेगा तो अनन्त सुख को प्राप्त हो सकता है। अगर वह अपने ज्ञान से विमुख होकर विषय सुख के सम्मुख होगा तो उस सुख की प्राप्ति करोड़ वर्षो तक कठिन तप करने पर भी नहीं हो सकती है। क्योंकि बाह्य तप करने वाले बहुत से मुनिराज संसार में परिभ्रमण करते रहे और अन्त में इंद्रिय विषय में लालायित होकर अपने आत्म सुख से वंचित रहे। अन्त में निदान बन्ध करके दीर्घ संसारी बन गये। ज्ञान और तपश्चर्या का फल तभी प्राप्त हो सकता है जब लोक व्यवहार की इच्छा छोड़ दे। क्योंकि जिस आत्मा ने सम्पूर्ण शास्त्रों का अभ्यास किया और बहुत समय तक बड़े बड़े ग्रन्थ-पढ़े परन्तु यदि शास्त्र ज्ञान का और घोर तपों का फल वह ऐसा चाहने लगे कि इससे अनेक सुखों की सामग्री प्राप्त हो तथा लोगों में मेरा आदर बढ़ जाय तो कहना चाहिये कि तेरा हृदय तत्व ज्ञान से वंचित ही रहा। तू उस सुन्दर वृक्ष के फल न चाह कर केवल फूलों की कच्ची कलियों को तोड़ डालना चाहता है। इसलिए अरे मूर्ख ! ऐसा करने से तुझे इसका असली फल कैसे मिल सकता है। इसलिए हे योगी। अगर असली मोक्ष फल की इच्छा करता है तो तुझे लोकव्यवहार की वाँछा छोड़नी ही पड़ेगी। कहा भी है कि—

तथाश्रुतमधीत्य शश्वदिह लोकपङ्क्तिं बिना ।
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ।।

कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान् ।
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥

लोक व्यवहार व वंचना छोड दे। लोक तो अज्ञानी हैं और तू विवेकी कहलाता है। यदि अब भी तुझसे वंचना व विषयाभिलाषा नहीं छुटी तो तेरे विवेक व तप को धिक्कार हो। अब तो तू ऐसी तरह शास्त्र ज्ञान उत्पन्न कर और शरीर को भी तपश्चरण द्वारा ऐसा कृश कर जिससे कषाय कृश हो सकें व विषयों की तरफ से इंद्रियों की इच्छा हट सके। कषाय विषय बड़े ही दुर्जेय हैं। इनका जीतना सहज नहीं है। इनको वही जीत सकता है जो अपना सारा समय शास्त्राध्ययन में विताता हो, तपश्चरण करता हो व शास्त्र मर्यादा का विचार करता हो। यदि कोई मिथ्या, अप्रसिद्ध तपों को करने भी लग जाय तो भी उससे अभिमान बढ़ जाता है, जिससे कि उल्टा पाप ही संचित होता है यदि ऐसा हुआ तो तप व श्रुत दोनों व्यर्थ हैं। साधुओं ने तप व शास्त्र ज्ञान का सच्चा फल यही बताया है कि विषयों से वैराग्य हो और क्षोभ का उद्वेग घट जाये।

इसीलिए ज्ञानी योगी हमेशा बाह्य तत्व का विचार करके और होने वाले संकल्प विकल्प को हटा करके शुद्ध अविकल्प तत्व का अनुभव करता है। उसके अन्दर यह ज्ञान रहता है कि आत्मा हमेशा जैसी है वैसी ही दिखलाई देती है और हमेशा आनन्द को उत्पन्न करने वाली वस्तु उत्पन्न करती है। वह हमेशा सुख सागर में मग्न रहती है। कहा भी है कि —

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पणितं च दंसणं णाणं ।
चरणंपि तं च भणियं सा सुद्ध चेयणा अहवा ॥

जब अविकल्प भेद रहित सामान्य एकाकार अपनी आत्मा के स्वभाव में शुद्ध नय के द्वारा आत्मा के स्वरूप की भावना करते करते थिरता प्राप्त हो जाती है तब उसे ही आत्मिक भाव या स्वानुभव कहते हैं इसी स्वानुभव के क्षण में ही साक्षात् निश्चय मोक्ष मार्ग है। क्योंकि उस समय प्रचुर कर्मों का संवर है व बहुत कर्मों की निर्जरा हैं। मैं शुद्धात्मा हूं, यही प्रतीति सम्यग्दर्शन है। मैं शुद्धात्मा हूं, यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, मैं शुद्धात्मा हूं इस भाव में थिरता सम्यक्-चारित्र है। उसी स्वानुभव के समय अपने शुद्ध ज्ञान का वेदना है। इसलिए ज्ञान चेतना है। कर्मचेतना व कर्मफल चेतना नहीं है। न वहां रागद्वेषमयी कर्म करने का अनुभव है, न वहां सांसारिक सुख व दुःख का अनुभव है। इस स्वसंवेदन रूप स्वानुभव के भीतर अपनी ही आत्मा का उपभोग है। जिससे आत्मीय सुख का लाभ होता है। इष्टोपदेश में श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं: —

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥
आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिःदुःखेष्वचेलनः ॥

जो योगी व्यवहार से वाहर जाकर केवल अभेद एक रूप अपने आत्मा के स्वरूप में ठहर जाता है, उस योगी को स्वात्म ध्यान के बल से कोई अद्भुत परमानन्द प्राप्त होता है। यही आनन्द का अनुभव वीतरागमई ध्यान की अग्नि है, जो निरन्तर जलती हुई वहुत अधिक कर्मों के ईंधन को जलाती है। उस समय वाहरी परीक्षा या उपसर्ग भी पड़े तो वह ध्यान मग्न योगी अनुभव नहीं करता है तव उसे कोई क्लेश नहीं होता है। अतएव अविकल्प स्वतत्व ही सार उपादेय है, प्राप्त करने योग्य है।

अज्ञानी वहिरात्मा जीव अन्तरंग में अन्तरात्मा की जान पहिचान न होने के कारण वाह्य वस्तुओं में ही अपने स्वरूप को देखना चाहता है—

अज्ञानी जीव रेत में से तेल निकालने की इच्छा करता है—

नोडिरे मल्लं पिळियल् कूडदु तां तैलमंते सम्यक्त्वदोळं ।
कूडद मुनिपन तपमदु कूडदु तां मुक्तिगें दनध्यात्म विदूं ॥४१॥

अर्थ—कितने आश्चर्य की बात है, देखो अज्ञानी वहिरात्मा जीव पास ही भरी हुई निधि होते हुए उसको न जान कर वाह्य वस्तु में ढूंढ़ता फिरता है। आचार्य कहते हैं जैसे मूर्ख मनुष्य रेत को पेल कर तेल निकालने की इच्छा करता है। तेल निकाल करके फेंकी हुई खली को पुनः पुन पेल कर तेल की इच्छा करता है परन्तु जिन्दगी भर उसको पेरते रहे तो भी तेल की एक वून्द उसको कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसी तरह सम्यक्त्व रहित योगी वाह्य विषय में परिरत हो करके अपने सुख और शान्ति को प्राप्त करना चाहता है। अशान्ति से कभी शान्ति प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं। इसलिए जब तक सम्यक्त्व सहित तप नहीं, विचार नहीं, आचार नहीं, ध्यान नहीं, क्रिया नहीं, तव तक उस जीव को अध्यात्म की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञानी स्व पर का जानकार होकर शीघ्र ही कर्म को क्षय करके विशुद्ध आत्म सुख की प्राप्ति करता है। अज्ञानी लाखों करोड़ों वर्ष वाह्य तप करके उसी पंचेन्द्रिय विषय को पुष्ट करने वाले और अन्त में पाप मार्ग में ले जाने वाले ऐसे क्षणिक इन्द्रिय विषय को पुनः पुनः प्राप्त कर इसके निमित्त वार वार इस संसार रूपी महान सागर में डूबते

हुए अनेक प्रकार के दुःख उठाता रहता है । इसलिए आत्म ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ ४१ ॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि सम्यक्ज्ञान रहित तप संसार के लिए कारण होता है। सम्यग्ज्ञान जब तक न हो तब तक इन्द्रियों के द्वारा किये जाने वाले जितने भी भाव तप या कठिन कठिन क्रिया काण्ड हैं ये सभी संसार के लिए कारण बन जाते हैं। जैसे बकरी के गले में अजागल स्तन को देखकर मूर्ख स्तन की भांति दूध निकालने की चेष्टा करता है इसी तरह अज्ञानी बहिरात्मा सांसारिक निःसार क्षणिक वस्तु में सच्चा सुख देने वाले आत्मसुख की प्राप्ति करना चाहता है। इसलिए इनका प्रयास और पुरुषार्थ, तपश्चर्या आदि जितनी भी तपश्चर्या की साधन वस्तु है वे सभी आत्म सुख के लिए निमित्त कारण नहीं होती हैं। बहुत से योगी अपने आत्म सुख के साधन को प्राप्त करते हुए भी जब तक सम्यग्ज्ञान सहित मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को प्राप्त नहीं करते तब तक उनके द्वारा किया हुआ सारा बाह्य तप आदि सामग्री व्यर्थ हो जाती है। इसलिए योगी ! सम्यग्ज्ञान सहित तप का अनुष्ठान करके शुद्धात्म निज स्वभाव की प्राप्ति का उपाय करो। अर्थात् भाव लिंगी बन। बिना भाव के केवल द्रव्य से कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती है। द्रव्य और भाव जब दोनों होंगे तब कर्म की निर्जरा हो सकती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़में कहा भी है कि—

पयडहि जिणवरलिंगं अभिंतरभावदोसपरिसुद्धो ।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई ॥७०॥

हे आत्मन् ! तू आभ्यन्तर भावों के दोष से निकल कर अत्यन्त शुद्ध ऐसा भगवान जिनेश्वर का लिंग धारण कर तब उसके साथ साथ भाव भी शुद्ध कर। भाव शुद्धि के बिना द्रव्य लिंग बिगड़ जायेगा। जो आत्म भाव से मलिन है वह परिग्रह मे भी मलिन होता है।

इसलिए ग्रन्थकार ने कहा है कि भाव रहित नग्न योगी इष्ट स्थान को प्राप्त नही करता।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छुफुल्लुसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥

धर्म का अर्थ वस्तु का स्वभाव है अर्थात् अपना स्वभाव है। या दश लक्षण स्वरूप जो दश प्रकार का धर्म है उसमें जिसका वास नहीं है वह जीव दोष का भागी कहलाता है। जिसमें दोप है वह इक्षु के फूल के समान है । उसमें किसी

प्रकार का फल नहीं है, गन्ध नहीं है, गुण नहीं है। इसी प्रकार केवल द्रव्यलिंग भाव लिंग से रहित होने के कारण निस्सार समझा जाता है। अर्थात् जिनके धर्म में वासना नहीं है और जो क्रोधादि कषाय दोष से मलिन है वह योगी इक्षु (गन्ने) के फूल के समान निर्गुण तथा नि:फल है। ऐसे मुनि को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। सम्यग्ज्ञान आदि गुण जिसमें नहीं हैं तब उसकी नग्न अवस्था भाण्ड का स्वांग दिखाई देती है। इसलिए जैसे भाण्ड नाचे इस प्रकार शृङ्गार आदि सहित अनेक वाह्य तप करके अपना ही लोक और परलोक बिगाड़ लेता है। इसलिए सम्यक्त्व सहित तपश्चर्या हमेशा कर्म क्षेत्र की निर्जरा का कारण होती है। इसलिए हे योगी! तू वाह्याभ्यन्तर तप के साथ आत्मा को निर्मल बनाने के लिए हमेशा प्रयत्न कर। यही आशय है। बहुत से लोग विना सम्यग्ज्ञान अनेक प्रकार का क्रिया काण्ड करते हुए अपने को सम्यक्त्वी घोषित करके और गृहस्थावस्था में क्रिया काण्ड का बिल्कुल लोप करके एकान्त वादी वन जाते हैं। सचमुच में उनका क्रिया काण्ड और उनकी एकान्त भावना ऐसी है मानो वे आकाश के फूल को तोड़ना चाहते हैं और बालू में से तेल निकालने की चेष्टा करते हैं। ऐसा समझना चाहिए।

हे योगी! शुद्ध भाव स्वर्ग और मोक्ष का कारण है और मलिन भाव संसार का कारण है। कहा भी है कि—

भावो वि दिव्वसिवसुक्ख भायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममललिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो॥

भाव वही है जो मोक्ष के लिए कारण है। भाव रहित है वह पाप स्वरूप है और तिर्यञ्च गति के स्थान को प्राप्त कराने वाला है ऐसे व्यक्ति का चित्त हमेशा कर्म मल से मलिन है। इसलिए उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

विशुद्ध भाव के महत्व को कहते हैं—

भगवान जिनेन्द्र देव ने तीन प्रकार का भाव कहा है—शुभ, अशुभ तथा शुद्ध। उसमें अशुभ जो है आर्त-रौद्र ध्यान है और शुभ जो है वह धर्म ध्यान है। शुद्ध भाव जो है अपना शुद्ध स्वभाव आप में है। ऐसा जानना चाहिए। जिनको कल्याण करना है वह शुद्ध भाव की हमेशा भावना करे। इसलिए योगी के लिए सम्वोधन देकर कहते हैं कि हे योगी! हे मुनीश्वर! हे मुनिश्रेष्ठ! तू बारह प्रकार के तप का आचरण कर। तेरह प्रकार की क्रिया मन वचन काय से कर और ज्ञान रूप अंकुश से मन रूपी हाथी को वश में कर। भावार्थ यह है कि यह मन रूपी हाथी मदोन्मत्त है इसलिए उसको तपश्चरण क्रिया सहित ज्ञान रूपी अंकुश से वश में करो। जब तक ज्ञान रूपी अंकुश उसको न लगेगा तब

तक वह वश में नहीं होगा। ऐसे श्रीगुरु का उपदेश है। जो तपश्चरण क्रियादिक सहित ज्ञान रूप अंकुश से वश में करता है और इधर उधर हिलने नहीं देता है वह उसको स्थिर करने के लिए हमेशा बारह प्रकार के तप का अनुसरण करता है। अनशन, अवमौदर्य, विप्रसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, काय क्लेश ये छः प्रकार के बाह्य तप हैं। पुनः प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। इनका स्वरूप तत्वार्थ सूत्र में कहा है, इनका मनन करना चाहिए। इसके साथ साथ तेरह प्रकार की क्रिया हैं। ये सभी भाव शुद्ध करने के निमित्त कारण हैं। इसलिए हे योगी ! इस कारण को लेकर आत्मा का श्रद्धान कर। और इसी श्रद्धान के साधन से या प्रयत्न से तू मोक्ष की प्राप्ति करेगा। क्योंकि आत्मा का धर्म ही मोक्ष है। इसलिए हे भव्य जीव ! तू आत्मा को प्रयत्न से सर्व प्रकार उद्यम करके यथार्थ जान। पुनः उस आत्मा के प्रति श्रद्धान रख। प्रेम रख। मन वचन काय से आचरण कर। इसके द्वारा तुझे मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र होगी।

भाव अशुद्ध रहने के कारण इस आत्मा को हमेशा संसार में परिभ्रमण करना पड़ा। उदाहरणार्थ—भाव हिंसा और अशुद्ध भाव के कारण तन्दुल मत्स्य सातवें नरक में चला गया यह कथा बहुत प्रसिद्ध है। तन्दुलमत्स्य जैसा छोटा जीव भी भाव हिंसा के कारण सातवें नरक में चला गया। फिर आचार्य कहते है कि बड़ा जीव हिंसा के निमित्त से नरक जायें इसमें कौन से आश्चर्य की बात है। इसलिए यहाँ भाव की शुद्धि का उपदेश है। जब तक भाव शुद्ध न होगा तब तक स्व पर का स्वरूप नहीं जान सकता है और अपना और पर के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है।

तन्दुलमत्स्य की कथा इस प्रकार है। काकन्दीपुर का राजा सूरसेन था। वह मांस भक्षी था। वह रसोइये के द्वारा अनेक जीवों का मांस निरन्तर भक्षण करता था। एक दिन रात को रसोइया को सर्प ने काटा वह मर कर स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हुआ और राजा सूरसेन भी मर करके उस महामच्छ के कान में तन्दुलमत्स्य हुआ। वहाँ महामच्छ के मुख में अनेक प्रकार के जीव आते जाते थे। तब तन्दुलमत्स्य ने उसको देख करके मन में विचार किया— यह तो बहुत ही भाग्यहीन है। क्योंकि यह अपने मुख में बिना प्रयत्न के आये हुए जीवों का भक्षण नहीं करता है। अगर मेरा शरीर इतना बड़ा होता तो मैं इस समुद्र के सब जीवों को खा जाता। ऐसी भावना करके वह जीव सातवें नरक में चला गया। और महामत्स्य जो हमेशा जीव भक्षण करने वाला था वह नरक तो जाता ही है। इसलिए अशुद्ध भाव सहित पाप करना नरक का ही कारण है। इसलिए भाव में जो अशुद्ध ध्यान है वह छोड़ करके शुद्ध ध्यान करना योग्य है।

सारांश यह है कि पहले राजा ने राज्य पद पाया, वह पूर्व पुण्य का फल था। पुनः कुभाव होने के कारण नरक जाना पड़ा। इसलिए आचार्य ने सम्यग्दर्शन सहित भाव शुद्धि का उपदेश दिया है।

तन्नं तां तन्निंदं तन्नत्तणिनरिदु लाने तन्नयरूपं।
तन्नोळळवर्डिसि भाविसे तन्न सुखं ताने तनगे तन्निनंदक्कुं ॥४२॥

अर्थ—आप अपने को, अपने द्वारा, अपने लिए, अपने रूप को, आप ही जान कर, अपने में लीन होकर, भावना करने से अपना सुख अपने को अपने द्वारा ही प्राप्त होता है। वह सुख पर पदार्थ में नहीं है। वह सुख अपनी आत्मा के अन्दर ही है और वही आत्मा का गुण है। ऐसी भावना करने से वह अपने अन्दर ही अभिव्यक्त होता है ऐसा समझना चाहिए।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि योगी जिस निजरूप आत्म सुख को ढूंढ़ रहा है वह सुख अपने अन्दर ही मौजूद है। तू मूढ़ बन कर बाह्य पर पदार्थ में क्यों ढूंढ़ता है? उसे अपने अन्दर ही ढूंढ़ना चाहिये और वह अपने अन्दर ही मिलेगा। वह अन्य स्थान में नहीं है और दूसरों के द्वारा प्राप्त भी नहीं होगा। वह सुख अपवे अन्दर है और वह अपने द्वारा ही मिलेगा।

हे योगी! सबसे पहले खोटे इंद्रिय जन्य विषय भोगादि पर पदार्थ का ध्यान छोड़कर, एकाग्रतापूर्वक अपने अन्दर ही आपको देख। बाहरी चिन्ता को रोक और निश्चिन्त होकर अपने मन की समस्त चिन्ताओं को छोड़कर परम पद का ध्यान कर और निरंजन देव को देख!

हे हंस! देखे, सुने और भोगे हुए भोगों की वांछारूप खोटे ध्यान आदि सब चिन्ताओं को छोड़कर निश्चिन्त होकर अपने चित्त को परमात्म स्वरूप में स्थिर कर। उसके बाद भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नो कर्म रूप अंजन से रहित जो निरंजन देव परम वीतराग आराधने योग्य अपनी शुद्धात्मा है उसका ध्यान कर।

हे योगी! तू शीघ्र ही अपनी शुद्धता को अपने अन्दर देखना चाहे तो मन वचन, काय रूप त्रिकरणशुद्धिपूर्वक अपध्यान को छोड़। यह अपध्यान महा पाप मय दुर्गति के लिए कारण है। इसलिए इसको शीघ्र छोड़ कर शुद्ध भाव धारण करो। अपध्यान कौन सा है उसकी विवेचना इस प्रकार है।

निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिन शासन में उसको अपध्यान कहते हैं, जो द्वेष से पर के मारने का अथवा छेदन का चिन्तवन करें, और रागभाव से पर स्त्री आदि का चिन्तवन करें। उस ध्यान के दो भेद हैं। एक आर्त दूसरा रौद्र। वे दोनों ही नरक निगोद के कारण हैं। इसलिए विवेकियों को वे त्यागने योग्य हैं।

हे योगी ! इन विषयों को त्यागे विना तू अपनी आत्मा का अनुभव अपने अन्दर नहीं कर सकता। जैसे वादल के अन्दर छिपा हुआ सूरज का प्रकाश प्रगट नहीं होता है, उसी तरह रागद्वेषादि कपाय रूप से मिश्रित जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि आठों कर्मो के वादल से यह आत्मा पूर्ण रूप से आच्छादित होने से उसी कर्म के अनुसार आप भी परिणमनशील वन गया है। इसलिए वह आत्मा अनंतज्ञान गुण का भण्डार होते हुए भी उस आवरण के कारण, अपने आपको भूल बैठा है।

हे योगी ! इस तरह आत्मा को सेवन कर। तेरी आत्मा ही शिवरूप है। यह शिवरूप आत्मा अपने अन्दर ही है ऐसा समझकर पर को हटा और स्वभाव में रत हो जा।

शिव नाम कल्याण का है। अत: कल्याणरूपी ज्ञान स्वभाव निज शुद्धात्मा को जानो उसके तो दर्शन अनुभव से सुख होता है। वैसा सुख परमात्मा को छोड़ कर तीन लोक में भी नहीं है।

वह सुख क्या है ? वह सुख निर्विकल्प वीतराग परमात्म रूप शुद्धात्म भाव है। जो उसको पाता है वह सुखी है। वह सुख कैसे प्राप्त होता है। वह सुख तीन गुप्ति रूप परम समाधि में आरूढ़ हुआ ध्यानी पुरुष पाता है। अनन्त गुण रूप आत्म तत्व के विना वह सुख स्वर्ग लोक के स्वामी इन्द्रादिक को भी नहीं है। सारांश यह है कि शिवनाम वाली जो शुद्धात्मा है, वही रागद्वेष मोह को त्याग कर ही आकुलता विहीन परम सुख को देती है। सांसारिक जीवों के तो इन्द्रिय-जनित सुख हैं वे ही आकुलता रूप है। कहा भी है कि—

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमाहि न तातैं शिवमग लाग्यो चहिए॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग, सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो॥

जीव के लिए कल्याण सुख है वह सुख आकुलता रहित है जन्म आदि का संक्लेश-दु;ख मोक्ष में नहीं है। इसलिए मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता, मोक्ष का मार्ग है। एकमात्र सम्यग्दर्शन से अथवा सिर्फ ज्ञान या चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जैसे औषधि पर विश्वास रखना, उस औषधि के अनुपान आदि का ज्ञान करना और विधि अनुसार सेवन करना ये तीनों क्रियायें जव तक नहीं की जातीं तव तक रोगी नीरोग नहीं हो सकता। वह मार्ग दो प्रकार का समझना चाहिए। पहला

सत्यार्थरूप और दूसरा कारण । मुक्ति मार्ग यथार्थ स्वरूप है, परमार्थ मोक्ष मार्ग है और जो निश्चयनय का कारण है जिस से निश्चयनय की प्राप्ति होती है वह व्यवहार असत्यार्थ मोक्ष मार्ग है।

सांसारिक जीवों को जो इन्द्रिय जनित सुख है वह आकुलता रूप है और आत्मिक सुख आकुलता रहित है। वह सुख ध्यान से ही मिलता है। उसे दूसरा कोई शिव या ब्रह्मा या विष्णु नाम का पुरुष देने वाला नहीं है। आत्मा का नाम शिव है, विष्णु है, ब्रह्मा है। और दूसरा कोई नहीं है। यह सुख वाह्य और अन्तरंग से रहित, आत्मा की भावना से उत्पन्न हुआ है जो वीतराग है उसमें जो महामुनि सुख पाता है उस सुख को इन्द्रादिक भी नहीं पाते हैं। जगत में सुख की सामग्री और अन्य कोई नहीं है। महा मोह रूपी अग्नि से जलते हुए इस जगत में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च नारकी सभी दुःखी हैं और जिनका तन ही धन है, सब विषयों का सम्बन्ध जिन्होंने छोड़ दिया है ऐसे साधु-मुनि ही इस जगत में सुखी हैं। ऐसा समझकर हे योगी ! यदि सुख और शिव रूप ऐसे आत्मानन्द सुख सागर में मग्न होना चाहता है तो सम्पूर्ण पर पदार्थ को दूर करके अपनी आत्मा के अन्दर ही रमण कर।

परभाव हटाकर स्वभाव में आओ।

परभावं शरनिधियोळ् तेरेमालेगळते बर्कुमो भावनेयं।
वरलीयदे शुद्धात्मनं परभाविसे योगि मुक्ति पदमांपेडवै ॥४३॥

अर्थ—समुद्र में तरंग उठने के समान हृदय में जो पर भाव उत्पन्न होता है हे योगी ! उस भावना को जो आगे आने नहीं देते, शुद्धात्मा परिशुद्ध मन, वचन, काय से जो परिपूर्ण है वे शीघ्र ही मोक्ष स्थान को प्राप्त करेंगे।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि आत्मा के अन्दर पर परिणति के द्वारा आने वाले जो अशुद्ध कर्म परमाणु प्रवेश करके आत्मा के स्वभाव को चलायमान करता है उसको दूर करने के लिए निरन्तर शुभ भावना के द्वारा उसे रोक कर अपनी आत्मा को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक यह आत्मा पर द्रव्य से सम्बन्धित रहती है तब तक यह पर वस्तु के अनुसार परिणमन करती रहती है। उसी से रागद्वेष, मोहादि के कारण अनेक प्रकार के वाह्य कषाय प्रवेश कर आत्मा को चलायमान करते हैं। आत्मा को चलायमान करने वाले मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय और योग ये निमित्त कारण हैं। ये ही आत्मा को चलायमान करने के कारण हैं। इसी निमित्त से आत्मा पर द्रव्य के साथ परिणमन करती है।

आचार्य वतलाते हैं कि आत्मा को चलायमान करने के लिए पर वस्तु ही निमित्त कारण है। परन्तु निश्चयनय से विचार किया जाय तो आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्विकार अनन्त गुणों की धारक है। कहा भी है कि—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥

क्रिया रहित व निर्विकार चैतन्य ज्योतिरूप भाव से भिन्न मन, वचन, काय की वर्गणा के आलम्वन से व्यापार रूप हुआ प्रदेशों का हलनचलन लक्षणधारी योग है, जो वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से कर्मों को ग्रहण करता है। रागादि दोषों से रहित चैतन्य के प्रकाश की परिणति से भिन्न जो दर्शन मोह और चारित्र मोह से उत्पन्न हुआ भाव है वह रति, रागद्वेष मोह युक्त भाव है। यहाँ रति शव्द से अविनाभावी हास्य, व स्त्री, पुरुष, नपुंसक, वेदरूप नो कषाय को लेना व राग शब्द से माया व लोभ रूप राग परिणाम को लेना, द्वेष शव्द से क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप ऐसे छः प्रकार के द्वेषभाव को लेना तथा मोह शब्द से दर्शन मोह व मिथ्या दर्शन भाव को लेना योग्य है। इन भावों में स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं। यहां बंध का वाहरी कारण योग है क्योंकि इसी के कारण कर्मो का ग्रहण होकर प्रकृति तथा प्रदेश बंध होते हैं तथा कषाय भाव, अन्तरंग कारण है क्योंकि इसी कषाय भाव से कर्मों में स्थिति तथा अनुभाग पड़ते हैं जिससे वहुत काल तक कर्म पुद्गल आत्मा के साथ ठहर जाते हैं।

पुग्गलविवागदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जोवस्य जा दु सती कम्मागमकारणं जोगी ॥

मन, वचन, काय से युक्त इस जीव के भीतर पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से, जो कर्मों को खींचने में कारण शक्ति है उसको योग कहते हैं।

वास्तव में वही योग है जिससे कर्मो का आस्रव होता है तथा प्रकृति या प्रदेश बंध होता है। योगों के तीव्र परिणमन से अधिक कर्म वर्गणाएं आती हैं तथा मन्द परिणमन से कम आती हैं—वर्गणाओं की गणना को ही प्रदेश वंध कहते हैं।

श्री गोमटसार में कहा है—

उक्कडजोगो सण्णो पज्जत्तो पयडिबंधप्पदरो।
कुणदि पदसमुक्कस्स जहण्णये जाण विवरायं ॥२१०॥

भावार्थ—संज्ञी पर्याप्त जो कर्मों की प्रकृतियों को बांधने वाला है उसमें उत्कृष्ट योग होता है तथा असैनी अपर्याप्त जो बहुत प्रकृति बांधने वाला है उससे जघन्य प्रदेशबंध होता है।

आगे की गाथा से प्रगट होगा कि जहां वीर्यान्तिराय कर्मों के क्षयोपशम से वीर्य अधिक होता है, वहीं योग शक्ति अधिक कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करती है।

आउक्कस्सपदेसं छक्कं मोहस्स णुवणट्ठाणाणि।
सेसाणं तणुकसाओ बंधदि उक्कस जोगेण ॥२११॥

आयु कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध को छः गुण स्थान उल्लंघ अप्रमत्त गुणस्थानी करता है। मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश बंध को नवमा गुण स्थान अनिवृत्तिकरण धारी करता है तथा शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय इन छ. कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध दसवां गुणस्थानवर्ती करता है। यहा उत्कृष्ट योग होता है।

योगों में कषायों के उदय के निमित्त से जो विशेषता हो जाती है उसी विशेषता से सातवें गुणस्थान तक आठों कर्मों के योग्य, नवमे तक आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों के योग्य व दसवें में मोह को भी छोड़ कर मात्र छः कर्मों के योग्य कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है। जहाँ कषाय का उदय विल्कुल नही होता है वहाँ शुद्ध योगों से मात्र साता वेदनीय के ही योग्य कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है। आयु कर्म के योग्य वर्गणाओं का ग्रहण त्रिभाग आयु में ही संभव है। कषायों में जो शक्ति होती है उसी से ही कर्मों में स्थिति तथा अनुभाग पड़ते हैं। आयु कर्म को छोड़ कर सर्व ही पुण्य तथा पाप रूप कर्मों की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक तथा मंद कषाय से कम पड़ती है। आयु कर्म में देव, मनुष्य व तिर्यञ्च आयु की स्थिति मंद कषाय से अधिक व तीव्र से कम पड़ती है जबकि नरक आयु की स्थिति मंद-कषाय से कम व तीव्र से अधिक पड़ती है। गोमटसार कर्म कांड में कहा है—

सव्वट्ठिदीण मुक्कस्सओ दु उक्कस्स संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णे आउ गति य वज्जियाणं तु ॥१३४॥

तिर्यञ्च, मनुष्य व देवायु को छोड़कर एक सौ सत्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिवंध यथा सम्भव उत्कृष्ट संक्लेशभाव या तीव्र कषाय से होता है तथा जघन्य स्थितिबंध उससे विपरीत विशुद्ध भाव या मंदकषाय से होता है।

अनुभाग बंध में विशेषता यह है कि चार घातिया कर्म व अशुभ नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु, इन सर्व पाप कर्मों में कषायों की अधिकता से अधिक, कषायों

के मंद होने से कम अनुभाग बंध होगा तथा सातावेदनीय, शुभ आयु कर्मों में कषायों की मंदता स अधिक व कषायों की तीव्रता से कम अनुभाग वन्ध होगा। जैसा श्री गोमटसार कर्म काण्ड में कहा है—

सुहपयडोण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥१६३॥

साता वेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग वन्ध विशुद्धभाव या मन्दकषाय से तथा मन्द अनुभाग संक्लेशभाव या तीव्र कषाय स होगा तथा असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग संक्लेशभाव से व मन्द अनुभाग विशुद्ध भाव से होगा।

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्।
पुण्योपार्जन हेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ॥
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्—
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥

देव पूजा व भक्ति आदि वहुत से कार्य पुण्य को पैदा करने में समर्थ हैं उन्हें गृहस्थ को नित्य करना चाहिए, उनमें भी संसार समुद्र से तारने में जहाज के समान सत्पात्रों को दान देना यह देशव्रतधारी गृहस्थ का उत्कृष्ट गुण है।

प्रयोजन यह है कि बंध के कारणों को जानकर बंध रहित होने का यत्न करना योग्य है, परन्तु अशुद्ध भाव में उपयोग न हो तव शुभ कार्यों को ही करना उचित है। परन्तु ये शुभ भाव गृहस्थाश्रम में होने वाले अशुभ को रोकने के लिए शुभ राग परिणति उत्पन्न करने वाले दान पूजादि या षट् कर्म क्रिया प्रथमावस्था में होती हैं। इससे केवल अशुभ आस्रव रोका जा सकता है परन्तु हे योगी! शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए शुभ और अशुभ दोनों को आस्रव वन्ध के लिए कारण समझकर तुझे सदा तीन गुप्ति पाँच, समिति, बारह अनुप्रेक्षा, २२ परीषहजय इनके द्वारा शुभ और अशुभ बंध के कारण कौन कौन से हैं सवसे पहले यह समझने की जरूरत है। मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, ये अशुभ आस्रव, कर्म बंध के कारण हैं। ऐसा समझकर इन ऊपर कही भावना के द्वारा आस्रव को रोक कर अपनी आत्मा में रमण करना और उसका अनुभव करना यही आत्मा की प्राप्ति का उपाय है। अन्यथा कर्म बंध को रोकने के लिए कोई उपाय नहीं है। अगर इस ऊपर कही हुई भावना का तू कर्मास्रव को रोकने के लिये साधन नहीं करता है तो कर्म की निर्जरा होना भी असंभव है। बिना कर्मास्रव के भाव को समझे या स्व और पर आत्मा के ज्ञान के बिना अथवा विवेक के बिना कितना भी

कठिन तप किया जाय वह व्यर्थ है इसलिये हे योगी ! कर्मास्रव को रोकने के लिये तप करना यही कर्म की निर्जरा के लिये कारण है। ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव का आदेश है।

आत्मज्ञानी कौन हो सकता है ?

गरुडनध्यानं विषमं परिहरिसुव ळॆंददे शुद्धभाववनेयिदं।
परमात्मननापोकतुं स्मरिसुतिरे मुक्तियप्पुदोंदाच्चरेये ? ॥४४॥

अर्थ—गरुड़ का ध्यान करने से विष का नाश होता है। उसी तरह शुद्ध भावना से सदा आत्मा अर्थात् परमात्मा का ध्यान करने से सम्पूर्ण कर्मों का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होने में क्या आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य की वात नहीं है ॥४४॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में शुद्धात्मा के ध्यान का वर्णन किया है कि जैसे गरुड़ का ध्यान करने से सर्प का विष उतरकर भाग जाता है अर्थात् निर्विष होता है उसी तरह शुद्धात्मा का ध्यान करने से हे योगी ! अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ कर्मरूपी विष फौरन नाश होकर, यह जीवात्मा शुद्ध परमात्मा वन जाता है।

ध्यान करने वाले योगी कैसे होने चाहिये उसके विषय में तत्वसार में कहा है कि:—

लाहालाहे सरिसो सुहदुक्खे तहय जीवियेमरणे।
वंधो अरय समाणो झाण समत्थो हु सो जोई ॥११॥

जो लाभ तथा अलाभ में, सुख अथवा दुःख में, जीवन तथा मरण में, समान भाव रखता है और वंधु और मित्र में समभावधारी है वही योगी ध्यान करने की शक्ति रखता है। प्रवचन सार में कुंदाकुंदाचार्य नें भी कहा है कि:—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥

चारित्र ही आत्मा का धर्म है। समभाव को ही धर्म कहा गया है। मोह और क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम समभाव है। मोक्षमार्ग साधक साधु को ऐसा विजयी वीर होना चाहिए कि वह विषय कषायों को भली प्रकार वश में रखे। वीर होना योग्य है जिससे कि वह विषय कषायों को भली प्रकार वश में रख सके। पांचों इंद्रियों के विषयों को भाव सहित जीतने वाला हो। जो

जितेंद्रिय हो, वही आत्मानन्द का गाढ़ प्रेमी होगा। वह क्रोधादि कपायों के आधीन न हो। निमित्त मिलने पर भी उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच धर्म का पालक हो। लाभ अलाभ में, सुख दुःख में, शत्रु मित्र में, सुवर्ण तृण में मान, व अपमान में समभाव तभी रख सकता है जब वह पाप पुण्य कर्म के उदय से अपनी ही करनी का फल जानकर विकार से रहित हो। जैसे धूप या छाया पड़ने पर बुद्धिमान सूर्य की गति का स्वभाव जानकर समभाव रखता है।

ध्यान के योग्य योगी जब व्यवहारनय को जानकर निश्चयनय से मुख्यता से काम लेता है तब इस नय से छः द्रव्यों की पर्यायें नहीं दीखतीं। किंतु छः द्रव्य अपने स्वाभाविक द्रव्य रूप में दीखते हैं। सर्व पुद्गल परमाणु रूप और सर्व जीव परम शुद्ध निर्विकार दीखते हैं। समभाव प्राप्ति का उपाय निश्चयनय से विश्व का अवलोकन करना है। योगी को विपाकविचय धर्म ध्यान पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। अपने को साताकारी व असाताकारी सम्बन्ध मिलने पर व दूसरों के साता व असाताकारी संयोग देखकर कर्मों के उदय के भेद का विचार कर समभाव रखना चाहिये। समभाव से ही सम्यक्चारित्र या वीतराग युक्त विज्ञानधर्म का लाभ होता है। इस भाव में ही कपायों के अनुभाग की अत्यन्त मंदता है,। यही भाव कर्म की निर्जरा व संवर का कारण है। जब तक समभाव की योग्यता न हो तब तक निर्ग्रन्थ पद को धारण करना योग्य नहीं है।

मोक्ष के लिये सामग्री—

भव्य पुरुष ही मोक्ष का साधन करके उस भव से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। स्त्री की पर्याय में वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता है व अन्य ध्यान के योग्य शरीर की रचना में भी अंतर होता है। शरीर का बल-वीर्य ध्यान की स्थिरता का कारण है। दूसरे भी साताकारी संयोग, तीव्र पुण्य के उदय बिना प्राप्त नहीं होते। मोक्ष के लिये सबसे पहले तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होनी चाहिये। सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा जब तक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन से अधिक काल मोक्ष जाने में होगा तब तक सम्यक्त्व नहीं होगा। इस काल की निकटता प्राप्त होना ही प्रथम काल लब्धि है। फिर क्षयोपशम लब्धि में पंचेंद्रिय, सैनी, बुद्धिमान, दुःखों की कमी रखता हुआ प्राणी होना चाहिये।

फिर मन्द कपाय से विशुद्धि लब्धि होती है, फिर जिनवाणी की गाढ़ रुचिरूप देशनालब्धि, फिर परिणामों की विशुद्धतारूप प्रायोग्य लब्धि, फिर अनन्तगुण परिणामों की विशुद्धि को समय समय बढ़ाने वाले करणलब्धि के परिणाम अंतर्मुहूर्त तक होते हैं। जब सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तब स्वानुभव

करने की लब्धि प्राप्त हो जाती है, ज्ञान, वैराग्य की लब्धि हो जाती है । प्रथम सवेग, अनुकम्पा आस्तिक्य भाव पैदा हो जाते हैं । सम्यक्त्व होने के पीछे पाप कर्म का कम अनुभाग रूप बन्ध व पुण्य का विशेप तीव्र अनुभाग लिये बन्ध होता रहता है । इससे साताकारी सामग्री देवगति व मनुष्यगति में प्राप्त होती रहती है ।

रागं तिर्यग्गतिगळे नागिसुगुद्वेषमंतेनरकक्कोय्गुं ।
रागद्वेषगळता नागदे निले योगिगळ्गे कर्म किळिडगुं ।। ४५ ।।

अर्थ—इष्ट विषय में राग प्रवृत्ति रखने से तिर्यञ्च गति उत्पन्न होती है । उसी तरह अनिष्ट विषयों में द्वेप करने से वह तुझे नरक की तरफ खींचकर ले जाता है । अगर हे योगी ! तू राग और द्वेष दोनों का त्याग करेगा तो कर्म नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होगी अर्थात् रागद्वेप दोनो का त्याग करने से योगी जनों का कर्म नाश होकर विशुद्ध निरंजन परमात्म पदवी प्राप्त होती है ।

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने यह बतलाया है कि योगी ! इनने विपय में रागद्वेप मत करो । वे यह हैं कि इष्ट विपय में राग करने से वह तिर्यञ्च गति बंध का कारण बनता है । उसी तरह अनिष्ट विषय में द्वेष करने से वह नरक गति बंध का कारण बनता है । राग और द्वेप अगर तेरी आत्मा में उत्पन्न नही होते हैं तो कर्म का नाश होता है । ऐसा इस श्लोक का अभिप्राय है । हे योगी ! अगर तू शीघ्र संसाररूपी बंधन से मुक्त होकर मोक्षपुरी जाना चाहता है तो तुझे इष्ट और अनिष्ट वस्तु के प्रति जो रागद्वेष होता है, उन दोनों को त्याग कर अपने स्वरूप में मग्न हो जा तो सम्पूर्ण कर्म का नाश कर मोक्ष लक्ष्मी का नाथ बन कर अनन्त सुखामृत आत्मानन्द का अनुभव करेगा ।

परन्तु हे योगी ! तेरे आत्मा के साथ अनादि काल से मित्र के समान पुद्गल पिंडमय जो शरीर लगा हुआ है इस शरीर के साथ तेरा ज्यादा परिचय और मोह है । अतः इस मोह-राग को छोडकर तू अपने आत्मा का परिचय नहीं कर पाता है । और आत्मा के अन्दर रहने वाले अनन्त सुखादि गुणों का भी परिचय या पहचान आज तक नहीं हुई है फिर तू ध्यान किसका करेगा, प्रेम किस पर करेगा ? वस्तुत: तेरा प्रेम शरीर और शरीर सम्बन्धी विपय-वासनाओं के प्रति रहा था । तू यद्यपि इस शरीर के अन्दर परिपूर्ण रूप से सर्वांग में व्याप्त है । फिर भी तुझे उसका अनुभव नहीं हुआ । इसका कारण यह है कि तुझे आज तक स्व और पर का ज्ञान अपने अन्दर नहीं हुआ । इसके बारे में आचार्य कहते हैं कि —

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ।।

स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥
केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥
इति ज्ञेयं तदेवैकं श्रवणीयं तदेव हि ।
द्रष्टव्यं च तदेवैकं नान्यन्निश्चयतो बुधैः ॥
गुरूपदेशतोऽभ्यासा द्वैराग्यादुपलभ्य यत् ।
कृतकृत्यो भवेद्योगी तदेवैकं न चापरम् ॥
तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥
जानीते यः परं ब्रह्म कर्मणः पृथगेकताम् ।
गतं तद्गतबोधात्मा तत्स्वरूपं स गच्छति ॥

जो महात्मा जन्म मरण मे रहित, एक, उत्कृष्ट, शान्त और सब प्रकार के विशेषणों से रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर उसी आत्मा में स्थित रहता है वही अमृत अर्थात् मोक्ष के मार्ग में स्थित होता है, वही अरहन्त, तीनों लोकों का स्वामी, प्रभु एवं ईश्वर कहा जाता है। केवल ज्ञान, केवल दर्शन और अनन्त सुख स्वरूप जो वह उत्कृष्ट तेज है इसके जान लेने पर अन्य क्या नहीं जाना गया, उसके देख लेने पर अन्य क्या नहीं देखा गया, तथा उसके सुन लेने पर अन्य क्या नहीं सुना गया ? अर्थात् एक मात्र उसके जान लेने पर सब कुछ सुन लिया गया है। इस कारण विद्वान् मनुष्यों के द्वारा निश्चय से वही एक उत्कृष्ट आत्म-तेज जानने योग्य है, वही एक सुनने योग्य है, और वही देखने योग्य है । योगीजन गुरु के उपदेश से, अभ्यास से और वैराग्य से उसी एक आत्मतेज को प्राप्त करके कृतकृत्य होते हैं, न कि उससे भिन्न किसी अन्य को प्राप्त करके। उस आत्मतेज के प्रति मन में प्रेम को धारण करके जिसने उसकी बात भी सुनी है वह निश्चय से भव्य है व भविष्य में प्राप्त होने वाली मुक्ति का पात्र है। जो ज्ञान स्वरूप जीव कर्म से पृथक् होकर अभेद अवस्था को प्राप्त हुई उस उत्कृष्ट आत्मा को जानता है और उसमें लीन होता है वह स्वयं ही उसके स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् परमात्मा बन जाता है।

सम्पूर्ण परिग्रह त्यागे विना मुक्ति नहीं इसलिए आगे के श्लोक में परिग्रह त्याग का उपदेश देते हैं :—

वालाग्र परिग्रह में नालापं निन्ननदुवेकिडिसल् नेरेगुं ।
स्थुल परिग्रह सहितं आकलकार्तपने नरकतिरक दोकाकगुं ॥४६॥

अर्थ—हे योगी ! ज्यादा वात करने से क्या फायदा । वाल के अग्रभाग के प्रमाण भोगोपभोग पदार्थ तेरे नाश का कारण होता है अर्थात् तुझे निंद्य गति में ले जाने के लिये कारण होता है । फिर स्थूल परिग्रह से क्या कभी तू अपने जीवन को सुखमय वना सकता है । इस परिग्रह के निमित्त से जीव अनक प्रकार के दुःखों को सहता हुआ संसार में भ्रमण करता है ॥४६॥

विशेषार्थ—इस श्लोक में आचार्य ने इस बात का विवेचन किया है कि परिग्रह रहित होने से आत्मा का कल्याण या मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है । परिग्रहधारी साधु कितने भी कठिन तप करे तो भी कर्म की निर्जरा नही कर सकता है । इसलिये ग्रंथकार ने इस श्लोक में प्रतिपादन किया है कि अगर मुनि के पास वाल के अग्र भाग के समान अर्थात् अणुपरमाणु मात्र भी परिग्रह रहे तो वह निंद्य गति को प्राप्त होता है । तो स्थूल परिग्रहधारी की क्या गति होगी ? अर्थात् नरक के सिवाय दूसरी गति नहीं हो सकती ।

शंका—अगर ऐसा है तो मुनि के पास पीछी, कमंडल, पुस्तकादि वस्तुयें गृहस्थी श्रावक के द्वारा दी जाती हैं । वे भी परिग्रह ही हैं उनको भी मुनि को रखना नहीं चाहिये, क्योकि व भी पर वस्तु होने के कारण मुनि को ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान—आचार्य उसका समाधान करते हैं कि मूर्छा परिग्रह है । कहा भी है कि "मूर्छा परिग्रहः" मूर्छा ही परिग्रह है, पर पदार्थ पर मोह होना ही परिग्रह है । परन्तु साधु के पास पीछी कमडल पुस्तकादि जो उपकरण उनके पास देखा जाता है वह संयमोपकरण है । वे उपकरण संयम के साधनभूत हैं, इसलिये उनके रहने से परिग्रह नही कहा जाता है । हां, अगर उस मुनि का उन पर मोह हो जाये तभी वे परिग्रह में शामिल होकर वंध के लिये कारणभूत होगी । इसलिये मूर्छा ही परिग्रह है । अगर विचार कर देखा जाय तो साधु का अगर शरीर पर भी मोह होगा तो वह भी परिग्रह है । परन्तु साधु का मोह शरीर पर नहीं होता है क्योंकि साधु उस शरीर को संयम का साधन, तप का साधन या आत्मा का साधन मानता है । और जो भी उनके पास उपकरण रहते है वे संयम साधन के लिए ही होते हैं । अगर स्व पर ज्ञान हीन साधु कदाचित् शरीर या सयमोपकरण के प्रति मोह करे तो वह साधु अपनी आत्म साधना करके मरणांत में दुर्गति को प्राप्त होता है उसकी क्रिया सभी निरर्थक होती है ।

पद्मनंदी आचार्य ने कहा भी है कि—

व्याख्या यत् क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं ।
स्थानं संयम साधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा ।।
स त्यागो वपुरादि निर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
राकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां संमतः ।।१०१।।

सदाचारी पुरुष के द्वारा मुनि के लिए जो प्रेम पूर्वक आगम का व्याख्यान किया जाता है, पुस्तक दी जाती है, तथा संयम की साधनभूत पीछी आदि भी दी जाती है उसे उत्तम त्याग धर्म कहा जाता है। शरीर आदि में ममत्व बुद्धि के न रहने से मुनि के पास जो किंचित् मात्र भी परिग्रह नहीं रहता है इसका नाम उत्तम आकिंचन्य धर्म है। सज्जन पुरुषों को अभीष्ट वह धर्म, संसार को नष्ट करने वाला है।

मुनि हमेशा मोह से रहित रहता है। कहा भी है कि—

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिता ।
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः ।।
तपस्यन्तोऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतः ।
सहायाः स्युर्ये ते जगति यतयो दुर्लभतराः ।।१०२।।
परं मत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा ।
वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः ।।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते ।
जिनेन्द्राज्ञाभंगो भवति च हठात्कल्मषमृषेः ।। १०३ ।।

मोह से रहित, अपने आत्महित में लवलीन तथा उत्तम चारित्र से संयुक्त जो मुनि मोक्ष प्राप्ति के लिए घर आदि को छोड कर तप करते हैं वे भी विरले हैं, अर्थात् वहुत थोड़े हैं। फिर जो मुनि स्वयं तपश्चरण करते हुए अन्य मुनि के लिए भी शास्त्र आदि देकर उसकी सहायता करते हैं वे तो इस संसार में पूर्वोक्त मुनियों की अपेक्षा और भी दुर्लभ हैं।

आगम के जानकार मुनि ने समस्त वाह्य वस्तुओं को पर अर्थात् आत्मा से भिन्न जानकर उन सबको छोड़ दिया है। फिर भी जब शरीर और पुस्तक आदि उसके पास रहती हैं तो ऐसी अवस्था में वे निष्परिग्रह कैसे कहे जा सकते हैं, ऐसी यदि यहां आशंका की जाय तो इसका उत्तर यह है कि उनका चूंकि उक्त शरीर एवं पुस्तक आदि से कोई ममत्वभाव नहीं रहता है। अतएव उनके विद्यमान

रहने पर भी वे अविद्यमान के ही समान हैं। हाँ, यदि उक्त मुनि का उनसे ममत्व-भाव है तो फिर वह निष्परिग्रह नहीं कहा जा सकता और ऐसी अवस्था में उसे समस्त परिग्रह के त्याग रूप जिनेन्द्र आज्ञा को भंग करने का दोष प्राप्त होता है जिससे कि उसे बलात् पापबंध होता है। हे योगी ! संपूर्ण पर वस्तु के ममत्व को छोड़कर केवल अपने आत्म ध्यान में लीन होकर कर्म शत्रु से मुक्त हो जा। ऐसा उपदेश है।

सारूप आत्म तत्व को समझे बिना आत्म सिद्धि नहीं होती है। ऐसा कहते हैं—

उभयसमयसारं सारतत्वस्वरूपं।
शुभमशुभविदूरं शुद्ध चैतन्यमेकं ॥
अभवहरण मोक्षोपायमानंद चिह्नं।
प्रभुगकरिदु नांवि जैनभावं प्रधानं ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे योगी ! साररूप ऐसे तत्व का जो स्वरूप है वह तत्व शुभ और अशुभ तत्वों से अर्थात् कर्म से रहित है, भव विध्वंसक है, मोक्ष मार्ग के उपाय का रूप है ऐसा मन में ठीक ठीक जान मन में आनन्दित होना और ऐसे शुद्ध चैतन्य-रूप एक शुद्धात्म रूप आत्मा ही स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का सार है वही प्रभु रूप भगवान जिनेन्द्र या सिद्ध भगवान है। वही एक मुख्य तत्व है, वही असली निज तत्व है। इस प्रकार अपने अन्दर विश्वास रखकर चल ॥ ४७ ॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बताया है कि हे योगी ! तू शुभाशुभ पुण्य और पाप दोनों आस्रव को रोक कर जब चैतन्य सार रूप निजात्म शुद्ध तत्व में सम्यक्त्व सहित लीन होकर विश्वास के साथ मनन नहीं करेगा तब तक ये पुण्य-पाप दोनों आस्रव रुक कर कर्म की निर्जरा नहीं होगी। अगर तुझे कर्म का नाश करना है और मोक्ष मार्ग की प्राप्ति करना है तो सार रूप आत्म तत्व को स्वपर ज्ञान के द्वारा जानकार बन। व्यवहार और निश्चय ऐसे दो तत्व हैं। पहले व्यवहार तत्व को ठीक समझना अत्यन्त आवश्यक है। व्यवहार तत्व ठीक समझ में आयेगा तो अपने अन्दर ही रहने वाला सारभूत निश्चय तत्व तुरन्त ही समझ में आयेगा।

तत्व सात हैं। सात तत्व में जीव की मुख्यता है। कहा भी है कि—

प्रागुद्देश्यः स जीवोऽस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात् ॥

पहले जीव तत्व का निरूपण किया जाता है, फिर अजीव तत्व का किया जायगा। उसके बाद आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का कथन किया जायगा। जीव का निरूपण सबसे प्रथम रखने का कारण भी यही है कि सम्पूर्ण तत्वों का आधार मुख्य रीति से जीव पर ही पड़ता है। सातों तत्वों में जीव का ही सम्बन्ध चला जाता है। वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो वस्तुतः जीव तत्व की ही मुख्यता है। इसलिए सातों तत्वों में जीवतत्व को ही प्रधानता है। इसलिये सबसे प्रथम उसी का ही वर्णन किया जाता है।

जीव निरूपण—

अस्ति जीवः स्वतःसिद्धोऽनाद्यनन्तोप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढ़त्वाद्द्रव्यमव्ययम् ॥

जीव द्रव्य स्वतः सिद्ध है। इसका आदि नहीं है, इसी प्रकार अन्त भी नहीं है। यह जीव अमूर्त है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादिक अनन्त धर्म हैं। इसीलिए यह नाशरहित द्रव्य है।

चार्वाक या कोई नास्तिक कहते हैं कि कोई स्वतंत्र जीव द्रव्य नहीं है। किन्तु पंचभूत से मिलकर यह बन जाता है। इसका खण्डन करने के लिए आचार्य ने स्वतः सिद्ध पद दिया है। यह द्रव्य किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है किन्तु अपने आप सिद्ध है। इसीलिए इसका न आदि है और न अन्त है। पुद्गल द्रव्य की तरह इसके रूपादिक भी नहीं हैं। यह द्रव्य ज्ञानादिक अनन्त गुण स्वरूप है। गुण नित्य होते हैं, इसलिए जीव द्रव्य भी नित्य है। इसका कभी भी नाश नहीं होता है, केवल अवस्था भेद होता रहता है।

फिर भी जीव का ही निरूपण है।

साधारणगुणोपेतोप्यसाधारणधर्मभाक्।
विश्वरूपोप्यविश्वस्थः सर्वोपेक्षोपि सर्ववित् ॥

यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है। विश्व रूप है परन्तु विश्व में ठहरा नहीं है। सबसे उपेक्षा रखने वाला है, तो भी सबको जानने वाला है।

जीव का स्वरूप कहते हैं।

असंख्यातप्रदेशोऽपि स्यादखंडप्रदेशवान्।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोऽपि तन्मध्ये संस्थितोऽपि च ॥

यह जीव असंख्यात प्रदेश वाला है। तथापि अखण्ड द्रव्य है। अर्थात् इसके प्रदेश सब अभिन्न हैं तथा सम्पूर्ण द्रव्यों से वह भिन्न है तथापि उनके बीच में स्थित है।

जीव का स्वरूप और भी बतलाया है कि—

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोऽपि यः।
स्याद्द्विधा सोऽपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः॥

शुद्ध नय की अपेक्षा यह जीव द्रव्य शुद्ध स्वरूप है, एक रूप है, उसमें भेद-कल्पना नहीं है तथापि पर्याय दृष्टि से यह जीव दो प्रकार का है एक—मुक्त जीव, दूसरा अमुक्त जीव।

निश्चय नय उसे कहते हैं जो कि वस्तु के स्वाभाविक भाव को ग्रहण करे और व्यवहार नय वस्तु की अशुद्ध अवस्था को ग्रहण करता है। जो भाव पर निमित्त होते हैं, उन्हें ग्रहण करने वाला ही व्यवहार नय है। निश्चय नय से जीव में किसी प्रकार का भेद नहीं है। इसलिए उस नय से जीव सदा शुद्ध स्वरूप तथा एक रूप है। परन्तु कर्मजनित अवस्था के भेद से उसी जीव के दो भेद हैं एक संसारी, दूसरा मुक्त। जो कर्मोपाधि सहित आत्मा है वह संसारी आत्मा है और जो उस कर्मोपाधि से रहित है वही मुक्त अथवा सिद्ध आत्मा कहलाता है। ये दो भेद कर्मोपाधि से हुए हैं। और कर्मोपाधि निश्चयनय से जीव का स्वरूप नहीं है। इसलिए जीव में द्रव्य दृष्टि से भेद नहीं, किन्तु पर्याय दृष्टि से भेद है।

संसारी जीव किसे कहते हैं?

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान्।
मूर्छितोऽनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावलिकर्मभिः॥

जो आत्मा कर्म से बंधा हुआ है वही संसारी है। संसारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप से रहित है और अनादि काल से ज्ञानावरणीय आदिक आठ कर्मों से मूर्छित हो रहा है।

आत्मा का स्वरूप शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों ने उन गुणों को ढक दिया है। इन्हीं आठों कर्मों में जो मोहनीय कर्म है, उसने उन्हें विपरीत स्वाद का बना दिया है। इसलिए संसारी आत्मा असली स्वभाव का अनुमान नहीं करता है। जब यह दोष और आवरण मूल आत्मा से हट जाता है तब वही आत्मा निज शुद्ध रूप का अनुभव करने लगता है।

प्रश्न—कर्म का बन्ध कब से है ?

समाधान—जीव-कर्म का सम्बन्ध अनादि से है। कहा भी है कि—

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः॥

यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है। इसलिए दोनों का सम्बन्ध रूप बन्ध भी अनादि है।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकापलसन्निभः।
अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः॥

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कनक पाषाण का सम्बन्ध अनादि कालीन होता है। यदि जीव पुद्गल का सम्बन्ध अनादि से न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

एक पत्थर ऐसा होता है जिसमें सोना मिला रहता है, उसी को कनक पाषाण कहते हैं। कनकपाषाण खान से मिला हुआ ही निकलता है। जिस प्रकार सोने का और पत्थर का हमेशा से सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और कर्म का भी हमेशा से सम्बन्ध है। यदि जीव-कर्म का सम्बन्ध अनादि से न माना जाये तो अन्योन्याश्रय दोष होता है।

तब आचार्य कहते हैं कि:—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं-
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः-
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्ति॥

हे लोक के जीवो ! अनादि संसार से लेकर अबतक अनुभव किये हुए मोह को छोड़ो और रसिक जनों को रुचने वाले ज्ञान का आस्वादन करो। क्योंकि इस लोक में आत्मा किसी पर द्रव्य के साथ प्रगट रीति से एकत्व को किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता। आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं है। देव गुरु शास्त्र के ऊपर श्रद्धान रखना भगवान द्वारा कहे हुए जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों पर श्रद्धान रखना, इसको व्यवहार

सम्यक्त्व बतलाया है इसके अलावा छः द्रव्य, नौ पदार्थ और पंचास्तिकाय ये सब मिलकर सत्ताईस पदार्थ माने गये हैं। अज्ञानी जीवों को समझाने के लिये सबसे पहले व्यवहार धर्म का निरूपण किया गया है। जो जीव सत्ताईस तत्वों में जीव तत्व को स्व और पर के द्वारा जानकर इन सभी तत्वों से भिन्न आत्मस्वरूप को जानकर पर तत्व को हेय मानता है; वह ज्ञानी होकर अपने स्वरूप में लीन होता है, उसमें रमण करता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप अपनी आत्मा को समझकर अपने ही अन्दर रमण करता हुआ अनादिकाल से अपनी आत्मा में लगे हुए पाप और पुण्य रूप मलिनता को दूर करने का प्रयत्न करता है वही जीव सुखी होता है। यह अज्ञानी जीव पुद्‌गल द्रव्य को अपना मानता है किन्तु सर्वज्ञ ने ऐसा बताया है कि जड़ और चेतनद्रव्य ये दोनों सर्वथा पृथक् पृथक् हैं। ये किसी प्रकार से भी एक रूप नहीं होते। इस कारण हे अज्ञानी। तू पर द्रव्य को आत्मा मानना छोड़ दे, इसलिए आचार्य अमृत चन्द्रसूरि ने भी कहा है कि:—

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली स-
न्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तं।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन-
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥२३॥

हे भाई! तू किसी प्रकार महान् कष्ट से अथवा मर करके भी तत्वों में कौतूहली हुई शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त अथवा ४८ मिनट अपने को पड़ोसी मानकर आत्मा का अनुभव कर जिससे कि अपनी आत्मा को विलास रूप सर्व पर द्रव्यों से रहित देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्‌गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ सके।

हे योगी! व्यवहारनय पराश्रित है। कुंदकुंदाचार्य ने भी कहा है कि:—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

यहां पर व्यवहारनय, पर्यायार्थिक होने से पुदगल के संयोगवश अनादि काल से प्रसिद्ध, जिसकी बंधपर्याय है ऐसा जीव कुसुम्भ के लाल रंग से रंगे हुए रुई के वस्त्र की भांति औपाधिक वर्णादिभावों को आलबनकर प्रवृत्त होता है। इसलिए वह व्यवहारनय दूसरे के भावों को दूसरों का कहता है। और निश्चय-नय द्रव्य के आश्रय होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलंबन

कर प्रवृत्त होता है। वह सब परभावों को पर कहता है, उनका निषेध करना है। इसलिए बारहवें गुणस्थानपर्यन्त भाव व्यवहार नय से जीव के हैं, निश्चयनय से नहीं है। इस प्रकार भगवान् का कथन स्याद्वाद सहित युक्ति पूर्ण है ।।५६।।

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुःस्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थंकरस्तवोत्तरवलादेकत्वमात्मांगयोः ।।२७।।

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां,
नयविभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायां ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य,
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ।। २८ ।।

शरीर और आत्मा का व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से एकत्व नहीं है। इसीलिये शरीर के स्तवन से आत्मा पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहा जाता है और निश्चयनय से नहीं। निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। वह चैतन्य का स्तवन तो जितेंद्रिय, जितमोह, क्षीणमोह कहने से होता है। तीर्थङ्कर का स्तवन भी दोनों नयों से होता है उसके वल से आत्मा और शरीर का एकत्व निश्चय से नहीं है।

इस तरह जिसने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय किया है, ऐसे मुनि ने आत्मा और शरीर के एकत्व को नय के विभाग की युक्ति द्वारा अत्यन्त उच्छादन किया है। ऐसा होने पर वह ज्ञान यथार्थ रूप में किस पुरुष के प्रकट नहीं होता अर्थात् अवश्य प्रगट होता ही है। वह अपने निज रस के वेग द्वारा खींचा हुआ एक स्वरूप होकर प्रगट होता है।

समभाव ही आत्मा का स्वभाव है यह बतलाते हैं:—

समभावने मिक्क तपं समभावने ताने मिक्क सच्चारित्रं ।
समभावने शुद्धात्मं समभावने सकलकर्मनिर्मूलकरं ।।४८।।

अर्थ—जीवन मरण में, लाभ-अलाभ में, अनिष्ट वस्तुओं के संयोग में इष्ट वस्तुओं के वियोग में, शत्रु और मित्र में, सुख और दुःख आदि में समभाव

रखना ही उत्तम तपस्या है, समभाव ही उत्तम चारित्र है, समभाव ही शुद्धात्मा है, और समभाव ही समस्त कर्मो को नाश करने वाला है ॥४८॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह विवेचन किया है कि समभाव ही आत्मा का स्वरूप है, समभाव ही उत्तम चारित्र है । समभाव ही आत्मा का विशुद्ध स्वरूप है । इसके अलावा और कोई आत्मा का रूप नहीं है । सम्पूर्ण पर वस्तु से या पर पदार्थ से भिन्न ज्ञानानंद शुद्ध चैतन्य जो आत्मा का स्वरूप है वही समभाव है । योगी के लिये उसी समभाव का अध्ययन करना, इसमें लीन रहना, कर्तव्य है । जो आत्मज्ञानी मुनिराज हैं वे हमेशा पर वस्तु से भिन्न एकात्मा का ही आलम्बन करते है । सुख और दुःख से होने वाले रागद्वेष से कभी चलायमान न होकर वे निजानंद अपने स्वरूप में ही लीन रहते हैं । योगी हमेशा यही समझते है कि:

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन थुति करण ।
अर्घावतारण असिप्रहारण में सदा समता धरण ॥

शत्रु और मित्र, महल और मशान, सोना और काँच, निन्दा करन और प्रशंसा करना, अर्घ चढ़ाना अर्थात् पूजा करने में और तलवार मारने में अर्थात् अपमान करने या कष्ट देने के अवसर में संसारियों की तरह राग और द्वेष को मन में न लाकर सदा साम्यभाव धारण करते हैं ।

तप तपै द्वादश धरैं वृषदश रतनत्रय सेवें सदा ।
मुनि साथ में वा एक विचरैं चहैं नहिं भवसुख कदा ॥
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब ।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब ॥

मुनिजन, अनशनादि बाह्य तप और प्रायश्चित आदि अन्तरंग तप इस तरह बारह प्रकार के तप करते हैं । उत्तम क्षमादि दस प्रकार के धर्म धारण करते हैं । हर समय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सेवन करते हैं । मुनियों के साथ में अथवा अकेले विहार करते हैं । कभी संसार के सुखों की इच्छा नहीं करते । इस प्रकार सकल संयम-सकल चारित्र के होने पर शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है और अन्य सांसारिक पदार्थों से सब तरह चित्त हट जाता है ।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अन्तर भेदिया ।
वरणादि अरु रागादि तैं निज भाव को न्यारा किया ॥

निज माँहि निज के हेत निज करि, आपको आपै गह्यौ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यौ॥

जिसने बहुत तेज धारवाली सुबुद्धि रूपी अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी, छैनी से अन्तर के मल को टुकड़े टुकड़े करके और वर्ण रस आदि पुद्गल के गुणों से तथा राग-द्वेष आदि भाव कर्मों से अपने आपको अलग कर लिया है, वही ज्ञानी अपने आप में अपने लिये अपने द्वारा अपने आपको प्राप्त करता है। तब उसकी दृष्टि में गुण और गुणी में, ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

जहं ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेदन जहाँ।
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रकटी जहाँ दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा॥

उस अवस्था में ध्यान, ध्यान करने वाले और ध्यान योग्य में कोई वचन भेद नहीं होता। वहां चेतन भाव ही कर्म है, चेतना ही कर्ता है, और चेतना ही क्रिया होती है। वहाँ कर्ता कर्म और क्रिया में कोई भिन्नता नहीं रहजाती। जब शुद्धोपयोग की दशा प्रगट हो जाती है, वहाँ दर्शन-ज्ञान और चारित्र ये तीनों भेद एकाकार हो जाते हैं।

परमाण नय निक्षेप को न उदोत अनुभव में दिखैं।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव जु मो विषै॥
मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अरु तसु फलन तें।
चित पिंड चंड अखण्ड सगुण-करण्ड च्युत पुनि कलन तें॥

आत्मा के अनुभवकाल में अर्थात् शुद्धोपयोग में प्रमाण, नय, प्रमाण का अंश और नय अथवा प्रमाण से जानने योग्य पदार्थ का प्रकाश नहीं दीखता है। हर समय, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य सहित मालूम होता है और ऐसा अनुभव होता है कि मुझमें जो उपयोग को नष्ट करने वाले रागादिभाव है वे मुझसे भिन्न हैं। मैं शुद्ध उपयोगवान् हूँ, मैं मुक्ति स्वरूप हूं, मुक्ति का साधने वाला हूं और मैं कर्म और कर्म के फलों से बाधित होने वाला नहीं हूं, चेतना का समुदाय हूं एवं प्रकाशमान एवं अविनाशवान्, अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिटारा या भण्डार हूं और फिर समस्त कर्मफल से सर्वथा रहित हूं।

समभाव का लक्षण कहा भी है कि हे आत्मन् ! तू संसार में समभाव के विना विकार भाव को प्राप्त करके परिभ्रमण करता आया है इसलिए अब तू पर वस्तु के अवलम्बन को छोड़कर अपनी आत्मा का ही आश्रय कर। जब तक पर के आश्रित रहेगा तव तक तुझे इस शरीर के साथ सुख और शांति नहीं मिल सकती है। अब आगे कहते हैं कि कर्मों की संगति से दूर होजा। ऐसा कहते हैं कि :—

दुक्खाइं अणेयाइं सचियाई परवसेण संसारे ।
इण्हं सवसो विसच्चु अप्पसहावे मणो किच्चा ।।४२।।

हे आत्मन् ! पर कर्मों के आधीन हो तूने संसार में अनेक दुःख सहे हैं अब आत्म स्वभाव में चित्त लगाकर स्वाधीन हो इन दुःखों को सह। जिस समय क्षुधा, प्यास, शीत उष्ण आदि की तीव्र पीड़ा सहने का अवसर मिल जाय उस समय मुनि को यह भावना करनी चाहिए कि—हे आत्मन् !, जन्म जरा मरण से व्याप्त इस चतुर्गतिरूप संसार में कर्मों के आधीन हो तूने तिल तिल भर शरीर का छिदना, कट जाना, तेल से भरे हुए तप्त कड़ाहों में पड़ना, असिपत्रों से शरीर के खंड हो जाना, गरम गरम वालू में नृत्य करना, आपस में लड़कर एक दूसरे के शस्त्र से कट जाना, आरा आदि से चिर जाना, अत्यन्त भार का ढोना, बंधना, जलना, शीत उष्ण की वाधा सहना, दरिद्र होना, पुत्र प्रिया का वियोग सहना, राजा से तिरस्कार और जुआ आदि दुर्व्यसनजन्य पीड़ा का सहना, दूसरे की विपुल ऋद्धि से मन में क्लेश होना आदि अनेक घोर से घोर क्लेश सहे हैं। इस समय यद्यपि तेरे ऊपर घोर आपत्ति पड़ी है तथापि यह तेरे आधीन है क्योंकि स्त्री-पुत्र आदि से विरक्त होकर सन्यास धारण कर इन परीषहों को स्वयं तूने अपने ऊपर आने की आज्ञा दी है इसलिए शुद्ध आत्मा में मन को लगाकर प्रसन्नता से उन्हें सहना चाहिए। परीषहों के तीव्र दुःखों से दुखित मुनि जिस समय परम उपशम सम्बन्धी भावना भाता है उस समय उसके कर्मों का नाश होता है। यह अत्र कहते हैं।

अइतिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा ।
जइ तो णिहणसि कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण ।।४३।।

हे आत्मन् ! परीषहों की तीव्र वेदना से दुःखित होकर जिस समय तू परम उपशम भावना करेगा उस समय अर्ध क्षण में तेरे समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जायेंगे। शरीर आदि मेरे हैं, मैं इनका हूं, इत्यादि विचारों का निग्रह करना। जिस प्रकार मेघ से आकाश विकृत नहीं होता उसी प्रकार जन्म जरा रोग आदि विकार भी विशुद्ध आत्मा को विकृत नहीं वना सकते, उनसे शरीर विकृत वन

सकता है।" इस प्रकार का विचार करना तथा मोहजनित और भी नानाप्रकार के संकल्प विकल्पों को नष्ट कर शुद्धचिद्रूप में स्थिति करना सुसमा भावना है। जो मुनि भूख- प्यास, शीत-उष्ण, दंश-मशक आदि की तीव्र वेदना से आक्रांत होकर विशुद्ध भावों से उपर्युक्त भावना को अपनाता है उसके देखते देख ते समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जब तक उपर्युक्त भावना का अवलम्बन नहीं किया जाता तब तक अशुभ कर्मों का नाश नहीं हो सकता। इसलिए मुनि को चाहिए कि वह परीषहों की तीव्र वेदना के उपस्थित हो जाने पर भी परमात्मा की भावना अवश्य करे। परीषहों के सहने में असमर्थ हो यदि कोई मुनि चारित्र का त्याग कर देता है, तो उसे इस लोक, परलोक में क्या फल मिलता है ? इस बात को कहते हैं।

परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडंति चरणरणभूमी।
भुवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया ॥४४॥

जो पुरुष परीषह सुभटों से भयभीत होकर चारित्ररूपी संग्राम भूमि को छोड़ भागते हैं वे संसार में हास्यपात्र वनते हैं और अनेक प्रकार के दुःखों का उन्हें सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार शूरवीरों से भयभीत होकर संग्राम में पीठ दिखाने वाला पुरुष संसार में हंसी का पात्र बनता है और राजदंड निन्दा आदि अनेक प्रकार के दुःखों को सहता है उसी प्रकार जो पुरुष चारित्ररूपी विस्तीर्ण संग्राम भूमि से यह जानकर भी कि व्रत समिति गुप्ति आदि विशाल योद्धाओ के सामने किसी की दाल नहीं गल सकती, निर्बल हो परीषहरूपी न कुछ सुभटों से भय कर उसे पीठ दिखाकर भाग जाता है, चारित्र का पालन करना छोड़ देता है उस पुरुष की सब लोग हंसी करते हैं और चारित्र से भ्रष्ट हो जाने पर उसे नर नारक आदि गतियों में भ्रमण कर तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए जो पुरूष संसार में हंसी से भय करने वाले हैं और संसार के दुःखों को भोगना नहीं चाहते उन्हें चाहिए कि वे चारित्र को प्राप्त होकर परीषहों के भय से उससे विमुख न हों किन्तु परीषह रूपी सुभटों की कठिन मार झेलते हुए भी आगे बढ़ते चले जाँय, अखण्ड अविनाशी मोक्ष राज्य को पाकर कीर्ति का उपार्जन करें तथा समस्त प्रकार के दुःखों से छूटें। परीषहों से भयकर तीनों गुप्तियों का आश्रय करना चाहिए और मन को मोक्ष में लगाना चाहिये। ग्रंथकार बतलाते हैं।

परिसहपरिचक्कमिओ जइ तो पइसेहि गुत्तितयगुत्तिं।
ठाणं कुण सुसहावे मोक्खगयं कुणसु मणवाणं ॥४५॥

जिस समय परीषहरूपी शत्रु से मुनि को भय हो उस समय उसे तीनों गुप्ति रूप अगम्य दुर्ग-किले में प्रवेश करना चाहिए और वाण के समान चंचल मन को

स्व स्वरूप मोक्ष में लगाना चाहिए। योग-मन बचन काय का भले प्रकार निरोध करना गुप्ति है और वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति के भेद से तीन प्रकार की है। इस गुप्तित्रय को ही परीषहरूपी शत्रुओं के लिए अगम्य किला चित्चमत्कार-मात्र परब्रह्म स्वरूप बतलाया है अर्थात् आत्मा की चिच्चमत्कारमात्र परब्रह्म-स्वरूप अवस्था में ही भली प्रकार मनोगुप्ति आदि गुप्तियाँ होती हैं। इसलिये निश्चयनय से वे चिच्चमत्कारमात्र परब्रह्मस्वरूप ही तथा मन बचन काय की गुप्ति में कारण परम समय सार परब्रह्म परमात्मा की भावना प्रधान कारण है क्योंकि जबतक परब्रह्म परमात्मा की विशुद्ध भावों से भावना नहीं की जाती तब तक गुप्तियों की प्राप्ति नहीं होती। समयसार कलश में यह भी कहा है।

अधिक बोलने और अनेक प्रकार के दुर्विकल्प संकल्प विकल्पों की आवश्यकता नहीं। यहां पर कर्मफलों से रहित एक और परम समयसार विद्यमान है सदा इसी की भावना करो क्योंकि आत्मिक रसस्वरूप पूर्णविज्ञान की प्रगटता के धारक समयसार से भिन्न कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं। जब मुनि को यह मालूम पड़े कि परीषहरूपी शत्रु सेना का मुझपर भयंकर वार हो रहा है, भूख प्यास की वेदना मुझे बुरी तरह सता रही है उस समय उसे परब्रह्म परमात्मा की भावना कर इस गुप्तिरूपी सुरक्षित किले का अवलंबन करना चाहिये। सहज सिद्ध चिदानन्द चैतन्यस्वरूप में स्थित और इंद्रिय विषयों में घूमने वाले वाण के समान चंचल मन को समस्त कर्मो के अभावस्वरूप मोक्ष में स्थिर करना चाहिये। अन्यथा परीषह सुभट चारित्ररूपी संग्राम में घायल कर संसार रूपी कैदखाने में पटक देंगे और वहां पर अनंत दुःख सहने पड़ेंगे। परीषहों की वेदना से तप्त पुरुष यदि ज्ञानरूपी शीतल सरोवर में प्रविष्ट होता है तो क्या प्राप्त करता है इस बात को आचार्य कहते हैं।

परिसहदवनलतत्तो पइसइ जइ णाणसरवरे जींवो।
ससहावजलपरित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो ॥४६॥

परीषहरूपी दावानल से सन्तप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञानरूपी शीतल स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करता है और स्वभावरूपी जल में स्नान करता है उस समय इसे निर्वाण, मोक्ष धाम की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार दावानल से संतप्त मनुष्य शीतल जल से भरे हुए सरोवर में प्रवेश कर और मनमानी डुबकी मार मार स्नान कर शांतिलाभ करता है उसी प्रकार जो मनुष्य शरीर संताप के कारण भूख प्यास-शीत उष्ण आदि परीषहों से खिन्न होकर जिस समय ज्ञान अर्थात् परीषह जिसे दुःख पहुंचा सकते हैं वह मैं नहीं हूँ वह शरीर है, मैं चिदानन्द चैतन्यस्वरूप का धारण करने वाला हूं मेरे पास परीषह लेशमात्र भी नहीं फटक

सकता इस प्रकार के भेद विज्ञानरूपी सरोवर में प्रवेश करता है और वहां सहज-शुद्ध निर्विकार परमात्मस्वरूप मेघ से उत्पन्न आत्मिक शुद्ध परमानन्दमयी स्वभाव में मनमाना अवगाहन-स्नान करता है उस समय वह संसार संबंधी समस्त संकल्प विकल्पों का सर्वथा त्याग कर देता है एवं परम शांतिस्वरूप को प्राप्त होता है जहां कि उसे संसार का कोई भी दुःख नहीं सहना पड़ता है। इसलिए परमात्मपद के अभिलाषी मुनि को चाहिये कि जब वह अपने चित को परीषह रूपी दावानल से संतप्त देखे उस समय भेद विज्ञान रूप सरोवर में प्रवेश कर स्व स्वभाव जल में गोते लगावे। यदि कदाचित् मुनि को घोर उपसर्गो का सामना पड़े तो उस समय उसे क्या करना चाहिये ? यह बात कहते है।

जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा वहुविहा हु दुहजणया।
ते सहियव्वा णूणं समभावणणाणचित्तेण ॥४७॥

यदि किसी तरह नाना प्रकार के दुःख देने वाले उपसर्ग मुनि के लिये आकर उपस्थित हो जाँय तो उसे चाहिये कि वह समभावों से उन्हें अवश्य सहे, उपसर्गो से भयभीत हो चारित्र से न डिगे। रागद्वेष न कर दुःख-सुख, शत्रु-मित्र, बन भवन, अलाभ-लाभ, काँच सुवर्ण, आदि को समान मानना, किसी को अच्छा बुरा न विचारना ही समभावना है। कहा भी है।

सौधोत्संगे श्मशाने स्तुतिशमपविधौ कर्दमे कुंकुमे वा।
पल्यंके कंटकाग्र दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ॥

उत्तम समता के स्थान पर जिस महात्मा का मन महल मरघट, स्तुति-निंदा, कीचड़-केशर, सेज-ककरीली भूमि, पत्थर-चंद्रकांतमणि, चाम-चीन देश के वस्त्र शीर्ण शरीर और देवांगना में ऊँच नीच का विकल्प नहीं करता सबको समान रूप से समझता है वह मुनि शान्त भाव का धारक गिना जाता है अर्थात् महल मरघट आदि उत्तम-हीन दोनों पदार्थो को समानरूप से मानना ही साम्यभावना है। यदि किसी कारण से नाना प्रकार के दुःख देने वाले घोर उपद्रव आकर उपस्थित हो जाँय तो मुनि को चाहिए कि वह समभाव से समस्त उपद्रवों को सहन करे। घोर वेदना के होने पर भी अपने शुद्ध स्वरूप से विचलित न हो। क्योंकि—

णाणमयभावणाए भाविय चित्तेहिं पुरिससीहेहिं।
सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया ॥४८॥

जिन पुरुषों के चित्त में सदा ज्ञान स्वरूप भावना विराजमान रहती है ऐसे उत्तम पुरुषों ने अचेतन आदि चारों प्रकार के घोर उपसर्गो को सहा है। देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत और अचेतनकृत ये चार प्रकार के उपसर्ग हैं। जिस समय मुनिगणध्यान में लीन होते हैं उस समय उनमें बहुतो को देवों आदि द्वारा घोर उपद्रवों

को सहना पड़ता है किन्तु पुरुषों में सिंह के समान वे मुनि अपने चित्त को ज्ञानमय भावना में लीन कर उन उपसर्गों को सहते हैं और अपने शुद्धात्मध्यान से जरा भी नहीं विचलित होते। किन किन ने कौन कौन से उपसर्ग सहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रंथकार अचेतनकृत उपसर्ग और तिर्यञ्चकृत उपसर्गो के सहनेवाले महानुभावों के नाम का उल्लेख करते हैं।

सिवभूइणा विसहिओ महोवसग्गो हु वेयणारहिओ।

सुकुमालकोसलेहि य तिरियंचकओ महाभीमो ॥४६॥

राजकुमार शिवभूति ने अचेतनकृत घोर उपसर्ग और सुकुमाल और कोसल मुनियों ने तिर्यचकृत भयंकर उपद्रव सहा था। कुमार शिवभूति को क्या और कैसे अचेतनकृत उपसर्ग सहने पड़े थे इस बात का यहां उल्लेख करते हैं—

चंपापुरी में प्रचंड पराक्रम का धारक विक्रमनामक राजा राज्य करता था। उसके शिवभूति नाम का पुत्र था जो विभूति में ईश्वर की तुलना करता था। एक दिन राजकुमार शिवभूति सानंद बैठे थे कि अचानक ही उनकी दृष्टि आकाश की ओर गई और उसी काल में उत्पन्न हुई आंधी से जल परिपूर्ण मेघ को पल भर में खंड खंड रूप में छिन्न भिन्न देख सहसा उनके मन में ये विचार तरंगें उछलने लगीं—अहा! इस संसार को सर्वथा धिक्कार है। जहां पर जरा भी सुख दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु ये मूढ़ जीव क्यों इस बात को नही समझते। हाय! मोह से अन्धे ये जीव क्षणविनाशीक और दुष्ट शरीर के लिये अनेक प्रकार के आरम्भ करते रहते हैं। बस इस प्रकार वैराग्यरंग रंजित कुमार शिवभूति ने देखते-देखते तृण के समान समस्त भोगों को तिलांजलि दे दी और बन में जाकर दिगंबर दीक्षा से दीक्षित हो गये। कदाचित् योगाभ्यास और दुश्चर तप का आचरण करने वाले मुनिराज शिवभूति वन में किसी वृक्ष के नीचे प्रतिमायोग से विराजमान थे। अचानक ही वांसों के घिसने से उत्पन्न जाज्वल्यमान दावानल जलते हुये दारू वृक्ष और फटते हुये वांसों के टूटने से महा भयंकर हो समस्त वन को भस्म करने लगा और उस निर्दयी ने मुनिराज को भी घोर पीड़ा पहुँचानी प्रारम्भ कर दी। मुनिश्रेष्ठ शिवभूति परम विद्वान और संसार के विचित्र चरित्र से वास्तव में भयभीत थे। भला ऐसा भयंकर भी दावानल उनका क्या वाल वांका कर सकता था? वे धीर वीर मुनिराज जलते हुये वृक्ष के नीचे बरावर विराजमान रहे। तेजी से वृक्ष के खंडों ने अंगार का रूप धारण कर मुनि का सारा शरीर जला डाला परन्तु वे अपने ध्यान से न डिगे। दृढ़ रूप से घोर उपद्रव सहते रहे।

ऐसा साहस करने के लिए सम्यग्दृष्टि पुरुष ही समर्थ हो सकते हैं जहां पर कि बज्र गिर रहा है और भय से कंपायमान तीनों लोक ने जहां का मार्ग छोड़ दिया है वहां पर वे स्वभाव से ही समस्त शंका को छोड़कर और अपने को अखंड ज्ञानस्वरूप शरीर का धारक जानकर कभी भी अपने ज्ञान ध्यान से विचलित नहीं होते । बस इस घोर उपसर्ग के समय मुनिराज शिवभूति ने परब्रह्म परमात्मा की भावना की । कर्मों के सर्वथा नाश से केवल ज्ञान प्राप्त कर अविनाशी मोक्ष-सुख का अनुभव किया । इस प्रकार समभावी महान् मुनियों की कथाएं शास्त्र में मौजूद हैं । इसी प्रकार हे योगी ! समभाव धारण किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है । वही सम्यग्दर्शन, वही सम्यग्ज्ञान और वही सम्यक्चारित्र है उसका एकत्रित होना ही मोक्ष है और ये ही शुद्धात्मा का स्वभाव है और इसी का नाम समभाव है । इसलिये समभाव का अभ्यास करना योगियों के लिये अत्यंत आवश्यक है ऐसा गुरु का उपदेश है ।

कृतकर्मोदयदिंद सौख्यतति मेण्दुःखोत्करं वर्कुमे ।
कति मोहं तदथेंद्यमेंदु किदु दसिनात्मना दंदु सं- ।।
चितकर्म लयभागुतेय्दे नव कर्मोघास्रवं मरणगुमाः ।
कृतकृत्यं बळियं सुदुग्धमणि पंतिर्कुं निजज्योतिर्षि ।।४६।।

अर्थ— पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से अनेक प्रकार के सुख समूह और पाप के उदय से दुःख का समूह आता है । अगर ऐसा होता है तो हे योगी ! ऐसी क्षणिक पुण्य संपत्ति के ऊपर क्यों इतना मोह करता है और हर्ष विषाद क्यों करता है ? यह क्षणिक पुण्य थोड़ी देर के लिये सुख के समान प्रतीत होकर अंत में दुःख का कारण बनकर नरक गति का कारण बनता है । इससे पुनः यह जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है । वह कर्म चक्र है ऐसा समझकर हर्ष विषादों को छोड़कर इससे स्वतः उदासीन हो तो वह संचितकर्म नष्ट हो जाता है । तत्पश्चात् कृतकृत्य हुई आत्मा अपने स्व प्रकाश से उत्तम दूध के समान या रत्न के समान प्रतीत होती है । फिर वह आत्मा पाप पुण्य दोनों से भिन्न अपने आप में मग्न होकर सम्पूर्ण कर्म के नाश से पवित्र होती है ऐसा इसका सारांश है ।।४६।।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह विवेचन किया है कि पूर्वजन्म के पुण्य उपार्जन से अनेक प्रकार के इंद्रियजन्य भोग संपत्ति सहित चक्रवर्तीपद देवेंन्द्र के पद आदि बड़े बड़े पद मिलते हैं। परन्तु पाप उपार्जन से नहीं मिलते । बल्कि पाप से पाप की उत्पत्ति का फल मिलता है । परन्तु वह पुण्य भी अगर सम्यक्त्व रहित होगा तो वह केवल संसार का कारण होकर अंत में

नरकगति का कारण होता है। अगर सम्यक्त्व सहित यह भव्य जीव नरक भी पाता है तो भी अच्छा है परन्तु सम्यक्त्वरहित स्वर्ग संपदा अत्यंत दुःखदायी है। प्रथम ग्रहस्थावस्था में रहने वाले भव्य जीवों के लिये अशुभ पाप को धोने के लिये देव पूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायादि, क्रियाओं के आचरण करने के हेतु कहा गया है। गृहस्थ को इन क्रियाओं के अलावा और कोई साधन नहीं है क्योंकि जब तक वह गृहस्थावस्था में फसा हुआ रहता है तब तक उसको अशुभ कर्म और मन वचन और काय तीन योग के द्वारा आने वाले अशुभ आस्रव को रोकने के लिये प्रतिदिन इन क्रियाओं को करना उचित है।

अगर इन छहों क्रियाओं को गृहस्थ नहीं करता है तो हमेशा पापरूपी कीचड़ में फंस कर अंत में पुनः अनेक प्रकार की निद्यगतियों में उत्पन्न होता है और अनेक प्रकार के असह्य दुःख उठाने पड़ते हैं। इसलिये श्रावक अवस्था में दान पूजादि को सम्यक्त्व सहित करने के लिये आचार्य ने बतलाया है। अगर सम्यक्त्व सहित पुण्योपार्जन होगा तो वही पुण्य उत्तम देव गति में ले जाने का कारण बन जाता है और वहां के अनेक इंद्रियजन्य सुखों को मनमाना भोगकर अंत में कर्म भूमि में आकर उत्कृष्ट मनुष्यभव प्राप्त करता है और पूर्वजन्म में उपार्जन किए हुए पुण्यों को अनिच्छा पूर्वक भोगकर अन्त में संसार, शरीर और भोग से विरक्त होता है और अनेक प्रकार के भोगों को तृणवत् त्याग करके जैनेन्द्र दीक्षा अर्थात् जिनलिंग धारण कर घोर तपस्या करता है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करने के लिए मनुष्य, स्त्री, क्रूर पशु आदि अनेक जीवों के द्वारा होने वाले परीषह को सम्यक्त्व भावना से समभाव से सहन करके क्षणभर में ही मोक्षलक्ष्मी का अधिपति बन जाता है। यह पुण्य सम्यग्दृष्टि के लिए उपकारी और हितकर है, परन्तु मिथ्यादृष्टि के लिए यह पुण्य पाप बंध का कारण हैं क्योंकि ज्ञानी का पुण्य बंध का कारण नहीं है। अगर गृहस्थ अपनी षडावश्यक क्रिया अर्थात् दान पूजादि को किसी सांसारिक पंचेन्द्रिय विषय सुख की वासना लेकर करता है तो उनके द्वारा किये जाने वाला वह पुण्य कर्म इस लोक और परलोक के लिए पाप का ही कारण होता है। अगर मुनि इस संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेकर अत्यन्त कठिन तपस्या तथा काय क्लेश उपवासादि के साथ दुर्धर तप भी करे, अगर उसके मन में इह-परलोक सम्बन्धी वासना रहे तो वह भी संसारी होकर अनेक प्रकार के दुःख सहता हुए परिभ्रमण करता है ऐसा समझना चाहिए।

हे आत्मन्! तू आत्मज्ञान शून्य होकर पचेन्द्रिय विषय भोग जन्य इष्ट वस्तु में निदान करके किस किस योनि में नहीं गया, कौन सा कष्ट नहीं भोगा अर्थात् सभी योनियों में कष्ट भोगा। तेरे कष्ट के लिए बाह्य पदार्थ का ममत्व ही कारण है। तूने बहिरात्मा बनकर इस संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक

कष्ट उठाये हैं। इसलिए ग्रंथकार कहते हैं कि हे निर्बुद्धि आत्मन्! अब तू बाह्य बुद्धि छोड़कर अन्तरंग में विज्ञान निर्मल रूप आत्मानन्द निजरूप में प्रवेश कर।

पद्मनन्दी आचार्य ने भी कहा है कि—

भवरिपुरिह ताव द्दुःखदो यावदात्मन्।
तव विनिहित धामा कर्म संश्लेष दोषः ॥
स भवति किल रागद्वेषहेतोस्तदादौ ।
झटिति शिवसुखार्थी यत्नतस्तौ जहीहि ॥१४०॥

हे आत्मन्! यहां संसार रूप शत्रु तब तक ही दुःख दे सकता है जब तक तेरे भीतर ज्ञानरूपी ज्योति को नष्ट करने वाला कर्म बंध रूप दोष स्थान प्राप्त किये है। वह कर्म बंध रूप दोष निश्चय से राग और द्वेष के निमित्त से होता है। इसलिए मोक्ष सुख का अभिलाषी होकर तू सबसे प्रथम शीघ्रता से यत्न पूर्वक उन दोषों को छोड़ दे। इस लोक-परलोक के सम्बन्धी तेरे कोई नहीं है।

लोकस्य त्वं न कश्चिन्न स तव यदिह स्वार्जितं भुज्यते कः।
संबंधस्तेन सार्धं तदसति सति वा तत्र कौ रोषतोषौ ॥
कायेऽप्येवं जड़त्वात्तदनुगतसुखादावपि ध्वंसभावा ।
देवं निश्चित्य हंस स्वबलमनुसर स्थायि मा पश्य पार्श्वम् ॥

हे योगी! न तो लोक में कोई तुम्हारा है और न ही कोई तुम्हारा हो सकता है। यहाँ तुमने जो कुछ कमाया है वही भोगना पड़ता है। तुम्हारा इस लोक के साथ भला क्या सम्बन्ध है? कुछ भी नहीं है। फिर हे योगी! इस लोक और परलोक सम्बन्धी वस्तु तुझसे अलग होने से विवाद क्यों करता है? और वे सर्व पदार्थ विद्यमान होने से हर्ष क्यों मनाता है? इस तरह हर्ष और विषाद करना यह तेरी मूर्खता नहीं है तो और क्या है? इसलिए हे योगी! इस तरह शरीर या शरीर सम्बन्धी इन्द्रिय विषय वासनाओं में हर्ष विषाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सभी ज्ञानदर्शन चैतन्य आत्मा से भिन्न है और आत्मा से भिन्न जितने भी पर पदार्थ हैं वे चेतना रहित जड़ पदार्थ हैं। इसलिए इस शरीर सम्बन्धी इन्द्रिय भोग जनित विषय भोग में तुझे रागद्वेष रखना उचित नहीं है। क्योंकि वे नाशवान हैं। इस प्रकार तू अपने अन्दर ठीक समझकर निश्चय करके तू अपनी स्थिर अदम्यशक्ति का अनुसरण कर। आत्मा के समीपवर्ती लोक तथा लोक सम्बन्धी वस्तुओं को स्थायी मत समझ।

क्षणिक सुख से शान्ति नहीं मिलती।

हे आत्मन् ! क्षण क्षण में होने वाले दुःख की स्थानभूत अन्य नरक तिर्यञ्च और मनुष्य गति तो दूर रहे किन्तु आश्चर्य तो यह है कि अणिमा, गणिमादि रूप क्षणिक लक्ष्मी से रमणीय देवगति में भी तुझे शान्ति नहीं मिली क्योंकि वहाँ से भी तू मृत्यु रूपी पिशाच के द्वारा जबर्दस्ती नीचे गिराया गया है। इसलिए हे आत्मन् ! तू प्रतिदिन उस पद का ही अर्थात् मोक्ष पद का ही प्रयत्न कर।

किमालकोलाहलैरमलबोधसंपन्निधेः
समस्ति यदि कौतुकं किल तवात्मनो दर्शने।
निरुद्धसकलेन्द्रियो रहसि मुक्तसंगग्रहः
कियन्त्यपि दिनान्यतः स्थिरमना भवान् पश्यतु ॥१४४॥

हे जीव ! तेरे लिए यदि निर्मल ज्ञान रूप सम्पत्ति के आश्रयभूत आत्मा के दर्शन में कौतूहल है तो व्यर्थ के कोलाहल से क्या ? अपनी समस्त इन्द्रियों का निरोध करके तू परिग्रह पिशाच को छोड़ दे। इससे स्थिर चित्त होकर तू कुछ दिन में एकान्त में आत्मा का अवलोकन कर सकेगा। यहाँ जीव अपने चित्त से कुछ प्रश्न करता है और तदनुसार चित्त उसका उत्तर देता है। हे चित्त ! ऐसा सम्बोधन करने पर चित्त कहता है कि हे जीव ! क्या है ? इस पर जीव उससे पूछता है कि तुम कैसे स्थित हो ? मैं चिन्ता में स्थित रहता हूँ ? यह चिन्ता किससे उत्पन्न हुई है ? वह रागद्वेष के वश से उत्पन्न हुई है। उन रागद्वेष का परिचय तेरे किस कारण से हुआ ? उनके साथ मेरा परिचय इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं के समागम से हुआ। अन्त में जीव कहता है कि हे चित्त ! यदि ऐसा है तो हम दोनों ही नरक को प्राप्त करने वाले हैं। वह यदि तुझे अभीष्ट नहीं है तो इस समस्त ही इष्ट-अनिष्ट की कल्पना को शीघ्रता से छोड़ दे। जिस भगवान् आत्मा के केवल स्मरण मात्र से भी ज्ञानरूपी तेज प्रकट होता है, अज्ञानरूप अन्धकार का नाश होता है, तथा कृतकृत्यता अकस्मात् ही आनन्दपूर्वक अपने मन में प्रकट हो जाती है, वह भगवान् आत्मा इसी शरीर के भीतर विराजमान है। उसका शीघ्रता से अन्वेषण करो। दूसरी जगह (बाह्य पदार्थों की ओर क्यों दौड़ रहे हो ? हे आत्मन् ! यहाँ जो जीव और अजीवरूप विचित्र वस्तुएं, अनेक प्रकार के आकार, ऋद्धियां एवं रूप आदि रागद्वेष को उत्पन्न करने वाले हैं उनको तूने मोह के वश होकर देखा है, सुना है तथा सेवन भी किया है। इसीलिए वे तेरे लिए चिर काल से दृढ़ बंधन बने हुए हैं, जिससे कि तुझे दुःख भोगना पड़ रहा है। इस सबको जानते हुए भी तेरी वह बुद्धि आज भी क्यों बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ रही है ? मैं बाह्य मल (रज वीर्य) से उत्पन्न

हुए इस शरीर से, अनेक प्रकार के विकल्पों के समुदाय से तथा शब्दादिक से भी भिन्न हूँ। स्वभाव से मैं चैतन्यरूप अद्वितीय शरीर से सम्पन्न, कर्ममल से रहित, शांत एवं सदा आनन्द का उपभोक्ता हूँ। इस प्रकार के श्रद्धान से जिसका चित्त स्थिरता को प्राप्त हो गया है तथा जो समताभाव को धारण करके आरम्भ से रहित हो चुका है उसे संसार से क्या भय है ? कुछ भी नहीं। और यदि उपर्युक्त दृढ़ श्रद्धान के होते हुए भी संसार से भय है तो फिर और कहां विश्वास किया जा सकता है ? कहीं नहीं। हे आत्मन् ! तुझे लोक से क्या प्रयोजन है, आश्रय से क्या प्रयोजन है, द्रव्य से क्या प्रयोजन है, शरीर से क्या प्रयोजन है, प्राणों से क्या प्रयोजन है, वचनों से क्या प्रयोजन है, इन्द्रियों से क्या प्रयोजन है, क्योंकि, वे सब पुद्गल की पर्यायें हैं और इसीलिए तुझसे भिन्न हैं। तू प्रमाद को प्राप्त होकर व्यर्थ ही इन विकल्पों के द्वारा क्यों अतिशय बन्धन का आश्रय करता है ? जिन जीवों ने निरन्तर भोगों का अनुभव किया है उनका उन भोगों से उत्पन्न हुआ सुख अवास्तविक है, किन्तु आत्मा से उत्पन्न सुख अपूर्व और समीचीन है, ऐसा जिसके हृदय में दृढ़ विश्वास हो गया है वह तत्वज्ञ है। यह प्राणी प्रति समय क्षुधा तृषा आदि के द्वारा अत्यन्त तीव्र दुःख से व्याकुल होकर उनको शान्त करन के लिए अन्न एवं पानी आदि का आश्रय लेता है और उसे ही भ्रमवश सुख मानता है। परन्तु वास्तव में वह दुःख ही है। यह सुख की कल्पना इस प्रकार है जैसे कि खुजली के रोग में अग्नि के सेकने से होने वाला सुख।

हे जीव ! तूने विषय सुख के पीछे अपने आत्म स्वरूप का ख्याल न करके अनन्त काल तक दु;ख भोगा है। कहा भी है कि—

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि, नो संगतं दिनविकाशि सरोजमित्थम्।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव, प्रायः कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः॥

अर्थ—यह सरोज जल से पैदा होकर भी उसमें लिप्त नहीं हुआ, सदा उस जल से जुदा ही रहा। इससे यह जान पड़ता है कि यह कमल अति कठोर हृदय है। इसीलिए शायद हंसों ने इसको खाया नहीं। केवल दिन में ही खिला रहकर रात को मुंद जाता है, सदा विकसित भी नहीं रह पाता। अरे भोंरा ! इस कमल के ऐसे स्वभाव की तरफ तैंने कुछ ध्यान नहीं दिया। स्वभाव का विचार न करके उसमें फंसा, इसीलिए उसी में प्राणान्त हुआ।

विषयों का भी ठीक यही स्वभाव है। पुण्यकर्म का उदय जब तक रहता है तभी तक विषय भोग टिकते हैं, नहीं तो रात को कमल की तरह पुण्य कर्म के खत्म होते ही वे विलीन हो जाते हैं। आत्मा में उपज कर भी आत्मीय शुद्ध भावों में सदा ही ये विषय जुदा रहते हैं। अर्थात् जहां आत्मीय शुद्ध भावों का स्वरूप

प्रकाशमान रहता है वहाँ इन विषयों की गति नहीं होने पाती। इसीलिए शायद इन्हें तीर्थङ्कर आदि श्रेष्ठ पुरुषों ने कठोर हृदय दुःखदायक समझ कर भोगने से छोड़ दिया। ऐसे निःस्नेह निःसार क्षणभंगुर इन विषयों में जो जीव फँसते हैं वे वृथा ही मरण पाते हैं। पर व्यसनी जनों को व्यसन के सामने अपने हिताहित का भान प्रायः कहाँ रहता है? नहीं, इसीलिए तो यह कहावत है कि व्यसनी जनों को अपने हिताहित का विवेक प्रायः नहीं रहता। अरे जीव! तू ऐसे निरर्थक उल्टे दुःखदायक विषयों में भौंरे की तरह फंसकर प्राण क्यों गंवाता है। ये विषय भोगते समय तो ठीक कमल की तरह कोमल लगते हैं। पर कमल जिस प्रकार फंसे हुए भौंरे को आखिर मार कर छोड़ता है, उसी प्रकार ये विषय अपने में फँसे हुए जीवों को अनेक बार प्राणान्त दुःख के देने वाले हैं। इसलिए हंस जैसे सर्वश्रेष्ठ पुरुषों ने इन्हें दूर से ही छोड़ रखा है।

अथवा ये विषय भोग उस पत्थर के समान हैं जिस पर पानी के संसर्ग से काई लग जाती है। छूने से वह काई अत्यन्त कोमल जान पड़ती है पर पैर रखते ही मनुष्य गिरता है कि सारे अंजर पंजर टूट जाते हैं। व्यसन भी प्रथम समय तो अतीव आनन्दकारी जान पड़ते हैं, पर ज्यों ही प्राणी उसमें फंसा कि आधि-व्याधि, निर्धनता आदि अनेक दुःखमय कीचड़ में गिर पड़ता है कि जहां से निकलना तथा सम्भलना कठिन है। इस जन्म में तो ऐसे दुःख भोगने ही पड़ते हैं किन्तु पाप संचित करके जब परभव पहुँचता है तो और भी अधिक दुःखों की खान में पड़ता है। इसलिए विषयों से प्रीति करना अच्छा नहीं है।

प्रेक्ष्यैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम्॥

प्रथम तो विचार होना ही कठिन है, फिर परलोक के सुधार की तरफ विचार जाना और भी कठिन है। भाग्यवश यदि उस तरफ विचार लग भी गया तो भी करने में मनुष्य आलसी बने रहते हैं। विचार तो ढेरों करें पर जिन्हें अपने कर्तव्य की कुछ परवाह ही नहीं है ऐसे जीवों को देखकर संत पुरुषों को बड़ा खेद होता है क्योंकि वे समर्थ होकर भी हाथ से मौका जाने देते हैं।

संसार में एकेन्द्रियादि पशु नरकादि ऐसे पर्याय बहुत हैं, जिनमें पड़े हुए जीवों को सच्चा कल्याण मार्ग सूझता ही नहीं है। कहीं कहीं कुछ सूझता भी है तो बाकी साधन नहीं मिलते जिससे कि वे कुछ कर सकें। एक मात्र मनुष्य पर्याय ही ऐसा है कि जिसमें विवेक, कुल, संगति, संत उपदेश आदि कल्याण साधने की पूरी सामग्री मिल सकती है। पर उसमें भी सबों को वह सारा योग नहीं मिलता है। किन्तु जो सर्व प्रकार इस मनुष्य पर्याय में समय, साधन पा लेते हैं और

अनुभव तथा विवेक भी जिन्हें परलोक का हो जाता है वे जबकि सारा जन्म आज कल करते ही निकाल देते हैं तो उन पर साधु सन्तों को बड़ा पश्चाताप होता है। क्योंकि, जो समर्थ और धर्म धारण के अधिकारी हो चुके हैं वे यदि धर्म धारण नहीं करते तो कौन करेगा ? इसलिए जिन्हें परलोक के सुधार का विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ है उन्हें चाहिए कि वे धर्म धारण तथा सेवन करने में विलम्ब न करें। इसलिए हे जीव ! पर दृष्टि को छोड़ कर अपने स्वयं शुद्ध नित्य निरंजन अनादिकाल से शरीर के पड़ौस में पड़े हुए आत्म तत्व की आराधना कर।

यथार्थ स्वरूप के ऊपर श्रद्धान रखने वाला ही सम्यग्दृष्टि है। ऐसा आगे श्लोक में कहते हैं।

सदृष्टिय मनदेकं, स्वद्रव्यदोकल्लदेरगलरेय दमोघं।
सदृष्टि परदोकेरगं, सदृष्टिगे बाह्य चिंते पावदु ? पेंकि ॥ ५० ॥

अर्थ—यथार्थ तत्व स्वरूप में जिनका विश्वास है, उनको ही सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वह अपने मन के अनुकूल निजपदार्थ में अपने को साथी रूप समझकर सदा उसी में लीन रहता है अर्थात् अपने निजात्म तत्व के विना अन्य किसी पर वस्तु में कभी भी अपने उपयोग को नहीं लगाता है। सम्यग्दृष्टि पर वस्तुओं में आसक्त नही होता है। फिर सम्यग्दृष्टि को बाह्य चिन्ता कहाँ से हो सकती है ? नहीं हो सकती है। सम्यग्दृष्टि को हमेशा अध्यात्म चिंता रहती है बाह्य चिंता नही रहती है। ऐसा ग्रथकार ने कहा है ॥५०॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि जिसने यथार्थ निज स्वरूप को स्व पर ज्ञान के द्वारा ठीक समझ लिया है, सदा उसी में लीन रहता है और वस्तु के बीच रहते हुए भी अपने स्वरूप से च्युत होकर बाह्य वस्तु में रत नहीं होता है और अपने निजानन्द स्वरूप में रहता है, वही सम्यग्दृष्टि है ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है। सम्यग्दृष्टि का स्वरूप आचार्य ने इस प्रकार कहा है कि: —

तत्वं प्रीति मनक्केपुट्टलदु सम्यग्दर्शनं मतमा-।
तत्वार्थंगळनोलदु भेदिपुदु सम्यग्ज्ञानया बोधदिं ॥
सत्वंगळकिडदंतुटोवि नडेयल सम्यक्त्वं कु चरित्रं सुर-।
त्नत्वं मूरिवु मक्तिगेंद रूपिदे ! रत्नाकराधीश्वरा ॥

हे रत्नाकराधीश्वर ! मन में जीवादि तत्वों के प्रति प्रेम उत्पन्न होना अर्थात् श्रद्धान होना यह सम्यग्दर्शन है। उस तत्व के अर्थों को प्रेम से अर्थात्

रुचि पूर्वक भिन्न भिन्न रूप से जानना सम्यग्ज्ञान है। उस ज्ञान से प्राणियों की अर्थात् जीवों की हिंसा न हो इस तरह अहिंसा पूर्वक अपने आत्मा में तथा अपनी क्रिया में रमना चरना इसी का नाम चारित्र है। इन्हीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ऐसे तीन रत्नत्रय को प्राप्त कर सदा उसी में लीन रहने वाले भगवान जिनेन्द्र देव उसके स्वामी हैं। उसी स्वामी ने कहा है कि:—

सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये ही मोक्ष मार्ग हैं, यही मार्ग सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का मार्ग है। इसी पर रुचि रखकर जो भव्य जीव श्रद्धानपूर्वक भजता है वही सम्यग्दृष्टि है।

जैनागम में तत्व सत्ताईस प्रकार के बताये हैं। इनके ज्ञान हुए बिना स्वात्म तत्व की प्रतीति इस जीव को नहीं होती है, ऐसा कहा है—

मिगेषड्द्रव्यमनस्तिकायमेनिपैदं तत्व वेळंमनं ।
बुगलोंवत्त् पदार्थमं तिळिदाड़तन्नात्मनोमेय्यदं ॥
दुर्गदि बेरोड़लेन चेतन में जीवं चेतनं ज्ञानरू ।
पिडिगायॅदरिदिर्द ने सुखियला ! रत्नाकराधीश्वरा ॥

हे रत्नाकराधीश्वर ! हे रत्नत्रय के अधिपति जिनेंद्रदेव। तुमने भव्य जीवों को यह बताया है कि जीव, पुद्गल धर्म अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ऐसे ये पाँच अस्तिकाय हैं। जीव तत्व, अजीव तत्व, आस्रवतत्व बंधतत्व, संवरतत्व, निर्जरातत्व, और मोक्षतत्व ऐसे ये सात तत्व हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप और पुण्य ये नौ पदार्थ हैं। इन नौ पदार्थों को मनः पूर्वक समझ लेना चाहिये। शरीर जड़ है और अचेतन है। जीव चेतन स्वरूप ज्ञान स्वरूप है। इस तरह ये दोनों भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। ऐसे जिसने इन दोनों को अपने स्वपर ज्ञान से भेद ज्ञान ठीक और भिन्नभिन्न समझ लिया है, वही भेद ज्ञानी सुखी नहीं है क्या ? अर्थात् वही सुखी है।

अरिन्निदी क्षिसलक्कु यात्मनिरवं देहं बोली कण्गे तां ।
गुरियागं शिलेयोळ्सुवर्णमरलोळ्सोरभ्यमाक्षीरदोक् ॥
नरू नेय्काष्टदोळग्निर्यिर्प तेरदिंदो मेय्योळांदिर्पनें ।
दरिदभ्यासिसे कण्गुमेंदरूपिऽदै ! रत्नाकराधीश्वरा ॥

आत्मा चर्म चक्षुओं के गोचर न होकर अनुभव गम्य है । इसलिये ज्ञानी के लिये हमेशा स्व पर ज्ञान की आवश्यकता है । इसलिये कहा भी है कि हे रत्नत्रय के अधिपति भगवान् जिनेन्द्रदेव ! आपने यह कहा है कि आत्मा की स्तुति को ज्ञान से देख सकते हैं । जैसे पत्थर में सोना, पुष्प में सुगंध, दूध में घी, काष्ठ में अग्नि है, उसी प्रकार इस सर्वांग शरीर में आत्मा भरी हुई है । ऐसे उसको स्व पर ज्ञान के द्वारा समझकर अभ्यास करने से वह अनुभव गोचर होता है । इस प्रकार जिनेश्वर ने इस भाव को समझाया है । इसी प्रकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए मार्ग के अनुसार स्व पर ज्ञान के द्वारा निरीक्षण करने से जैसे घड़े के अन्दर आकाश भरा हुआ है इस तरह शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव या ज्ञान होता है । तत्पश्चात् ज्ञानी जीव उसको अलग करने के लिये अभ्यास इस प्रकार करता है कि:—

मत्ताकल्लने सोदिसल्कनकमं काण्वंते पालैक्रमं ।
वेत्तोळिपं मथनं गेयल्धृतमुमं काण्वंते काष्ठगळं ।।
ओत्तांवं पोसेदग्नि काणवतेरर्दि मेय्वेरे वेरानेनु ।
त्तित्तभ्यासिसेलेन्न काण्वुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा ।।

पुनः उसी पत्थर को ही अन्वेषण करने से जैसे सोना दीखता है, जैसे दूध को गर्म करके अच्छी तरह से उसको मंथन करने से घी निकलता है । काष्ठ को काष्ठ से रगड़ने से अग्नि प्रतीत होती है, इसी तरह शरीर से यह आत्मा भिन्न है । इस तरह भेद विज्ञान के अभ्यास से मुझको मेरे अन्दर देखने में क्या असाध्य है ? इस प्रकार भगवान वीतराग देव के इस मार्ग पर श्रद्धान रखकर जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव रुचि पूर्वक अपने आत्मा को स्व पर ज्ञान के द्वारा अपने अन्दर रत होकर देखते हैं उन्हें आत्मा का अनुभव होने में क्या देर लगती है दूध पानी के समान जीव और कर्म का संयोग है । कहा भी है कि:—

संबंधो एदेसि णायव्वो खीरणीरणाएण ।
एकत्तो मिलियाणं णियणियसब्भाजुत्ताणं ।।

जैसे दूध और पानी मिले हुए एकमेव हो जाते हैं । पानी दूध की सफेदी व चिकनाई में छिप जाता है । वह दूध के नाम से पुकारा जाता है तो भी दूध ने दूधपने का व पानी ने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा है । हंस दूध को पीकर पानी को छोड़ देता है । इसी तरह जीव अनादि काल से आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों के साथ मिलता विछुड़ता हुआ चला आ रहा है । तथापि जीव अपने स्वभाव को व कर्म पुद्गल अपने स्वभाव को खो नहीं बैठे । दोनों का अपना स्वभाव दोनों में है ।

दो पदार्थों को मिला हुआ देख कर भी प्रत्येक का अपना अपना स्वभाव जैसा का तैसा जानना ही ठीक ज्ञान है या सम्यग्ज्ञान है। आत्मा में जो उपयोग स्वभाव है वह जड़ शरीरादि में नहीं है। आत्मा ज्ञाता भी है व ज्ञेय भी है और सर्व द्रव्य ज्ञाता नहीं हैं केवल ज्ञेय हैं, आत्मा के द्वारा जानने के योग्य है।

समयसार जी में भी कहा है—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥
एहि य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिगो जम्हा॥

वर्णादि, रागादि, गुणस्थानादि जीव के व्यवहारनय से कहे गये हैं, निश्चयनय से इनमें कोई भी जीव के नहीं है। इनका संयोग सम्बन्ध जीव के साथ, दूध पानी के मेल के समान है। जैसे दूध पानी से भिन्न है, वैसे जीव से ये सब भिन्न हैं। जीव उनसे उपयोग गुण से अधिक है। जीव शुद्ध उपयोग का धारी है।

भेदविज्ञान का माहात्म्य।

जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरभरुणजोएण॥

भेद विज्ञान एक कला है या चतुराई है जिससे संयोग प्राप्त पदार्थ मिले हुए रहते भी भिन्न भिन्न देखे जाते हैं। दूध व पानी मिले रहने पर भी उनमें भिन्नता झलकती है। सुवर्ण चांदी में मिले होने पर भी सर्राफ को सुवर्ण चांदी से भिन्न दिखाई देता है।

धान्य के भीतर किसान को चावल और छिलका अलग अलग दिखाई पड़ता है। तेली को तिलों के भीतर तेल और भूसी अलग दीखती है सागभाजी में चतुर पुरुष को लवण व भाजी का भिन्न भिन्न स्वाद आ जाता है वैद्य को एक गोली में भिन्न भिन्न औषधियों का पता लग जाता है।

इसी तरह तत्वज्ञानी जीव जो छहों द्रव्यों के गुण व पर्यायों को भिन्न भिन्न समझता है, जीव और पुद्गलो में वैभाविक शक्ति के कारण परस्पर संयोग होते हुए जो नाना प्रकार जीव समास, मार्गणा, व गुणस्थान के भेद व्यवहार से जीव में कहे जाते हैं उन सब के भीतर अपनी प्रज्ञा शक्ति से जीव के स्वभाव को अजीव के स्वभाव से भिन्न देखता है। उस भेदविज्ञानी महात्मा को एक वृक्ष, एक लट, एक चींटी, एक मक्खी, एक मृग, एक स्त्री, एक पुरुष, रोगी निरोगी,

सुन्दर असुन्दर क्रोधी मानी, मायावी, लोभी कामी प्राणियों के भीतर आत्मा अपने मूल स्वभाव में पर से भिन्न सिद्ध के समान शुद्ध दिखता है और पुद्गल भिन्न दिखता है।

संसारी आत्माओं में व अनन्त सिद्धात्माओं में भेद ज्ञान एक समान पुद्गल के स्वभाव को देख लेता है। इसी भेदविज्ञान से ज्ञानी मानव अपनी आत्मा को औदारिक तैजस कार्माण शरीरों से व सर्व रागादि विभावों से भिन्न देखता है। व्यवहार में वह कहता है कि मैं मानव हूँ परन्तु वह जानता है कि यह कहना मानव गति व आयुकर्म के उदय से प्राप्त मानव की अवस्था की अपेक्षा से है। मैं तो निश्चय से पवित्र आत्मा हूँ। मनुष्य की देह छूट जायेगी, आत्मा बनी रहेगी। पुराने कर्म छूटते हैं, नये कर्म बंधते हैं, आत्मा वही रहती है। किसी आकाश में धूंआ छाया हुआ है, नया आता है, पुराना जाता है, आकाश के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह संयोग सम्बन्ध होने पर भी आकाश अमूर्तिक भिन्न है। धुंआ मूर्तिक भिन्न है। ऐसे ही कर्मों के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग सम्बन्ध होने पर भी जीव अमूर्तिक भिन्न है, मूर्तिक कर्म पुद्गल भिन्न हैं। इसी को भेद विज्ञान या प्रज्ञा कहते हैं।

आगे योगी के लिए कहते हैं कि हे योगी ! तू अपने अन्दर ही अपने को जान कर अपने को आप ही प्राप्त होगा—

अरिबुदुदरिवरिये पडुवुदु पेरतल्ते दरिदु भेदषटकारकदिं ।
नेरेदात्म ननाराधिप तेरनं बल्लवने योगि निजगुण निरता ॥ ५१ ॥

अर्थ—अपनी आत्मा के गुणों में जो रुचि पूर्वक रत हो जाता है वही अपनी आत्मा को ठीक जान सकता है जो अपने अन्दर जानने का ज्ञान, जाननपाना, जाना गया ज्ञेय है ये सभी अलग नहीं है। जानने वाला मैं हूं और अपने आप को जानता हूं और ज्ञेयाकार भी मैं हूं, यह मुझसे भिन्न नहीं है। कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान अधिकरण विभक्ति तक कारकों के छह भेद होते हैं। इन छह विभक्तियों के द्वारा आत्मा को जानकर आराधना करने वाला ही अपने आत्म स्वरूप को जानने वाला योगी है।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि जो ज्ञानी अपने आत्मा गुणों में रत होकर अपने को जानता है, वह षट् कारक रूप आप ही होता है। जैसे अपने को अपने द्वारा अपने लिए अपने का, अपने में, । इस तरह सत्स्वभाव की दृष्टि से अपने अन्दर देखा जाय तो आप ही षट् कारक रूप है। इस प्रकार ज्ञानी जीव अपने अन्दर रत हो करके निश्चय नय से अपने अन्दर मिल जाता

है और आप ही पट् कारक रूप है। जव यह आत्मा पर वस्तु में राग करती है तो 'मैंने किया' इस प्रकार वह उसका कर्ता वन जाता है। ये अज्ञान भाव है। मैंने दूसरे को वाँधा, ऐसा कहना यह राग परिणति है। विकार भाव से दूसरे को वांधने की जो भावना करता है, यह अज्ञान भाव है। वह व्यवहार दृष्टि से पर वस्तु का कर्ता वन जाता है। अपने लिए यह सम्प्रदान है। पर द्रव्य की इच्छा करना तथा मांगना यह भी अज्ञान भाव है। मेरे द्वारा किया गया, मैंने लिखा, मैं लिख रहा हूँ परन्तु यहाँ करण जो लिखने वाले की कलम इसके अन्दर आत्म बुद्धि करता है। यह भी अज्ञान भाव है। अविकरण जिस आधार पर कर्म हो उसे अविकरण कहते हैं। इस प्रकार जो है व्यवहार है परन्तु आत्मा उसका कर्ता धर्ता नहीं है, केवल राग परिणति करने के कारण यह आत्मा इस प्रकार अपने को कर्ता, कर्म मानता है। परन्तु किसी दूसरे का पट् कारक नहीं है यह आत्मा खुद ही पट् कारक है। प्रवचन सार में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है कि—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

शुद्धोपयोग का फल जो केवलज्ञानमय शुद्धात्म का लाभ है वह जिस समय इस आत्मा को होता है, तव कर्ता कर्मादि छह कारक रूप आप ही होता हुआ स्वाधीन होता है, और किसी दूसरे कारक को नहीं चाहता है। जैसे शुद्धोपयोग के प्रभाव से केवल ज्ञानादि गुणों को प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार वही आत्मा स्वयंभू नाम वाला भी होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तात्पर्य यह है, कि जो आत्मा केवल ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों को प्राप्त हुआ हो, उसी का नाम स्वयंभू है। क्योंकि व्याकरण की व्युत्पत्ति से भी जो 'स्वयं' अर्थात् आप ही से अर्थात् दूसरे द्रव्य की सहायता विना ही "भवति" अर्थात् अपने स्वरूप होवे, इस कारण इसका नाम स्वयंभू कहा गया है,। यह आत्मा अपने स्वरूप की प्राप्ति के समय दूसरे कारक की इच्छा नहीं करता है। आप ही छह कारकरूप होकर अपनी सिद्धि करता है, क्योंकि आत्मा में अनन्त शक्ति है। कैसा है वह ? प्राप्त किया है, घातिया कर्मों के नाश से अनन्त ज्ञानादि शक्ति रूप अपना स्वभाव जिसने। फिर कैसा है ? तीन काल में रहने वाले सव पदार्थों को जानने वाला है ? फिर क्या है ? स्वयंभू आत्मा तीनों भुवनों के स्वामी इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती द्वारा पूजित है। फिर क्या है ? अपने आप ही पर की सहायता के विना अपने शुद्धोपयोग के वल से अनादि अविद्या से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के वन्धों को तोड़कर निश्चय से इस पदवी को प्राप्त हुआ है, अर्थात् सकल सुर, असुर, मनुष्यों के

स्वामियों से पूज्य सर्वज्ञ वीतराग तीन लोक का स्वामी शुद्ध अपने स्वयंभूपद को प्राप्त हुआ है।

अब षट् कारक दिखाते हैं—कर्ता १ कर्म २ करण ३ संप्रदान ४ अपादान ५ अधिकरण ६ ये छह कारकों के नाम हैं, और ये सब दो दो तरह के हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। उनमें जिस जगह पर के निमित्त से कार्य की सिद्धि की जाय, वहां व्यवहार षट्कारक होता है, और जिस जगह अपने में ही अपने को उपादान मानकर अपने कार्य की सिद्धि की जावे, वहाँ निश्चय षट्कारक है। व्यवहार छह कारक उपचार असद्भूतनयकर किये जाते हें। अपने को आपही करता है, इस कारण निश्चयकारक सत्य है। जो स्वाधीन होकर करे वह कर्ता, जो कार्य किया जावे वह कर्म, जिसके द्वारा किया जावे वह करण, जिसके लिये किया जावे वह संप्रदान, जो एक अवस्था को छोड़ दूसरी अवस्था रूप होवे, वह अपादान, जिसके आधारित कर्म होवे, वह अधिकरण कहा जाता है। अब दोनों कारकों का दृष्टांत देते हैं। उनमें प्रथम व्यवहार कारक इस तरह है—जैसे कुंभकार (कुम्हार) कर्ता है, घड़ा रूप कार्य को करता है, इससे घट कर्म है। दण्ड चक्र चीवर (डोरा) आदि द्वारा वह घट कर्म सिद्ध होता है, इसलिए दण्ड आदिक कारण कारक है। जल वगैरह के भरने के लिए घट किया जाता है, इस लिए संप्रदान कारक है। मिट्टी की पिण्ड रूपादि अवस्था को छोड़ घट अवस्था को प्राप्त होना अपादान कारक है। भूमि के आधार से घटकर्म किया जाता है, बनाया जाता है, इसलिए भूमि अधिकरण कारक समझना चाहिए इस प्रकार ये व्यवहार कारक हैं। क्योंकि इनमें कर्ता दूसरा है, कर्म अन्य है, करण अन्य ही द्रव्य है, दूसरे ही को देना दूसरे से करना। आधार अलग ही है। निश्चय छह कारक अपने आप ही में होते हैं, जैसे—मृत्तिका द्रव्य (मट्टी) कर्ता है, अपने घट परिणाम कर्म को करता है, इसलिए आप ही कर्म है, आप ही अपने घट परिणाम को सिद्ध करता है, इसलिए स्वयं ही करण है। अपने घट परिणाम को करके अपने को ही सौंप देता है, इस कारण आप ही संप्रदान है। अपनी मृत्पिंड अवस्था को छोड़ अपनी घट अवस्था को करता है, इसलिए आप ही अपादान है। अपने में ही अपने घट परिणाम को करता है, इसलिए आप ही अधिकरण है। इस तरह ये निश्चय षट्कारक हैं, क्योंकि किसी भी दूसरे द्रव्य की सहायता नहीं है, इस कारण अपने आपमें ही ये निश्चयकारक साधे जाते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा संसार अवस्था में जब शुद्धोपयोगभावरूप परिणमन करता है, उस समय किसी दूसरे की सहायता (मदद) न लेकर अपनी ही अनन्त शुद्धचैतन्य शक्ति संचय कर आपही छह कारक रूप होके केवल ज्ञान को पाता है, इसी अवस्था में स्वयंभू कहा जाता है। शुद्ध अनन्तशक्ति तथा ज्ञायक स्वभाव होने से अपने आधीन होता हुआ यह आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को करता है, इसलिए

आप ही कर्ता है, और जिस शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को करता है, वह आत्मा का कर्म है, सो वह कर्म आप ही है, क्योंकि शुद्ध अनन्त शक्ति, ज्ञायक स्वभाव से अपने आपको ही प्राप्त होती है, वहां यह आत्मा ही कर्म है। यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मीय परिणामों द्वारा स्वरूप का साधन करता है, वहां पर अपने अनन्त-ज्ञान द्वारा करणकारक होता है, । यह आत्मा अपने शुद्ध परिणामों को करती हुई अपने को ही देती है, उस अवस्था में शुद्ध अनन्तशक्ति ज्ञायक स्वभाव कर्म कर आपको ही स्वीकार करती हुई संप्रदान कारक होती है, । यह आत्मा जब शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होती है, उस समय इस आत्मा के सांसारिक अशुद्ध—क्षायोप-शमिक मति आदि ज्ञान का नाश होता है, तब अपादानकारक होता है। यह आत्मा जब अपने शुद्ध अनन्त शक्ति ज्ञायक स्वभाव की आधार है, उस दशा में अधिकरण कारक को स्वीकार करती है। इस प्रकार यह आत्मा आप ही षट्कारक रूप होकर शुद्ध स्वरूप को प्रगट करता है, तभी स्वयंभू पदवी को पाता है। अथवा अनादि काल से बहुत मजबूत बंधे हुए घातिया कर्मों को (ज्ञानावरण १ दर्शनावरण२ मोहनीय ३ अन्तराय ४) नाश करके आप ही प्रगट हुई है, दूसरे की सहायता कुछ भी नहीं ली, इस कारण स्वयंभू कहा जाता है, । यहाँ पर कोई प्रश्न करे, कि पर की सहायता से स्वरूप की प्राप्ति क्यों नहीं होती ? उसका समाधान—कि जो यह आत्मा पराधीन होवे, तो आकुलता सहित हो जाय, और जिस जगह आकु-लता है, वहां स्वरूप की प्राप्ति नहीं । इस कारण पर की सहायता बिना ही आत्मा निराकुल होता है, इसी दशा में अपनी सहायता से आप को पाता है । इसलिए निश्चय करके आप ही षट्कारक है। जो अपनी अनन्तशक्ति रूप संपदा से परिपूर्ण है, तो वह दूसरे की इच्छा क्यों रक्खे ? अर्थात् कभी नहीं।

मूर्ख (मूढ़ अज्ञानी) जीव पर पदार्थ में निज पदार्थ को ढूंढता है।

परतत्वद भावनेपोलु परमार्थ मुक्तियेंदु नंबुवोडर्दारं ।
स्थिरमागदु सम्यक्त्वं परमार्थ ताने तन्नोळ् निले मुक्तं ।।५२।।

अर्थ—पर तत्व भावना से मुक्ति होगी, मूर्ख बहिरात्मा जीव ऐसा विश्वास करके उसी को मोक्ष मार्ग तथा उसी को सुख का कारण मानने की भावना करता है। इस प्रकार मिथ्या भावना से सम्यक्त्व स्थिर होता है, उसी के अन्दर तत्व वस्तु की प्राप्ति होती है, पर वस्तु ही मोक्ष साधन है, ऐसी कपोल कल्पित जो मिथ्या भावना करता है, उससे कभी भी म्यक्त्व स्थिर नहीं रह सकता है । यदि सम्पूर्ण पर पदार्थ को हटा करके अन्दर ही लीन होकर अपने आपको देखेगा निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति होगी ।।५२।।

विवेचन—ग्रंथकार इस श्लोक में कहते हैं कि अज्ञानी जीव पर वस्तु के अन्दर ही सम्यक्त्व की स्थिरता होती है ऐसी कल्पना करता है। यह जीव अनादि काल से मिथ्या मार्ग में परिभ्रमण करता आया है। जहाँ अपनी चीज नहीं है वहां अपनी वस्तु की प्राप्ति नहीं है, ऐसी वस्तु में अपनी वस्तु के अन्वेषण करने का प्रयत्न करता है। वह धतूरा बो करके नारियल की इच्छा करता है। वबूल के झाड़ वो करके आम की इच्छा करता है, । घास बो करके धान की इच्छा करता है, । चोर के अन्दर सत्यता की खोज करता है । दुष्ट स्त्रियों को पतिव्रता समझता है, । कोयले के अन्दर सफेदी की इच्छा करता है फूंस के अन्दर धान के कण की इच्छा करता है, गञ्जे के सिर पर बाल को देखता है । इस तरह से पाप मार्ग में अर्थात् नित्य निरंजन निर्विकार से रहित रूपी पदार्थ में, आत्मा से भिन्न पर पदार्थ में अपने निज स्वभाव को ढूंढता है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न पर पदार्थ में अपने स्वरूप को ढूढने वाले मूर्ख ही हैं । इसलिए आचार्य यह कहते हैं कि सम्यक्त्व के विरुद्ध जितना भी पाप मार्ग है, उससे सम्यक्त्व की स्थिरता नहीं होती इसलिए सम्यक्त्व का घात करने वाले जितने भी पर पदार्थ हैं, जितने कुधर्म हैं, जितने भी कुगुरु कुदेव कुशास्त्र है उनसे कभी भी सम्यक्त्व की वृद्धि होकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

मूर्ख लोग धर्म के बारे में अनेक प्रकार के मिथ्या मार्ग का अवलम्बन कर उससे सम्यक्त्व की सिद्धि करना चाहते हैं परन्तु जैसे कोयले को पानी से धोकर सफेद करना चाहता है उसी प्रकार मिथ्यात्व की आराधना से सम्यक्त्व की प्राप्ति करना चाहते हैं। इसके बारे में स्वामी कार्तिकेयानुपेक्षा में कहा भी है कि जब तक सच्चा देव, सच्चा गुरु सच्चा शास्त्र को प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान से जानकर उस पर श्रद्धान न हो ज्ञान न हो अथवा सच्चा चारित्र उस पर न हो तब तक मुक्ति का मार्ग उनके लिए अत्यन्त दुर्लभ है। सबसे पहले सर्वज्ञ के अर्थ को जान लेना अत्यन्त जरूरी है। कहा भी है कि—

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ।। ३०२ ।।

सर्वज्ञ का अर्थ है सबको जानने वाला और सबसे मतलब है—समस्त लोक और अलोक में वर्तमान सब द्रव्यों को और उनके सब पर्यायों को जानना । जो ऐसा जानता है वही सर्वज्ञ है। और वही वास्तव में देव है क्योंकि वह अनन्त चतुष्टय स्वरूप परमानन्द में क्रीड़ा करता है। कहा भी है—जो अनेक प्रकार के समस्त चराचर द्रव्यों को तथा उनके सब गुणों को और उनके भूत, भविष्यत और वर्तमान सब पर्यायों को एक साथ प्रति समय पूरी तरह से जानता है उसे सर्वज्ञ

कहते हैं। उस सर्वज्ञ जिनेश्वर को नमस्कार हो। किन्तु इस तरह से तो श्रुतज्ञानी को भी सर्वज्ञ कहा जा सकेगा, क्योंकि वह भी आगम के द्वारा सब पदार्थों को जानता है। इसी से श्रुतज्ञानी को केवलज्ञानी के तुल्य बतलाया है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए ही जानने के पहले प्रत्यक्ष विशेषण रखा गया है। श्रुतज्ञानी सबको परोक्ष रूप से जानता है इसलिए उसे सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। जो समस्त लोकालोक को हथेली पर रखी हुई मणि की तरह प्रत्यक्ष जानते हैं वही सर्वज्ञ भगवान हैं।

आगे सर्वज्ञ को न मानने वाले मीमांसकों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि —

जदि ण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिंदिय अत्थं।
इन्द्रिय-णाणं ण मुणदि थूलंपि असेस-पज्जायं ॥ ३०३ ॥

यदि सर्वज्ञ न होता तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जानता ? इन्द्रियज्ञान तो सब पर्यायों को भी नहीं जानता है।

चार्वाक और मीमांसक सर्वज्ञ को नहीं मानते। चार्वाक तो एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। जो इन्द्रियों का विषय नहीं है वह कोई वस्तु ही नही. ऐसा उसका मत है। सर्वज्ञ भी किसी इन्द्रिय से गोचर नहीं होता अतः वह नहीं है यह चार्वाक का कहना है। मीमांसक छह प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थोपपत्ति और अभाव। इनमें से शुरू के पांच प्रमाण वस्तु के सद्भाव को विषय करते है। जो इन पांच प्रमाणों का विषय नहीं है वह कोई वस्तु नहीं है। सर्वज्ञ भी पांचों प्रमाणों का विषय नहीं है अतः सर्वज्ञ नहीं है ऐसा मीमांसक का मत है। आचार्य कहते हैं कि जगत में ऐसे बहुत से पदार्थ हैं जो इन्द्रियगम्य नहीं हैं। जैसे सूक्ष्म पदार्थ परमाणु, अन्तरित पदार्थ पूर्वकाल में हो गये राम रावण आदि और दूरवर्ती पदार्थ सुमेरु वगैरह। ये पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा नहीं देखे जा सकते। यदि कोई सर्वज्ञ न होता तो इन अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व हमें कैसे ज्ञात होता। इसी से समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में सर्वज्ञ की सिद्धि करते हुए कहा है—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योकि उन्हें हम अनुमान से जान सकते हैं। जो वस्तु अनुमान से जानी जा सकती है वह किसी से प्रत्यक्ष भी होती है जैसे आग। शायद कोई कहे कि इन पदार्थों का ज्ञान तो इन्द्रिय से हो सकता है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियां तो सम्बद्ध, वर्तमान और स्थूल पदार्थों को ही जानने में समर्थ हैं। अतः वे स्थूल की भी भूत भविष्यत सब पर्यायों को नहीं जानती है। तब अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जान सकती हैं।

सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करके आचार्य सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

तेणुवइट्ठो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं।
पढमो बारह भेओ दह-भेआ भासिओ बिदिओ ॥ ३०४ ॥

जो आत्मा को नरेन्द्र, सुरेन्द्र और मुनीन्द्र से वन्दनीय मुक्ति स्थान में धरता है उसे धर्म कहते हैं। अथवा जो संसारी प्राणियों को उत्तम सुख में धरता है यानी उनका उद्धार करता है वह धर्म है। अथवा जो ससार समुद्र में गिरते हुए जीवों को उठाकर नरेन्द्र, देवेन्द्र वगैरह से पूजित अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों से युक्त मोक्ष पद में धरता है उसे धर्म कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान ने उस धर्म के दो भेद किये हैं—एक परिग्रह से घिरे हुए गृहस्थी के लिए और एक परिग्रह रहित मुनियों के लिए। श्रावक धर्म बारह प्रकार का कहा गया है और मुनि धर्म दस प्रकार का है।

आगे श्रावक के बारह भेदों के बारे में वर्णन करते हुए कहा है कि—

सम्मद्दंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं।
वय-धारी सामाइउ पव्व-वई पासुयाहारी ॥ ३०५ ॥
राई-भोयण-विरओ मेहुण-सारंभ-संग-चत्तो य।
कज्जाणुमोय-विरओ उद्दिट्ठाहार-विरदो य ॥ ३०६ ॥

शुद्ध सम्यग्दृष्टि, मद्य आदि स्थूल दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि, व्रतधारी, सामायिकव्रती, पर्वव्रती, प्रासुकाहारी, रात्रिभोजनत्यागी, मैथुनत्यागी, आरम्भ त्यागी, परिग्रह त्यागी, कार्यानुमोदविरत और उद्दिष्ट आहारविरत, ये श्रावक धर्म के बारह भेद हैं।

सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष बतलाते हैं—तीन मूढता आठ मद, छः अनायतन और आठ शंका आदि दोष। इन पच्चीस मलों से रहित अविरत सम्यग्दृष्टि प्रथम भेद है। मद्य, मांस, मधु, पांच उदम्बर फल, और जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, परस्त्री और चोरी इन सातों व्यसनों का त्यागी शुद्ध सम्यग्दृष्टि दूसरा भेद है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालक श्रावक तीसरा भेद है। सामायिक व्रत का पालक चौथा भेद है। चारों पर्वों में प्रोषधोपवास व्रत करने वाला पांचवां भेद है। सचित्त जल, फल, धान्य वगैरह का त्यागी छठा भद है। रात्रि भोजन त्याग सातवां भेद है। कोई आचार्य इसके स्थान में दिवा मैथुन त्याग कहते हैं। चार

प्रकार की स्त्री का त्यागी अर्थात् ब्रह्मचर्य आटवां भेद है। गृहस्थ के योग्य खेती व्यापार आदि आरम्भ का त्याग नौवाँ भेद है। खेत, मकान, धन, धान्य आदि दस प्रकार की परिग्रह का त्याग दसवां भेद है। आना, जाना, घर वगैरह बनवाना, विवाह करना, धन कमाना आदि, आरम्भों में अनुमति न देना, ग्यारहवां भेद है। अपने उद्देश्य से बनाये गये आहार आदि का त्याग, बारहवां भेद है। ये श्रावक धर्म के बारह भेद हैं।

जो उत्तम गुणों को ग्रहण करने में तत्पर रहता है, उत्तम साधुओं की विनय करता है तथा साधर्मी जनों से अनुराग करता है वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है। वह देह में रमे हुए भी जीव को अपने ज्ञान गुण से भिन्न जानता है। तथा जीव से मिले हुए भी शरीर को वस्त्र की तरह भिन्न जानता है।

जो वीतराग अर्हन्त को देव मानता है, सब जीवों पर दया को उत्कृष्ट धर्म मानता है और परिग्रह के त्यागी को गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि जीव, भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा, और विषाद इन अठारह दोषों से रहित भगवान् अर्हन्त देव को ही अपना परम आराध्य मानता है। तथा स्थावर और त्रसजीवों की मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से हिंसा न करने को परम धर्म मानता है। कहा भी है—वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं, उत्तम क्षमा आदि को धर्म कहते हैं, रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं। तथा १४ प्रकार की अंतरंग परिग्रह और दस प्रकार की वहिरंग परिग्रह के त्यागी को सच्चा गुरु मानता है। इसलिए हे योगी! तू अन्तरंग और वहिरंग परिग्रह से रहित अपने अन्दर अनादि काल से निर्मल अनन्त गुणों के भण्डार शुद्धात्म को प्राप्त करना चाहता है तो वह अपने अन्दर ही है। अज्ञान दुर्गति के लिए कारण है और सुज्ञान मोक्ष का कारण है—

अज्ञानवे दुर्गतिकर मज्ञानमे सकलदुःखदोंदावासं।

अज्ञान मनुल्दिर्र सुज्ञान दोलेसगु मुक्तिललनासवता ॥५३॥

अर्थ—मुक्ति वनिता में आसक्त होने वाला अज्ञानी जीव अज्ञान के मार्ग को छोड़कर मोक्ष लक्ष्मी को देने वाले आत्म ज्ञान में रत नहीं होता है। क्योंकि अनादि काल से अज्ञान का संस्कार होने के कारण अज्ञानी जीव को जितना भी ज्ञान का उपदेश दिया जाय या सद्गुरु का समागम हो फिर भी उसका अज्ञान दूर नहीं होता है। क्योंकि उसके स्वभाव ने आज तक उसके मन के अन्दर प्रवेश नहीं किया है। और ये ही अज्ञान दुर्गति को उत्पन्न करने वाला होता है।

अज्ञान ही दु:ख की खान है। इसलिए अज्ञानी जीव को अज्ञान को छोड़कर सुज्ञान में आसक्त होने का उपदेश आचार्य ने दिया है ।।५३।।
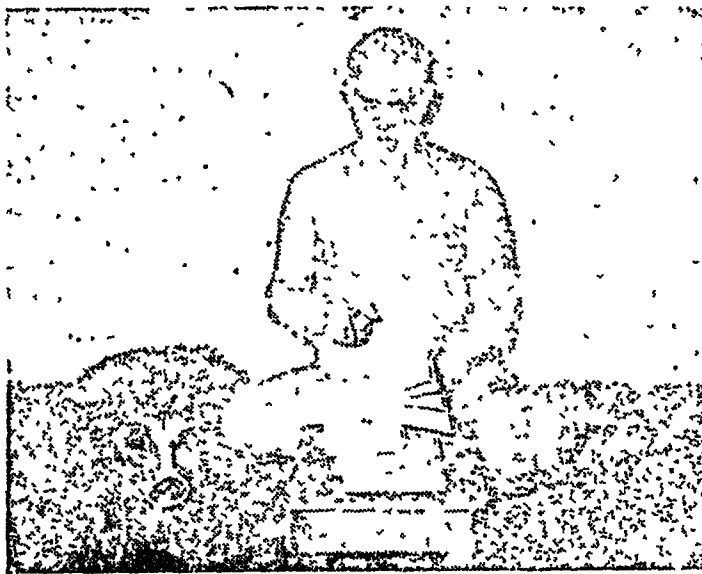
अज्ञानी जीव को अज्ञान छोड़कर सुज्ञान में आसक्त होने का उपदेश देते हुए आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज।

विवेचन— आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि बहिरात्मा जीव का जब तक अज्ञान दूर नहीं होता है तब तक उसको सच्चा आत्म हित प्राप्त नहीं होता है। इसलिए इसमें यह बतलाया है कि हे योगी ! अगर तुझे सच्चा आत्म ज्ञान करना है तो अज्ञान के मार्ग को छोड़कर सुज्ञान मार्ग में प्रवेश कर, अज्ञान ही संसार के लिए कारण है। अज्ञान से अनेक प्रकार की निंद्य गति में परिभ्रमण करना पड़ता है, और हमेशा के लिए दुर्गति का कारण है, इसलिए अज्ञान को छोड़कर सुज्ञान की आराधना करने के लिए आचार्य ने उपदेश दिया है। मूढ़ प्राणी अज्ञान से अपना नाश आप ही करलेता है। कहा भी है कि—

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवोदितः पुरा ।
यदत्र किंचित् सुखरूपमाप्यते तदर्थं विद्धचन्धकवर्तकीयकम् ।।१००।।

अब कदाचित् तू उपदेश पाकर सुधर जायगा। पर अभी तक तो तुझे कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ। तूने आज तक अपने ही हाथ से अपने ही नाश के कारण इकट्ठे किये हैं। जैसे कोई बकरा कटने के लिए आप ही जमीन में गढ़ी हुई छुरी को पैरों से खोद खाद करके काटने वाले के सामने कर दे। अथवा ऊपर से पड़ती हुई तलवार के नीचे आप ही अपना सिर झुकादे,

जिससे कि बेमौत ही उसका मरण हो जाय। ठीक ही है, जब तक हिताहित का ज्ञान ही नहीं है तब तक अपने हाथ से अपना अहित कर लेना भी क्या बड़ी बात है।

यहाँ शंका उठती है कि जीवों के सभी काम जब कि दुःखदायक नहीं है तो सभी को अजाकृपाणीय या आप ही अपना घातक कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि, जो जीव जब तक आत्म कल्याण की खोज में नहीं लगा है तब तक उसकी सारी क्रियाएं चाहे सुखसाधक दीखती हों या दुःखसाधक, पर बाहरी मोह से भरी हुई होने के कारण उन्हें पाप तथा दुःख का ही कारण कहना चाहिए और कदचित् पंचेन्द्रिय भोगोपभोग की सिद्धि होते देखकर उन क्रियाओं में सुख क्रियाएं कितनी हैं? सुख कितनी जगह दीख पड़ता है? इस प्रकार विचार करेंगे तो जान पड़ेगा कि सुख का मिलना बहुत ही कठिन है। दुःख आपत्ति विपत्तिपर्वत के बराबर है तो सुख-शांति सरसों बराबर। इसीलिए ऐसा कहा है कि जो कुछ इस दुःखमय संसार में थोड़ा सा सुख दीख पड़ता है उसे ऐसा समझो जैसे अन्धे के हाथ बटेर। अंधा हाथ पसारे और बटेर उसके हाथ में पड़ जाय, यह जैसा असंभव नहीं पर, अति कठिन है, वैसे ही संसार में जहाँ कि दुःख नजर आते हैं उसमें कभी कहीं सुख का लेश मिल जाना असंभव नहीं तो भी अति कठिन तो है ही।

जो काम सहज रीति से सब जगह होते रहते हैं उन्हें 'अजाकृपाणीय' कहते हैं। यह शब्द उपमा द्योतक है। अंधकवर्तकीय शब्द भी उपमार्थ का द्योतक है। अतिकष्टसाध्य कार्यों के लिए यह शब्द बोला जाता है। भावार्थ, दुःख के साधन तो सदा सभी कामों में मिलते रहते हैं पर सुख के साधनों का मिलना अति दुर्लभ है किन्तु चाह तुझे सुख की ही हो रही है। इसलिए सुख के साधन तुझे तभी मिल सकेंगे जब कि तू बहुत ही सोच समझकर चलेगा और आत्मा का कल्याण विषयों से विमुख होकर साधना चाहेगा।

परन्तु अज्ञान का प्रेम से छुटकारा नहीं होता, यह कितने खेद की बात है। कहा भी है कि—

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतो।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीर के॥

जन्म मरण होना ये जीवों के माता-पिता हैं। आधि व्याधियां सहोदर भाई हैं। समीप में ठहरा हुआ बुढ़ापा, यह इन जीवों का मित्र समझना चाहिए।

जन्म-मरण होना ये जीवों के माता-पिता है। आधि-व्याधियाँ सहोदर भाई हैं। समीप में ठहरा हुआ बुढ़ापा, यह इस जीवो का मित्र समझना चाहिए ऐसा प्रवचन करते हुए श्री देशभूषण जी महाराज।

शरीर धारण करने वाले जीव के साथ माता, पिता, भाई, मित्र, की तरह जन्म मरण आधि व्याधि तथा जरा ये दुःख सदा लगे ही रहते हैं। ऐसे दुःखपूर्ण शरीर में क्या आस्था होनी चाहिए ? कुछ नहीं। परन्तु अज्ञानी प्राणी फिर भी इस शरीर में ममत्व व सुख की आशा लगाये ही रहता है। अरे भाई ! यह शरीर क्षणभंगुर है व आधि व्याधि तथा बुढ़ापे के दुःखों से परिपूर्ण है। और तेरा निजात्मा अजर, अमर अव्याबाध, व शाश्वत सुख का धाम है। फिर तू इस तुच्छ शरीर से प्रेम क्यों करता है ?

आगे अब शरीर व आत्मा में अन्तर बताते हैं—

> शुद्धोप्यशेषविषयावगमोप्यमूर्ता ।
> प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि ॥
> मूर्तं सदा शुचि विचेतनमन्यदत्र,
> किंवा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥

अरे भाई, तू स्वतः संपूर्ण चराचर विषयों को जान सकता है, अमूर्तिक है, अत्यन्त शुद्ध है। परन्तु शरीर ने तुझे अत्यन्त अज्ञानी बना रक्खा है, जड़ के समान मूर्ति सरीखा बना दिया है व बहुत ही मलिन कर दिया है ? ऐसा हुआ

क्यों ? यों, कि शरीर स्वयं चैतन्यशक्ति रहित है, मूर्ति है व अशुद्ध यह है। शरीर तेरे ऊपर अधिकार प्राप्त कर चुका है। इसीलिए तो तुझे इसने अपना सा बना लिया है। यदि तू सावधान हो तो शरीर की क्या शक्ति है कि वह तेरे ऊपर अपना प्रभाव डाल सके। तू यह भी मत समझ कि मैं इस शरीर से जुदा हो ही नहीं सकता हूं। यह शरीर तुझसे वास्तव में जुदा है। अपनी शक्ति से जुदे को जुदा कर देना व अपना मूल सुख स्वभाव प्रगट करना कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु तू शरीर से जुदा जब तक नहीं होता है, तब तक तेरी यही दुर्दशा बनी रहेगी। शरीर से जिसका सम्बन्ध एक बार हो जाता है, उसमें ऐसी कौन सी चीज है कि जिसे इसने अपवित्र बनाया नही है ? इस शरीर की जितनी निंदा की जाय उतनी ही थोड़ी है। जो शरीर केसर कपूर आदि पवित्र व सुगंधित वस्तुओं को लगाते ही अपवित्र व दुर्गन्ध युक्त कर देता है, उस शरीर को अनेक बार धिक्कार है। तब—

हा हतोसितरां जन्तो येनास्मिंस्तव सांप्रतम् ।
ज्ञानं काया शुचिज्ञानं, तत्यागः किल साहसः ॥

अरे जीव ! जिस प्रत्यक्ष शरीर के पराधीनताजन्य अपार दुःखों से तू अति दुखी हो रहा है उस शरीर के विषय में अब तुझे क्या करना उचित है ? तुझे चाहिए कि शरीर को अपवित्र व दुःखदायक माने। तभी तेरा ज्ञान सत्य ज्ञान कहावेगा। और इतना समझ लेना भी बस न होगा। तब ? असली साहस तेरा तब समझना चाहिए कि तू इससे उपेक्षा करके किसी दिन सर्वथा इसे त्याग दे। तू वास्तविक सुखी व स्वाधीन तभी बन सकेगा।

सम्यग्ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिए यह जीव स्व पर ज्ञान की पहचान करके अन्तरात्मा के सम्मुख होकर बहिरात्मा के भाव से विमुख हो और अन्तरात्मा के सम्मुख हो करके आप अपने अन्दर लीन होकर कर्म बन्धन को नष्ट करे। यही मुक्ति का उपाय है। इसके अतिरिक्त अन्य मिथ्या मार्ग से आज तक मुक्ति न हुई है और न होगी। मुक्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की आराधना से ही होगी। ये ही मुक्ति का मार्ग भगवान जिनेन्द्र देव ने बताया है। वीतराग धर्म के बिना और किसी अधर्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। अज्ञान मार्ग को छोड़ कर ज्ञान मार्ग की आराधना करो।

बहिरात्म भाव को छोड़ो। कहा भी है कि:—

कायामे जीव जीवने, कायं तनंयं पेरंगमेवं मिथ्या।
खयरादि नंगाणि, ज्ञेय विचार दोके मूढ़ मति बहिरात्मं ॥५४॥

अर्थ—मिथ्यात्व से पराधीन होकर मूढ़ मति बहिरात्मा शरीर और देह धारी दोनों की भिन्नता का विचार न करं अपने को और देह को जीव समझता है यह कितने आश्चर्य की बात है ।। ५४ ।।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि मिथ्यात्व से ग्रसित बहिरात्मा जीव ने यह अपने अन्दर धारणा बना रखी है कि जो मेरा शरीर है और शरीर सम्बन्धी घर, खेती बाड़ी, पशु, स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी जीव हैं और वे ही मेरी आत्मा है । मुझसे इनमें से कोई भी वस्तु भिन्न नहीं है, ये मेरे ही आत्म रूप हैं, मेरी आत्मा से भिन्न नहीं, ऐसी कल्पना करके इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है । रात दिन देह का ही चिन्तवन या मनन करता रहता है । शुभचंद्राचार्य ने अपने ज्ञानर्णवि में बहिरात्मा अज्ञानी जीव का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि—
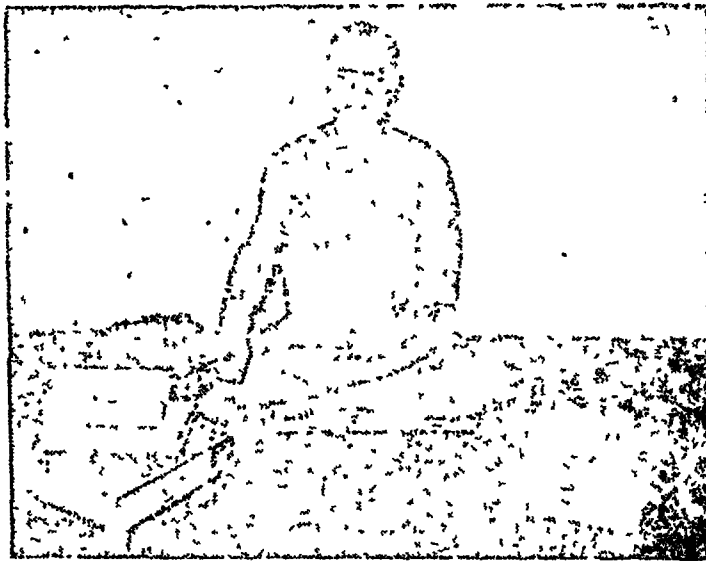
बहिरात्मा और अन्तरात्मा में भेद बताते हुए आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः ।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ।। ११ ।।

जो बहिरात्मा है वह चैतन्य स्वरूप आत्मा को देह के साथ संयोजन करता है । अर्थात् जोड़ता है । जो ज्ञानी है वह देह से देही को पृथक् ही देखता है । यही बहिरात्मा और अन्तरात्मा में भेद है ।

अशुद्धारैरविश्रान्तं स्वतत्वविमुखैर्भृशम् ।
व्यापृतो बहिरात्मोयं वपुरात्मेति मन्यते ।।

यह वहिरात्मा आत्म स्वरूप से अतिशय करके निरन्तर विमुख इन्द्रियों के द्वारा व्यापार रूप होकर शरीर को ही आत्मा मानता है।

अविद्या से अर्थात् मिथ्यात्व या मिथ्याज्ञान से खिन्न हुआ मूढ़ वहिरात्मा देव पर्याय सहित आत्मा को देव मानता है और मनुष्य पर्याय सहित अपने को मनुष्य मानता है तथा तिर्यञ्च के शरीर में रहते हुए तिर्यञ्च और नारकियों के शरीर में रहते हुए अपने को नारकी मानता है सो भ्रम है। क्योंकि पर्याय का रूप आत्मा का रूप नही है, आत्मा का रूप तो अमूर्तिक है, स्वसवेद्य है अर्थात् अपने ही द्वारा अपने को जानने योग्य है।

तथा वही वहिरात्मा अज्ञानी जिस प्रकार अपने शरीर को आत्मा मानता है उसी प्रकार पर के अचेत देह को देखकर पर का आत्मा मानता है। अर्थात् उसका पर की बुद्धि से निश्चय करता है। अपने शरीर में तो अपनी आत्मा जाने और पर के शरीर में पर की आत्मा जाने, इस प्रकार शरीर में अवलम्बन स्वरूप प्रवर्त हुए विकल्पों से आत्मा में आत्मा के देखने वाले अज्ञानी जनों ने लोगों को ठग लिया है।

इस कारण से मिथ्याज्ञानरूपी ज्वर से निरन्तर पीड़ित होकर वह वहिरात्मा अज्ञानी अपने से अत्यन्त भिन्न पशु, पुत्र, स्त्री आदि में आत्मपना मानता है। यह मूढ़ बहिरात्मा अपने से भिन्न अचेतन पदार्थों को साक्षात् अपने में ही निश्चय करके उनके नाश होने और संचय होने में अपना ही नाश और संचय होना मानता है।

यह पूर्वोक्त अनादि से उत्पन्न हुआ अविद्या रूपी विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ़ प्राणी शरीरादिक को अपना मानता है अर्थात् यह शरीर है सो मैं ही हूँ इस प्रकार देखता है। शरीर में जो आत्म बुद्धि है सो वन्धु धन इत्यादि की कल्पना उत्पन्न कराती है तथा इस कल्पना से ही जगत इसे अपनी सम्पदा मानता हुआ ठगा गया है। शरीर में ऐसे जो भाव कि यह मैं आत्मा ही हूँ ऐसा भाव संसार की स्थिति का बीज है। इस कारण वाह्य में नष्ट हो गया है इन्द्रियों का विक्षेप जिसके ऐसा पुरुष उस भाव रूप संसार के बीज को छोड़ कर अन्तरंग में प्रवेश करे ऐसा उपदेश है।

ग्रंथकार कहते हैं कि हे निर्बुद्धि अज्ञानी वहिरात्मा जीव! तू कितना मूर्ख है समझ में नहीं आता कि तेरे पास अखंड अविनाशी अत्यन्त पवित्र परमात्म सुख स्वरूप निजात्म निधि होने पर भी उसकी पहचान न करके क्षणिक तथा निरन्तर दु:ख देने वाले मिथ्या मार्ग का अनुसरण करके कुबुद्धि बनकर अपनी सुबुद्धि से विमुख होता है। अपने नित्यानन्द निजानंद खजाने को

भूल कर बाह्य वासना में रत होकर बहिरात्मा को अपना समझ और अन्तरात्मा को पर समझकर पशु के समान कन छोड़कर भूसे को ही खाने के समान तू अपने इस पुद्गलमय शरीर रूपी छिलके के अन्दर बीज रूप में रहने वाले आत्म देव को भूल कर केवल बाह्य शरीर और उसमें भरी विषय वासना को ही अपनी आत्मा मान कर संसार सागर में जन्म और मरण का चक्कर काटते हुए अगाध दुःख भोग रहा है। इसलिए अब तो जाग। ऐसा श्री गुरु कहते हैं।

अरे जीव! स्व और पर का ज्ञान करने योग्य तेरे अन्दर सुबुद्धि है। अज्ञान मिथ्यात्व की संगति से तू पशु के समान अज्ञान या अनाचार करते हुए बाह्य वस्तु से मोहित होकर उसी को अपनी आत्मा मान बैठा है। अरे मूढ़! चक्षु इन्द्रिय के द्वारा दीखने वाले जो रूप पदार्थ हैं वह तेरा स्वरूप नहीं है, तेरा स्वरूप ज्ञान दर्शन चैतन्य और उपयोग मय है और अरूपी है। परन्तु अज्ञान के कारण शरीरादि पर द्रव्य को अपना और ज्ञानदर्शन मय अपने अंदर ही रहने वाल आत्मानंद निजरूप को पर मानकर इस संसार में चक्कर काट रहा है।

हे जीव! थोड़ा चेत करके विचार करो कि आधि, व्याधि, उपाधि, विडंबना में फंसे हुए प्राणी को इस संसार में सुख और शांति आज तक मिली नहीं। इसलिये सद्गुरु बार बार समझाते हुए कहते हैं कि हे आत्मन्! अब तो चेत। इस विडंबना को दूर करने के लिये सुअवसर प्राप्त हुआ है। इस अवसर को संसार सुख के लिये तू व्यर्थ ही गंवा रहा है। इतना ही नहीं परन्तु तू विश्वास करता है कि कल भी कुछ प्राप्ति होगी। कल अमुक काम करूंगा। इस तरह तू विश्वास रखता है यह स्वार्थ व्यर्थ ही है। क्योंकि, आज का भरोसा नहीं कल इस जीव को पता नहीं क्या होगा। परन्तु कल का भरोसा रखना नितान्त मूर्खता है। आने वाले कल में क्या बनेगा क्या बलवान है यह कह नहीं सकते। भविष्यत् काल में कार्य को सफल करने की भावना रखना भी इन्सान की मूर्खता है। क्योंकि आज कल की जो आशा भविष्य में रखते हैं वह भावना भी पूर्ण नहीं हो सकती है। क्योंकि राजा दशरथ ने अपने मन में यह विचार किया था कि राम को कल सिंहासन पर बैठाकर अभिषेक करके संपूर्ण राज पाट सौंप देंगे। उनके मन में तीव्र इच्छा थी कि मेरा पुत्र विनय, नम्रता और संतोषवान् है, ऐसे पुत्र को अयोध्या की गद्दी पर विराजमान करूं और मैं धर्म ध्यान में समय को व्यतीत करूं। इसी प्रकार राज्याभिषेक करने का मुहूर्त निकालने वाले ज्ञानी वशिष्ठ मुनि भी थे। उन्होंने भी मुहूर्त निकाल कर दे दिया और सभी प्रजा में यह उत्सुकता हुई कि कल रामचन्द्र दशरथ की गद्दी पर विराजमान होंगे। परन्तु जब बैठने का समय आया तो उस समय होनी सामने आकर के खड़ी हो गई। परन्तु उसको कोई टाल

नहीं सका। यही विधि राम को चौदह साल जंगल में वनवास के लिये खींच ले गई। इसलिये ज्ञानी जीव को भविष्य का कोई भी विचार नहीं करना चाहिये। वर्तमान समय में इस शरीर के द्वारा जो आत्म साधन हो सकता है वह करना ठीक है। भाग्योदय से जो प्राप्त हुआ उस अमूल्य अवसर को कभी भी नहीं खोना चाहिये। क्योंकि यह अवसर बार बार प्राप्त नहीं होता है। इस सुन्दर मनुष्य पर्याय का जो अवसर मिला है उसको किसी तरह व्यर्थ ही नहीं खो देना चाहिये। संसार में जितने भी संबन्ध इस जीव के साथ मिलते हैं वे सब पूर्व कर्मों के संयोग से मिलते हैं। परन्तु उनको कभी भविष्य नहीं माने। संयोग का योग होने में विलम्ब नही होता है। इसलिये हे जीव! तू इस सबंध में आसक्त होकर अपने मिले हुए स्वर्ण अवसर को और ऐसी मनुष्य पर्याय को व्यर्थ ही गंवा रहा है। और इसमें हर्ष मानता है, आनन्द मानता है। परन्तु माया के समान ये संबंध इस आत्मा के साथ बहुत देर तक नहीं रहते हैं। जो संबंध मिला है, उसी संबंध में हर्ष मानकर तू माया ममता में पड़ा हुआ है। इस तरह से पड़ना मूर्खता है। इसीलिये संबंध में जो आसक्तपना है उसका त्याग करो और यदि भविष्य में होने वाली अनेक आधि व्याधि और आने वाले विघ्नों को अगर तुझे टालना है तो यही अवसर है। इसी समय उन्हें टालने के लिए यत्न करो और आत्म हित कर लो। अगर तेरे मन में इस मनुष्य पर्याय को सफल करने का विचार आ जाय तो एक धर्म ही अपना शरण मान करके उसी से प्रेम कर, उसी पर श्रद्धान रख, उसी को अपना। तब यह सारी आपत्ति टलकर आत्म गुण का विकास होगा। अगर आत्मिक गुण का विकास करने के लिए लक्ष्य नहीं बनेगा तो संसार में आने वाली आपत्ति दूर नहीं हो सकती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे जीव! धर्म साधन करके भविष्य में अपनी गति को सुधार लो। और वर्तमान में मिले हुए महान् मानव रत्न के द्वारा उसका साधन बना लो। वर्तमान काल में किए हुए शुभ कर्म से भूत काल में किए हुए अशुभ कर्म टल जाते हैं और भविष्यत् काल में आने वाले कर्म टल जाते हैं। सुख दुःख का भोक्ता तू आप ही है। जब अशुभ कर्म का उदय आता है तो उसको भोगता है। और शुभ कर्म का उदय आता है तो उसको भोगता है। इस प्रकार शुभ और अशुभ दोनों कर्मों का भोक्ता आप ही है। जैसा तूने किया है, उसी के अनुसार भविष्य में भी फल मिलता है। किन्तु तुझे तो इन दोनों से ही मुक्त होना है। एक शुद्धात्मा के अलावा तुझे और कोई शरण नहीं है। इसलिए शुद्धात्मा का आलम्बन करके तू पाप और पुण्य दोनों को हटा कर भविष्य में सुख और शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न कर। यही सद्गुरु का उपदेश है।

बहिरात्मा शरीर मोह के कारण संयम के नाम से घबड़ाता है इसलिये उसमें निर्जरा भाव नहीं होता है ऐसा आगे श्लोक में कहा गया है:—

ओवो वहिरात्मा नवकद् सावेय्तरे विकलन्नागि ककपक नवकुं ।
भाव सहजात्मनवकट सावयुतर वगेयनुनियनगियं सुरिगयं ॥५५॥

आचार्य श्री प्रवचन करते हुए:—
"वहिरात्मा मरण के समय मन में अधैर्य को प्राप्त होता है।"

अर्थ—ओ हो ! यह वहिरात्मा मरण के समय मन में अधैर्य को प्राप्त होता है, भयभीत होता है। अनेक प्रकार के संताप करता है, दुःख मानता है, लम्बी लम्बी श्वास लेता है, तेजहीन हो जाता है मरते समय वार वार अपने कुटुम्व या स्त्री पुत्र माता, पिता आदि की तरफ देखकर नाना प्रकार के विलाप करता है। हाय ! मैं इन सब चीजों को छोड़कर कैसे मरूं, भगवान् मुझको मरण से छुड़ा ! मेरे पीछे इन सवका क्या होगा, कौन इन सवकी रक्षा करेगा। मेरे पीछे मेरी स्त्री की और वाल वच्चों की क्या गति होगी ? अव मैं क्या करूं, किसकी शरण जाऊँ। ऐसे नाना प्रकार के विषाद दुःख तथा विलाप कर अंत मे दुर्ध्यान सहित मरण को प्राप्त होकर अत्यंत निंद्य पर्याय में जाकर उत्पन्न होता है और वहां के दुःखों को भोगता है। परन्तु वहिरात्मा जैसे वाह्य अपने इष्ट मित्र तथा स्त्री, पुत्र, माता, पिता, वंधु-वांधव जनों को याद करते करते मरण को प्राप्त होता है उसी तरह यदि अंत में वीतराग भगवान अरहंत जिनेद्रदेव का नाम स्मरण करते हुए इस शरीर को छोड़ता तो इतना दुःख इह लोक और परलोक में न उठाना पड़ता। किन्तु इस वहिरात्मा का मोह वाह्य वस्तु में है। उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं हो सकती। परन्तु अंतरात्मा ज्ञानी जीव की दृष्टि वाह्य वस्तु पर रहने पर

भी हमेशा अंतर की ओर रहती है। अंतरात्मा आयु का अवसान नजदीक आया देख सुनकर कभी भी घबड़ाता नहीं है। वह मन में विचारता है कि ये जितनी बाह्य वस्तुयें है, ये सब मेरी आत्मा से भिन्न हैं और सभी चीजे उपार्जित किये हुए निमित्त से मुझे प्राप्त हुई हैं। ये सभी स्त्री, पुत्र, बंधु-बांधव आदि जो भी मुझे दीख रहे हैं, मुझे प्यार कर रहे है, वे सभी मेरे पुण्य से मेरे शरीर को प्रेम कर रहे हैं, मेरी आत्मा से नहीं। पाप और पुण्य के उदय से आत्मा के साथ उनका संयोग और वियोग है। सम्बन्ध क्षणिक है, इसलिये इनके संयोग वियोग में मुझे कभी हर्ष और विषाद नहीं करना चाहिए। अपनी मर्यादा पूर्ण होने के पश्चात् इस आत्मा से इनका जुदा होना निश्चित है। इसलिये मुझे इन चीजों के वियोग में शोक करना उचित नहीं है। मेरी आत्मा अविनाशी है, अबाधित है, हर्ष विषाद रहित है। और सुख का सागर है, अमर है, बाधाओं से रहित है, यह मुझसे भिन्न कभी नहीं होता है। यह दर्शन, ज्ञान, चैतन्य स्वरूप है, जन्म मरण और जरा से रहित है। इस प्रकार विचार करता हुआ अंतरात्मा ज्ञानी जीव बाह्य वस्तु के वियोग में कभी भी दुःख नहीं मानता और हमेशा आत्मानंद में मग्न होते हुए अपने हृदय में सदा आनन्द मानता है। वह तिल मात्र भी भयभीत नहीं होता। यही अंतरात्मा और बहिरात्मा का लक्षण है।

विशेषार्थ—ग्रंथकार ने इस श्लोक में अंतरात्मा और बहिरात्मा का लक्षण विशेष रीति से बतलाया है। बहिरात्मा जीव मरण के समय को सुनकर अत्यंत भयभीत होता है कि अरे, ये सभी चीजें मेरी ही थीं अब इन सभी को छोड़कर मैं जाऊँ तो इन वस्तुओं का क्या होगा ? कौन लेगा ? कौन ग्रहण करेगा, इसका मालिक कौन बनेगा, कष्ट करके इन सब वस्तुओं को मैंने कमाया था, कैसे छोड़कर जाऊँ। इस तरह मन में अत्यंत दुखी तथा भयभीत होकर आर्त और रौद्र ध्यान करते हुए मरण को प्राप्त होता है। और जन्म-मरण के चक्कर को काटते हुए चारों गतियों में भ्रमण करता रहता है। जब तक इस जीवात्मा के भीतर बाह्य वस्तु का मोह रहेगा तब तक इस आत्मा को सुख और अपने निज की खबर नहीं होगी। हर स्थान में कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ेगा।

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने प्रवचन सार में कहा कि:—

मणुआअसुरामरिंदा अहिद्युआइंदिएहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुःखं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

भावार्थ—चक्रवर्ती राजा, धरणेन्द्र व स्वर्ग के इन्द्र आदि अपने शरीर के साथ उत्पन्न हुई इंद्रियों की पीड़ा से घबड़ाते हैं। उस इंद्रिय भोग की चाह

के दु:ख को सहन करने में असमर्थ होकर भ्रम से रमणीक इंद्रियों के पदार्थों को भोगते हैं परन्तु फिर भी तृप्ति नहीं पाते हैं।

जेसि विसएसु रदी, तेसिं दुःक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं, बावारो णत्थि विस.यत्थं ॥६४॥

जिन प्राणियों को इन्द्रिय भोगों में रति है उनको स्वभाव से ही दुखी जानो क्योंकि यदि स्वभाव से पीड़ा या आकुलता या चाह की दाह न हो तो कोई इंद्रिय भोगों में नहीं पड़े। "तृष्णा की बाधा तृष्णा से मिट जायेगी," ऐसा समझकर विषयों में रमते हैं परन्तु तृष्णा तो मिटती नहीं।

सोक्खं सहाविसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७५॥

देवों को भी आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न सहज आत्मिक सुख का लाभ नहीं होता इसलिए सच्चे सुख को न पाकर शरीर की पीड़ा से घवड़ाये हुए कि हमारी बाधा मिट जाएगी, रमणीक विषयों में रमते हैं परन्तु तृष्णा को शमन नहीं कर सकते।

ते पुण सदिएणत, दुहिदा तणहाहिंविसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति वा आमरणं दुक्खसंतता ॥७६॥

संसारी प्राणी तृष्णा के वशीभूत होकर, तृष्णा की दाह से दुखी होते हुए इन्द्रियों के भोगों के सुख को वार वार चाहते हैं और भोगते हैं। मरण पर्यन्त ऐसे रहते हैं, तथापि दु:ख से संतापित ही रहते हैं। इन्द्रियों के भोग से चाह की दाह नहीं मिटती, यहाँ तक कि मरण हो जाता है। जैसे जोंक विकारी खून को तृष्णावश पीती ही रहती है, सन्तोष नहीं पाती है, यहाँ तक कि उसका मरण हो जाता है।

सपरं बाधासहिदं विच्छिएणं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुःक्खमेव तधा ॥८०॥

पांचों इन्द्रियों के भोगों से जो सुख होता है वह सुख नहीं है किन्तु दु:ख ही है क्योंकि एक तो वह पराधीन है। अपने इन्द्रियों से भोगने योग्य शक्ति हो व पुण्य के उदय से इच्छित पदार्थ मिलें तब कहीं सुख होता है अन्यथा नहीं। दूसरा क्षुधा, तृष्णा आदि रोगादि की वाधा सहित है, बीच में विघ्न आ जाता है। तीसरे विनाशीक है, भोग्य पदार्थ बिजली के चमत्कारवत् नष्ट हो जाते हैं या

जल के बुलबुले के समान शरीर छोड़ देता है। चौथे कर्म वन्ध के कारण हैं क्योंकि राग भाव बिना इन्द्रियों के भोग नहीं भोगे जा सकते। जहाँ राग है वहाँ वन्ध है। पांचवें विषम हैं, चंचल हैं, सदा एक सा सुख नहीं होता है तथा समताभाव को विगाड़ने वाले हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़ में कहते हैं—

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्ठए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

जब तक यह आत्मा इन्द्रिय विषय भोगों में आसक्त होकर प्रवृत्ति करता रहता है, तव तक आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता है। जो योगी इन विषय भोगों से विरक्त है वही आत्मा को पहचान सकता है।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपरिभट्टा।
हिंडंति चाउरंगं विसयेसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

कोई मानव शास्त्र द्वारा अनुभव पूर्वक आत्मा को जानकर भी अपने स्वरूप की भावना से भ्रष्ट होते हैं, मंदवुद्धि रखते हुए इन्द्रियों के विषय भोगों में मोहित होते हुये चारों गतियों में भ्रमण किया करते हैं।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तव गुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

परन्तु जो कोई इन्द्रियों के भोगों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर उसकी भावना करते हैं वे तप व मुनियों के मूलगुणादि सहित होकर अवश्य ही चार गति रूपी संसार को छेद डालते हैं, इसमें संदेह नहीं।

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य प्राणी ! इस जीव में जो शुभ और अशुभ कर्म का उदय होता है वह सत्य और असत्य निमित्त से आता है। तब यह जीव उस सुख और दु:ख को भोगने वाला वन जाता है। पर हे जीव ! तू अशुभ करनी करके शुभ साधन चाहेगा तो कहां से मिलेगा ? दु:ख के निमित्त भी मिल जाँय अर्थात् हजारों दु:ख भी आकर उपस्थित हो जाँय तो कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि जब शुभ साधन तुझे प्राप्त हो जायेगा तो दु:ख शुभ साधन के आगे टिक नहीं सकेगा। अगर पूर्व पुण्य के योग से तुझे पंचेन्द्रिय विषय सुख भी प्राप्त हुआ और उसको भोगते समय धर्म साधना के अपने कर्त्तव्य से च्युत हुआ तो पूर्व जन्म के पुण्य वहीं खत्म हो जाएँगे और आगे चल कर तुझे पाप के योग से असह्य और

महान् दुःख उठाने पड़ेंगे। इसलिए तू अगर शुभ फल को भोगना चाहता है तो उसको सम्यग्ज्ञान के द्वारा भोग। अर्थात् इन इन्द्रिय विषयों को भोगने के पहले तू सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर ले। यदि उस समय दुःख आने लगेंगे तो सम्यग्ज्ञ'न के द्वारा तू चिन्ता में नहीं पड़ेगा, उस दुःख से घवरा कर अधर्म की तरफ नहीं जायेगा। बल्कि उस दुःख को पूर्वोपार्जित पाप का उदय समझ कर सम्यग्ज्ञान के द्वारा दूर कर देगा। वह ज्ञानी आये हुए उपसर्ग को सहन करके अपने आत्मस्वरूप का चिन्तवन करते हुए उस दुःख को आत्मा से भिन्न मानता है। और दुःख न मान कर सुख मानता है। और यह भी विचार करता है कि परीक्षा करने के लिए या कर्म की निर्जरा के लिए यह दुःख-उपसर्ग मेरी आत्मा को हो रहा है। परन्तु मेरी आत्मा सम्पूर्ण पर वस्तु से भिन्न है और मेरा और इस पर वस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं है केवल पूर्व जन्म में इस पर वस्तु के साथ राग भाव किया था, वही इस समय उदय होकर फल दे रहा है। इसको सहन कर लेना मेरा कर्त्तव्य है। अगर मैं सहन करता हूँ तो मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता हूं। इसलिए हे जीवात्मन्! इस दुःख को तू परीक्षा समान मान। सुख और दुःख में सम्यग्ज्ञान की जरूरत है। जब तू सुख के संयोग से उस सुख में मग्न रहता है तब तुझे सम्यग्ज्ञान नहीं रहता है। तब अनेक प्रकार के अहंकार तेरे सामने आकर खड़े हो जाते हैं। तब अपने निज कर्त्तव्य से च्युत होकर कमजोर बन जाता है। उसी समय कर्म का वन्ध होता है। तब तू अनेक प्रकार की विडम्बना करने लगता है। उस पाप कर्म को भोगे बिना तेरा गुजारा नहीं हो सकता है। इसलिए इन सभी को दूर करने के लिए सम्यक्त्व की जरूरत है। सम्यग्ज्ञान की जरूरत है और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र की जरूरत है। सम्यग्ज्ञान के साथ साथ सम्यक् क्रिया की भी अत्यन्त आवश्यकता है। ज्ञान और उसके अनुसार क्रिया होगी, तो तभी धर्म साधन सार्थकता को धारण करेगा। इसलिए हे जीवात्मन्! तुझे यह सभी इसी मानव पर्याय में करना है, अन्य पर्यायों में साधन नहीं बन सकता है। और यह सब सामग्री मिल भी नहीं सकती। ये सभी धर्म साधन क्रिया तुझे स्वयं ही कर लेनी होंगी। मोह के निमित्त परिवार आदि के झंझटों में अगर पड़ेगा तो फिर तेरे ये सब धर्म साधन की कमाई नष्ट हो जायगी। इसलिए तू इनके मोह में मत पड़। परिवार और स्त्री, पुत्र कुटुम्बादि के पोषण का ज्ञान क्रिया के साथ हो सकता है। और इससे चिकने कर्म नहीं बंधते हैं।

हे जीव! तू आज तक जितनी रूपवती स्त्रियों के रूप को देखकर उनमें मोहित हुआ है, इनसे भी सुंदर अत्यंत रूपवती, अनेक गुणों से युक्त मोक्ष लक्ष्मी तेरे अन्दर ही अनादि काल से वास कर रही है। यदि तू एक बार उसे देख लेगा या उसका अनुभव कर लेगा तो संसार की सम्पूर्ण स्त्रियाँ तुझे असुन्दर

दिखाई देने लगेंगी। और तब तुरंत दुनियादारी और वाह्य विषय भोगों को भूल जायगा। सचमुच में वही अपना स्वरूप है। इसलिये तू उसी की आराधना कर।

तेरे अन्दर ही चिंतामणि पारस पत्थर के समान अत्यंत लाभ को देने वाला यह जैन धर्म है। तू अपने अज्ञान के द्वारा इसे संसार रूपी समुद्र में मत फैंक देना तीन लोक में इसके समान और कोई भी वस्तु नहीं है। यह चिंतामणि रत्न वार वार नही मिलता है। अगर तेरे ऊपर हिमालय पर्वत के समान भारी दुःख भी आ जाँय वो भी पारस पत्थर के समान इस जैनधर्म से मिट सकते है। अगर तू विषयवासनाओं के आधीन होगा तो अपने स्वरूप को भूलकर आत्मज्ञान से वंचित रहेगा। पुनः तुझे संसार में रुलना होगा। अज्ञान से कभी लाभदायक आत्म हित की प्राप्ति नहीं होती है। सुज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान और चारित्र से ही आत्महित होता है। जैसे एक अज्ञानी भील निरंतर जंगल में से लकड़ियाँ काटकर अपनी आजीविका चलाता था। वह एक कुल्हाड़ी हाथ में लेकर जंगल में लकड़ी काटने को गया, जाते समय देखा कि कुल्हाड़ी की धार उतरी हुई है। धार घिसकर ठीक करने के लिए इधर उधर पत्थर देखने लगा। ढूंढ़ते ढूंढ़ते जंगल में एक जगह एक पत्थर पड़ा हुआ मिला वह चमकीला था। उस पत्थर को देखकर उस पर अपनी कुल्हाडी की धार ठीक करने के लिए घिसने लगा। घिसते घिसते कुल्हाड़ी की धार पीली होती गई। अन्त में संपूर्ण कुल्हाड़ी पीली हो गई। जिसके ऊपर अपनी कुल्हाड़ी को घिस रहा था, वह वास्तव में पत्थर नहीं था, वह मूल्यवान पारस पत्थर था। वह अज्ञानी होने के कारण उसकी परीक्षा नहीं कर सका। कुल्हाड़ी की धार नरम होने के कारण वह मन में बड़ा अफसोस करने लगा। और दूसरे उसको भारी चिंता उत्पन्न हो गई। उस कुल्हाड़ी को लेकर लुहार के पास आया और कहने लगा कि इस कुल्हाड़ी को जितना जितना पत्थर पर घिसता हूँ उतनी ही उतनी पीली पड़ती जाती है। इसको तुम रखकर मुझे दूसरी कुल्हाड़ी दे दो। यह सुनकर लुहार ने विचार किया कि कुल्हाड़ी पीली होने का कारण एक ही है कि इसे कहीं पारस मणि मिल गई है। उसके सिवाय लोहे की कुल्हाड़ी कभी पीली नहीं हो सकती है। इसलिए वह पारस पत्थर ही होना चाहिये। वह पत्थर कहाँ है, उसकी भी तलाश करनी चाहिये। इस तरह मन में विचार करके लुहार उस अज्ञानी भील से बोला—अरे भाई ! वह पत्थर कहां है मुझे बता ? बाद में तुझे दूसरी कुल्हाड़ी दूंगा। भील ने जंगल में लेजाकर लुहार को वह पारस पत्थर बता दिया उसको देखते ही लुहार तुरन्त पहचान गया कि यह पारसमणि है तुरन्त उसको उठाकर अपने घर में ले आया और उस भील की पीली कुल्हाड़ी को भी अपने घर में रख लिया। उसके बदले लोहे की एक दूसरी कुल्हाड़ी उसे देदी। भील उस कुल्हाड़ी को लेकर खुशी खुशी लौटकर जंगल में लकड़ी काटने गया। इधर लुहार ने इस पारसमणि से हजारों मन सोना तैयार कर लिया। सोना उसने

इतना अधिक तैयार किया जितना राजा के खजाने में भी नहीं था। अपने घर में थाली, कटोरा, लोटा, आदि जितने भी बर्तन थे, वे सभी सोने के बना लिए घर में सोने की चीज ही अपने काम में लेने लगा। वह एक राजा के समान मौज करने लगा। उसको पुत्र की बड़ी अभिलाषा थी। पुत्री के अतिरिक्त उसके दूसरी सन्तान नहीं थी। पुत्री बड़ी हुई वह बहुत चालाक थी। विचार करने लगी कि यह सभी वैभव साधन सामग्री पारसमणि के प्रभाव से प्राप्त हुई है इसलिये मेरा पिता किसी अच्छे तरुण श्रीमन्त लड़के के साथ मेरा ब्याह करेगा। मेरा पति ब्याह के बाद कुछ मांगेगा जरूर तब मैं पति से कहूँगी कि तुम मेरे पिता से कुछ नहीं मांगो केवल घर में रखी हुई पारसमणि मांगो। मेरे प्रति अत्यधिक प्रेम होने के कारण मेरा पिता इनकार नहीं करेगा और वह देदेगा। इस तरह विचार करते करते एक दिन ऐसा ही मौका आया उसका विवाह एक रूपवान वर के साथ हो गया। ब्याह के बाद उसने अपने पति से वही बात कही कि मेरे पिता से और कोई वस्तु न माँगकर पारसमणि माँगो। इस पारसमणि के निमित्त से राजा के समान जो संपत्ति चाहिये वह सभी प्राप्त हो जायेगी। स्त्री के कहने के अनुसार उसके पति ने अपने श्वसुर से वही मांग की। पुत्री के प्रेम के कारण उसे पारसमणि देदी। जब जमाई के हाथ में वह पारसमणि आई तो दामाद उसको देखकर विचार करने लगा कि यह तो पत्थर है मैं इसका क्या करूँगा। मेरी स्त्री ने इस पत्थर के अलावा और कोई चीज माँगने नहीं दी मेरा विचार तो कुछ और ही मांगने का था। परन्तु मैं भी कितना मूर्ख हूँ कि मैंने यह पत्थर माँगा मेरी पत्नी ने मेरे साथ ही चालाकी की है। पिता के ऊपर प्रेम होने के कारण दूसरी कोई सुन्दर वस्तु की मांग उसने करने नहीं दी है। इस तरह विचार करके वह चुप रह गया। तत्पश्चात् लुहार ने बड़े ठाठ बाट और प्रचुर दहेज के साथ वर-कन्या को विदा कर दिया। घर जाकर भी पति के मन में यही खटकता रहा कि मेरे ससुर ने मुझे पत्थर दे दिया, इससे कोई लाभ नहीं है। वस्तुतः पारस-मणि के पत्थर का लाभ उठाने का उसको ज्ञान नहीं था। वह बार बार अपने मन में पछताता था कि मेरी स्त्री ने मुझसे चालाकी की और कुछ माँगने नहीं दिया। एक दिन क्रोध में उसने अज्ञान के वश वह पारस मणि एक सरोवर में फेंक दी। उसकी पत्नी को जब यह पता चला तो उसे बड़ा दुःख हुआ। मेरा पति बलवान है। रूपवान है। सब कुछ है परन्तु बड़ा जड़ मूर्ख है। मैंने अपने पति के प्रेम के कारण उस पत्थर को मांगा और उसने वही फेंक दिया। अब वह कहाँ से मिलेगा। एक बार समुद्र में जाने के पश्चात् वह पत्थर क्या आसानी से हाथ में आ जायेगा ? कभी नहीं।

इसी प्रकार देव दुर्लभ मनुष्य भव में चिंतामणि या पारसमणि के समान जैन धर्म तुझे प्राप्त हुआ है, उसको अज्ञान अहंकार, माया, ममता में व्यर्थ गँवा

देना ठीक नहीं है। जैसे समुद्र में फेंक देने पर मणि का दुवारा हाथ में आना वड़ा मुश्किल है। उसी प्रकार मनुष्य जन्म और जैन धर्म को पाकर सांसारिक सुखों में फंस कर उसे व्यर्थ गंवा देना ठीक नहीं है। फिर उसका पुनः प्राप्त करना वड़ा कठिन है। इसलिए हे जीव ! तुझे चिन्तामणि जैन धर्म मिला है। इसकी अच्छी तरह से आराधना कर। विना इसके आत्म स्वरूप की सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। इसके विना तुझे सुख और शांति अत्यन्त दुर्लभ है।

परीषह जीतने का उपदेश करते हैं।

नंदनषनंग कोकगण, चंदन कर्पूर सुरभिकालगरूक्।
बेंदुं कम्मिदव प्पुवु, नोंदुं सत्पुरुषरात्महितवने बगेवर ।। ५६।।

अर्थ—नन्दन वन में रहने वाले श्री गंध, चन्दन, कपूर, सुगंध पुष्प, कालागरु आदि सभी सुगन्धित वस्तुओं को जलाया जाय, फिर भी अपने परिमल सुगन्ध को त्यागते नहीं वल्कि जितने भी जलाते जांय उतनी सुगन्ध ज्यादा फैला देते हैं। इस तरह हे योगी ! सत्पुरुषों पर कितना भी कष्ट का समय आ जाय या दुश्मन के द्वारा उपसर्ग हो फिर भी वे अधर्म को प्राप्त नहीं होते हैं और आत्म चिन्तवन को त्यागते नहीं हैं। धैर्य पूर्वक उसका चिंतवन करते रहते हैं ।। ५६ ।।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में वतलाया है कि नन्दन वन में उत्पन्न होने वाली सुगन्धित द्रव्य, कपूर, चन्दन, कालागरु आदि सभी सुगन्धित वस्तुओं को जला देने पर भी वे अपनी सुगन्ध को नहीं त्यागते। जितना जलाते जायें सुगन्ध उतनी वढ़ती जाती है। इसलिए योगी आदि सत्पुरुष अनेकों कष्ट आने पर भी अपने आत्मवल के द्वारा आये हुए उपसर्ग को सहन करके उस उपसर्ग से विचलित नहीं होते हैं और जितना जितना उपसर्ग होता जाता है वे उसे धैर्य पूर्वक सहन कर आत्म चिन्तन करते रहते हैं ।। ५६ ।।

कहा भी है कि—

मुनि जव अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करता है तव वह विचार करता है कि मैंने कृत कारित अनुमोदन से तीन कालों में जितने भी कर्म उपार्जन किये हैं उन समस्त कर्मो को त्याग कर मैं अव परम निष्कर्म अवस्था का अवलम्बन करता हूँ। मोह से जो कुछ भी मैंने भूत काल में कर्म किये हैं उन सवका प्रत्याख्यान कर मैं चैतन्य स्वरूप और निश्चल अपनी आत्मा में स्थित होता हूँ। मोह और विलास से उदित और वृद्धि को प्राप्त हुए वर्तमान काल के समस्त कर्मों की आलोचना कर चैतन्य स्वरूप निश्चल अपनी आत्मा में स्थिति करता हूँ। मोह से सर्वथा रहित होकर आगे उदय में आने वाले कर्म का प्रत्याख्यान कर

चैतन्य स्वरूप निश्चल आत्मा में सदा स्थिति करता हूँ। इस प्रकार तीनों कालों के समस्त कर्मों को नष्ट कर परम शुद्ध नय का अवलम्वन करने वाला मोह और उसके विकारों से रहित मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा का अवलम्बन करता हूँ। अन्त में बिना फल दिये मेरे कर्म रूपी विष वृक्ष के फल नष्ट हो जायें इस कामना से मैं निश्चल चैतन्य स्वरूप का आत्मा में ध्यान करता हूँ।

शोकं भयमवसादं क्लेशं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्वोत्साहमुदीर्यं च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥
आहारं परिहाय क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन॥

अर्थात् शोक, भय, खेद, क्लेश, कालिमा और अरति का सर्वथा त्याग कर और आत्मिक उत्साह को प्रकट कर शास्त्र रूपी अमृत से मन प्रसन्न रखना चाहिए। तथा आहार का त्याग कर स्निग्ध दूध आदि पान करना चाहिए और पीछे स्निग्ध पान को भी त्याग कर छाछ पान करना चाहिए। तथा खरपान का भी त्याग कर शक्ति पूर्वक उपवास कर पंचनमस्कार मंत्र में लीन हो बड़े यत्न से शरीर का त्याग करना चाहिए।

विद्वानों को चाहिए कि इस उपाय से अवश्य उत्तम गति को सिद्ध करें। जिस समय क्षपक तीव्र वेदना से युक्त जान पडे उस समय उसे इस रीति से उत्साहित करना चाहिए।

धण्णोसि तुमं सुज्जस लहिऊणं माणसं भवं सारं।
कयसंजमेण लद्धं सण्णासे उत्तमं मरणं॥

चन्द्रमा के समान पवित्र कीर्ति के धारक क्षपक ! तू धन्य है, क्योंकि भवों में सार मनुष्य भव प्राप्त कर तूने संयम पूर्वक उत्तम सन्यास मरण प्राप्त किया, तेरा शरीर सन्यास मरण से छूट गया है।

भावार्थ—मन बड़ा चंचल है। जरा सा दुःख आ जाने पर ही यह चंचल हो उठता है इसलिए ग्रंथकार की शिक्षा है कि जिस समय क्षपक तीव्र वेदना से युक्त जान पड़े उस समय उसे इस रूप से उत्साहित करना चाहिए। हे क्षपक ! तू ही संसार में धन्य है और प्रशंसा के योग्य है क्योंकि संयम को आराध कर सन्यास-पूर्वक मरण करना उत्तम तप है। सो तूने उत्तम मनुष्य भव पाकर और संयम

की आराधना कर संन्यास के आलम्बन से उत्तम मरण पाया है। ठीक भी है जो पुरुष आत्माराधनपूर्वक तप तपता है वह अति उत्तम गिना जाता है। क्योंकि—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो।
वैराग्यं च करोति यः शुचि तपो लोके स एकः कृती॥
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानं समायीयते।
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयैर्हैमैस्तदारोपितः॥

पवित्र कुल में जन्म और मनोज्ञ शरीर पाकर एवं शास्त्र के रहस्य को जान कर जो पुरुष वैराग्य धारण करता है और पवित्र तप करता है वह मनुष्य संसार में एक ही पुण्यवान गिना जाता है तथा यदि वही पुरुष अपने बड़प्पन का कुछ भी ख्याल न कर ध्यान का आलम्बन करता है तो समझना चाहिए उसने मनोज्ञ प्रासाद के ऊपर मणिजड़ित सुवर्णमय कलशों का आरोपण कर दिया, अर्थात् उसके बराबर कोई भी अन्य पुरुष भाग्यशाली नहीं है। इसलिए आत्माराधनपूर्वक सन्यास मरण आदि तपों का विद्वानों को अवलम्बन करना चाहिए। क्षपक को शारीरिक और मानसिक दुःख अवश्य होता है। यह बतलाते हैं—

किसिए तणुसंघाए चिट्ठारहियस्स विगयधामस्स।
खवयस्स हवइ दुःखं तक्काले कायमणुहूयं॥

उपवास की तीव्र वेदना के कारण जिस समय शरीर कृश हो जाता है उस समय चेष्टा रहित और निर्बल क्षपक को अवश्य शारीरिक और मानसिक दुःख भोगना पड़ता है।

भावार्थ—सिर, कान, नेत्र आदि में तीव्र वेदना, ज्वर के आवेश से शरीर जलना आदि शारीरिक दुःख और यह घर मेरा है, स्त्री, भाई, लक्ष्मी आदि मेरे हैं इस प्रकार के संकल्प विकल्प मानसिक दु.ख हैं। जिस समय उपवास की तीव्र वेदना के कारण क्षपक का शरीर कृश हो जाता है, उस समय वह क्षपक शक्तिहीन हो जाता है और शरीर की निर्बलता के कारण हिलने-चलने आदि की चेष्टा भी नष्ट हो जाती है। इसलिए क्षपक को चाहिए कि वह विशुद्ध परमात्मा की भावना से वचन, मन, काय आदि कर्मों को भिन्न माने जिससे उसे दुःख न मालूम पड़े। कहा भी है—

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं पश्यतो विशददोधचक्षुषा।
तत्कृतेऽपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुख दुःख कल्पना॥

अर्थात् जो योगी परमार्थवादी है—विशुद्ध परमात्म स्वरूप का पूर्ण जानकार है उसे चाहिए कि वह अपने विशुद्ध ज्ञानरूपी चक्षु से समस्त कर्मों को सदा भिन्न देखे। क्योंकि वैसा करने पर उसके सुख-दुःख की कल्पना नहीं उठती। कर्म और आत्मा के भेद विज्ञान से शारीरिक और मानसिक किसी प्रकार का उसे दुःख नहीं सहना पड़ता। कठिन स्थान पर सोने से यदि किसी प्रकार का दुःख मालूम पड़े तो उसे समभावों मे सहन कर लेना चाहिए। कहा भी है कि—

पुटविडुवल्लि किच्चिनुरिगांजदोडा कनकक्के कूडिदा।
कुटिलते पोकुमे मलकलंक कदि कल्लचि कांतिसं॥
पुटदोल्गात्मनु निलिसि निर्मलनागुवनेंब भव्यनु।
त्कट तपदुव्बेगल्किडिदोडे सिद्धिपुढे। रत्नाकराधीश्वरा॥

हे रत्नाकराधीश्वर! हे रत्नागार के अधिपति सिद्ध भगवान! सोने को पिघलाने के लिए आंच पर रख दिया जाता है। अगर वह सोना अग्नि को देख कर भयभीत होगा तो सोने के अन्दर की मलिनता कैसे दूर होगी अर्थात् मलिनता दूर हो सकती है? कदापि नहीं। इसी तरह कर्म रूपी कलंक को नष्ट करने के लिए आत्म रूपी कांति (प्रकाश) नाम की अग्नि लगा कर आत्म शुद्धि करने वाले भव्य जीव कठिन तपश्चर्या रूपी ताप से भयभीत होगा तो क्या उसके आत्म सिद्धि हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। इस प्रकार योगी यदि मन में विचार करके कि शरीर सम्बन्धी स्त्री आदि वस्तु के योग में, रागद्वेष के लिए पूर्ण भयंकर युद्ध में या द्वेष के कारण, ऐसे क्षणिक शरीर को प्राप्त करके मैंने छोड़ दिया है। भव रोग के मूल को जड़ से जलाने के लिए अत्यन्त घोर तपश्चर्या को प्राप्त करके एक शरीर छोड़ने के लिए, भयभीत हो जाऊँगा तो क्या कर्म रूपी कलंक कभी मिट पायेगा, अर्थात् नहीं। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! आने वाले उपसर्ग को धैर्य के साथ कर्म का सामना करो। इस प्रकार सद्‌गुरु का उपदेश है।

सत्पुरुष अनेक प्रकार के होते हैं—

जैसे गन्ने को मशीन में पेरने से रस निकलता है उसी प्रकार अगर मुनि को किसी भी आपत्ति का सामना करना पड़े तो वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। अर्थात् उस आपत्ति का सामना धीरज और वीरता से करता है। कहा भी है कि—

कड़िदुडिद पिरिंदु जन्नदो—
लर्डास रसगोडुं सुट्टोडं निजगुणमं॥

विडदु गड कबुं पुरुषर्—
बिडुवरे निजगुणम नेनितु नोवेय्यदिदोडं ।। ५७ ।।

अर्थ—जैसे गन्ने को तोड़ कर दो टुकड़े कर यंत्र द्वारा रस निकाल कर पकाने पर भी वह गुण को नहीं छोडता है परन्तु पुनः मधुर रस ही देता है। उसी तरह सत्पुरुष अपने ऊपर दुर्जन के द्वारा अनेक कष्ट दिये जाने पर भी अपने सद्गुणों को छोड़कर दुर्गुणों को नहीं ग्रहण करता है। यही सम्यक्त्व की महिमा है ।। ५७ ।।

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने यही बतलाया है कि मुनियों पर दुर्जनों के द्वारा कितना भी उपसर्ग क्यों न हो वह अपने आत्म ध्यान से च्युत न होकर कभी भी विकार भाव को उत्पन्न नहीं होने देता है। जितना जितना कष्ट आता है उतना उतना सहन कर कर्म की निर्जरा का कारण बना लेता है। क्योंकि क्षमा गुण सबसे बड़ा है और प्रधान है। इसलिए महान साधु सबकी स्तुति करने योग्य होता है। जिस मुनि के अन्दर क्षमा गुण होता है वह सबकी स्तुति करने योग्य होता है। इसलिए आत्मा से भिन्न शरीर है, इस शरीर को जिन्होंने अलग माना है और आत्मा में रत हो गये है उनसे यदि कोई दुश्मनी करे तो भी वह क्षमावान मुनि शान्त रहता है। वह कभी भी अपने स्वरूप को छोड़ कर अपने परिणामों को क्रोध रूप नहीं होने देता। इस प्रकार वह मुनि पूर्व जन्म के कर्मों का फल समझ आये हुए उपसर्ग को सहन करता है।

जिस समय मुनि के ऊपर उपसर्ग आता है उस समय वह मुनि इस प्रकार सोचता है—हे मुनि ! तू बारह अनुप्रेक्षा बाईस प्रकार की परीषहों के जय की भावना और महाव्रत की पच्चीस भावनाओं को भा कर उस उपसर्ग को जीतने का दृढ़ संकल्प करले। अर्थात् जब तेरे ऊपर कष्ट आवे, उस समय बारह अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करना ही योग्य है।

बारह अनुप्रेक्षा इस प्रकार हैं—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्म इनकी भावना करने से मन के अन्दर स्थिरता आती है और उपसर्ग सहन करने की दृढ़ता उत्पन्न होती है। आत्मा में स्थिरता लाने के ये ही साधन हैं। भाव सहित की जाने वाली आराधना और साधना का फल संसार भ्रमण है। इसलिए बिना भाव के आत्म सिद्धि नहीं हो सकती।

हे जीव ! भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है कि अपने शुद्ध आत्म तत्व का अपने हृदय में रुचि पूर्वक ध्यान करे। जब देव मनुष्य तिर्यञ्च आदि द्वारा उपसर्ग

आवे उस समय ऐसा विचार करो कि जैसे उपसर्ग विजयी सुकुमार मुनि, वारिषेण, शिवभूति, सुदर्शनश्रेष्ठि उपसर्ग आया हुआ समझ कर आत्म चिन्तवन में रत होकर और शुद्धात्म के प्रति अगाध श्रद्धान रख करके दृढ़ रहे और अन्त में उपसर्ग विजयी होकर उत्तम देव या मोक्ष गति प्राप्त की। इसी तरह हे जीव ! तू भी उपसर्ग को दृढ़ता से सहन करता हुआ आत्मा में स्थिरता लाने का पुरुषार्थ कर। और शुद्धात्म भावना के द्वारा उपसर्ग को दूर करने के लिए प्रयत्न कर, शत्रु और मित्र के प्रति समान भाव रख। ये ही परम साधु का कर्त्तव्य है। इससे संसार में सुख और शान्ति मिल सकती है और थोड़े ही समय में तू संसार का अन्त कर मोक्ष की प्राप्ति कर लेगा।

सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

सम्यक्त्वमे सकलगुणं सम्यक्त्वमे निखिलंसुखद निलयं मत्तं ।
सम्यक्त्वमे मुक्तिपथं सम्यक्त्वदि कूडिनेगल्व तपमुद सफलं ॥५८॥

अर्थ—तत्व श्रद्धान से युक्त सम्यक्त्व ही सकल गुण है, सम्यक्त्व ही संपूर्ण सुख की खान है, सम्यक्त्व ही मुक्ति का मार्ग है। सम्यक्त्व सहित किये जाने वाले तप ही फलीभूत होते हैं ॥५८॥

विवेचन—आचार्य ने यहाँ सम्यग्दर्शन की महिमा को संसार में सबसे महान बताया है। सम्यक्त्व के बराबर इस जीव को संसार में सुख और शान्ति देने वाला दूसरा कुछ नहीं है। इसलिए जो जीव सम्यक्त्व सहित व्रत, तप आदि ग्रहण करता है उसका जीवन यथार्थ में आत्म हित की प्राप्ति कर लेता है। कहा भी है कि सम्यक्त्व सहित दान-पूजा करने वाला जीव इस लोक और परलोक में अनेक प्रकार की सुख-सामग्री को प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दर्शन सहित जीव नव निधि का स्वामी बन जाता है और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। कहा भी है कि

न सम्यक्त्व समं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम् ॥

प्राणी मात्र के लिए सम्यक्त्व के अतिरिक्त कल्याण करने वाला अन्य कोई पदार्थ तीन काल और तीन लोक में नहीं है और मिथ्यात्व के समान अहित करने वाला अन्य पदार्थ दूसरा कोई नहीं है।

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारक तिर्यङ्नपुंसक स्त्रीत्वानि ।
दुष्कुल विकृताल्पायुः दरिद्रतां च व्रजन्ति नास्य वृतिकाः ॥

जिनके सम्यग्दर्शन शुद्ध है व्रत रहित होने पर भी उनके लिए नरक गति, तिर्यञ्च गति, नपुंसक गति, स्त्री पर्याय, नीच कुल में जन्म, विकृत शरीर, अल्प आयु, दरिद्रता आदि को कभी भी प्राप्त नहीं होता है। यह सारी सम्यग्दर्शन की महिमा है।

ओजस्तेजोविद्या वीर्ययशोवृद्धि विजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था, मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ।।

सम्यग्दर्शन से युक्त जीव शक्ति, तेज, विद्या, पराक्रम, कीर्ति, कुटुम्ब, वात्सल्य आदि वृद्धि करने वाले वैभव, विजय, उत्तम कुल, ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त होकर सब मनुष्यों में श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त

अष्टगुण पुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्ट शोभा जुष्टाः ।
अमरास्पदतां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्र भक्ताः ।।

सम्यक्त्व से युक्त मानव प्राणी जिनेन्द्र भक्त स्वर्ग की देवागंनाओं की सभा में चिर काल तक रमण करता है। और वह आठ ऋद्धि की पुष्टि से सन्तुष्ट होकर उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त होता हैं। तदनन्तर शेषायु पूर्ण करके कर्म भूमि में प्रवेश करता है तब उत्तम कुल में जन्म लेता है और उसे पूर्व जन्म की सम्यक्त्व आराधना के कारण ही सुख प्राप्त होता है।

नवनिधि सप्तद्वय रत्नाधीशाः सर्वभूमि पतियश्चक्रम् ।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्ट दशा छत्रमौलि शेखरचरणाः ।।

सम्यग्दर्शन से युक्त जीव नव निधि और चौदह रत्न का अधिपति होता है। सम्पूर्ण पृथिवी के अधिपति चक्रवर्ती के चक्रों को चलायमान करता है। और मुकुटवद्ध राजा महाराजा उसके चरण की सेवा करते हैं और उसके चरण में मस्तक झुकाते हैं।

अमरा सुरनरपतिभिर्यमधर पतिभिश्च नूतपांभोजा ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्थाः वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ।।

जिस तीर्थङ्कर के चरण कमलों को स्वर्ग में रहने वाले देवता लोग, पाताल में रहने वाले असुर लोग, कर्म भूमि में रहने वाले चक्रवर्ती गणधर देव आदि नमस्कार करते है जिनकी शरण सभी लेते हैं और जो पदार्थ को अच्छी तरह से जानता है ऐसा तीर्थंकर पद भी सम्यग्दर्शन से ही प्राप्त होता है। ऐसा समझना

चाहिए। इसलिए आचार्य ने सम्यग्दर्शन की महिमा को यहां बताया है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव संसार में इस लोक में, परलोक में किसी प्रकार का भय नहीं करता। उभय लोक में विना तकलीफ के आयु को पूर्ण करके सम्यग्दर्शन की आराधना कर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कर लेता है। इसके बारे में कहा भी है कि—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकम्।
काष्टागतसुख विद्या विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥

सम्यग्दर्शन युक्त जीवों को क्रोध रहित, जरा रहित, नाश रहित, प्रतिवन्ध रहित, शोक रहित, भय रहित, निःशंक, निर्मल, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, वैभव से युक्त मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं। इसलिए हे योगी! सम्यग्दर्शन सहित आराधना करके इस संसार रूपी बन्धन से शीघ्र ही तर जा। विना सम्यक्त्व के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस सम्यग्दर्शन से महापापी भी तर गये हैं। अंजन चोर, अनन्त मति, उद्दायन राजा, रेवती रानी, जिनेन्द्र भक्त वारिषेण विष्णु कुमार और वन कुमार इस प्रकार ये सब तर गये है। इसलिए जैसे अपूर्ण मंत्र से विष की वेदना दूर नहीं हो पाती उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन सहित व्रत तप दान आत्मा के सुख का कारण होता है। इसलिए हे प्राणी! अगर तुझे संसार से मुक्त होना है तो सम्यक्त्व सहित आत्म आराधना कर। विना श्रद्धान के मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती हैं। कहा भी है कि—

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा।
संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्रयज्ञानशुद्धिप्रदम्॥
निश्चिन्वन् नवसप्ततत्वमचलप्रासादमारोहतां।
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना॥

पहली आराधना सम्यग्दर्शन है। सच्चे आत्मश्रद्धान को तथा तत्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आगे कहे हुए सम्यक्त्व के फल को ध्यान में रखकर इस सम्यक्त्व को अपना हितकारी मानते हुए इसका आश्रय लेना चाहिए, इसे धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पर वस्तु का अनुराग छोड़ने का उपदेश देते हुए कहा है –

परमावदोलादरमुं परभावविवक्षेयुं परात्म स्थितियुं।
परभावदोलोल्त पमुं परमार्थमदल्लवेंदन ध्यात्मविदं॥५६॥

अर्थ—पर वस्तु में अनुराग-परवस्तु के वर्णन करने की इच्छा, पर वस्तु स्वरूप में आसक्त होना, पर वस्तु में आसक्ति करना (उसी में भावना रखना) यह ज्ञानी जीव के लिए हानिकारक है। इसलिए हे योगी ! पर वस्तु में आसक्ति रखना तेरे लिए योग्य नहीं है। ऐसा अध्यात्म ज्ञानी कहते हैं।

विवेचन—आचार्य ने पर वस्तु के मोह को हटाने का आदेश दिया है। जब तक पर वस्तु में यह आत्मा लिपटी रहती है तब तक इस आत्मा का सच्चा कल्याण नहीं होता। पर वस्तु ही आत्म-घात करने वाली है। पर वस्तु ही संसार में इस जीव को परिभ्रमण कराने का कारण बनती है। इसलिए कहा भी है कि—

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरम्।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरुसर्षपयोरिव ॥

तत्व ज्ञानियों ने कहा है कि कालकूट विष, और विषय सुख में मेरु पर्वत और सरसों के समान अन्तर है। कालकूट विष सरसों के समान है तब विषय सुख मेरु पर्वत के समान महा दुःखदाई है।

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम्।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥

हे आत्मन्। ऐसा जान कि विषयों के सुख प्राणियों को सेवते समय सुन्दर दिखाई देते हैं परन्तु उनका फल विष के समान कटुक होता है।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनश्चित्रभानु—
र्यदि कथमपि दद्यात्तृप्तिमासादयेताम्।
न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसंख्यै—
श्चिरतरमपि भुक्तेस्तृप्तिमायाति कैश्चित् ॥

इस जगत में समुद्र नदियों से कभी तृप्त नहीं होता, अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती और कदाचित् दैवयोग से ये तृप्ति प्राप्त भी कर ले, परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के कामभोगादिक भोगने पर भी कभी तृप्त नहीं होता।

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥

मानवों को जैसे जैसे इच्छानुसार भोगों की प्राप्ति होती जाती है वैसे वैसे ही उनकी तृष्णा बढ़ती हुई सर्व लोक पर्यन्त फैल जाती है।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः ।
बद्धास्ते वारिबंधे ज्वलनमुपगता पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ॥
भृंगा गंधोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरंगा ।
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः ॥

रसना इन्द्रिय के वश होकर मछली मरण को प्राप्त होती है, हाथी स्पर्श इन्द्रिय के वश होकर गड्ढे में गिराए जाते हैं व बाँधे जाते है, पतंगे नेत्र इन्द्रिय के वश होकर आग की ज्वाला में जल कर मरते हैं, भ्रमर गंध के लालच में कमल के भीतर मर जाते हैं, मृग गीत के लोभी होकर प्राण गंवाते हैं। ऐसे एक एक इन्द्रिय के वश प्राणी मरते हैं तो भी देहधारियों का राग इंद्रिय विषय भोगों में बना ही रहता है।

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यांति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥

जैसे जैसे प्राणियों के वश में इन्द्रिय आती हैं वैसे वैसे आत्मज्ञान रूपी सूर्य हृदय में ऊंचा २ प्रकाश करता जाता है।

विषयों को न भोगकर छोड़ने वाले की भावना और उसका फल इस प्रकार हैं:—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥

अर्थ—पर पदार्थ कभी अपना नहीं हो सकता। पर पदार्थ इकट्ठे करने की भावना कितनी ही की जाय और कितने ही उपाय किये जायं, पर वे अपने निज स्वरूप में आकर मिल नहीं सकते। आत्मा आत्मा ही रहेगी और पर पर ही रहेंगे। यह एक स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्त्त और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान हैं और जड़ हैं। इस प्रकार जीव और बाकी कुल पदार्थ अपने अपने निराले स्वभावों को रखने वाले माने गये हैं तो उनका एक दूसरे में मिल जाना या एक दूसरे की एक दूसरे से भलाई-बुराई होना असंभव बात है। जड़ चेतन का, मूर्त अमूर्त का मेल होना कठिन है वे एक दूसरे की भलाई बुराई

क्या करेंगे ? दूसरी बात यह कि आत्मा में वह आनन्द भरा हुआ है जो जड़ पदार्थों में असंभव है। शरीर से चेतना निकल जाने पर शरीर तुच्छ और फीका लगने लगता है। इसका कारण यह है कि शरीर जड़ है, इसमें आनन्द या सुख की मात्रा क्या रह सकती है ? शरीर में रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतन का ही चिन्ह है, न कि जड़ शरीर का। क्योंकि, आनन्द या सुख, ज्ञान के विना नहीं होता। वह ज्ञान का ही कार्य है, ज्ञान का ही रूपान्तर है। तो फिर जड़ में वह कैसे मिल सकता है ? इसीलिए सुख की लालसा से जड़ विषयों का सेवन करना, उनसे सुख चाहना भूल है। तव ? केवल आत्मा का स्वभाव जानने के लिए उसी का ध्यान करो चिंतन करो तो सम्भव है कि कभी आत्मा का पूरा ज्ञान हो जाने से पूरा निश्चल सुख प्राप्त हो जाय। जव कि अज्ञान अवस्था में भी थोड़ा सा ज्ञान शेष रहने के कारण जीवों को कुछ सुख का अनुभव होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी बनने पर पूरा सुख क्यों न मिलेगा ? जव कि चेतना ही आनन्ददायक है तो जड़ पदार्थों में फँसने से आनन्द कैसे मिल सकता है ? क्योंकि, जड़ पदार्थों में फंसने से ज्ञान नष्ट या हीन अवस्था को प्राप्त होता है जिससे कि आनन्द की मात्रा घट जाना संभव है। जड़ पदार्थों में फंसने वाला जीव आत्म ज्ञान से तो वंचित होता ही है इधर जड़ पदार्थों से कुछ मिलने वाला नहीं है इसलिए दोनों तरफ से घाटे में रहता है। उसे न इधर का सुख मिल पाता है न उधर का। यदि वही जीव सव तज कर अकेले आत्मा को भजने लगे तो तीनों जग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। फिर शेष रहा ही क्या ? तव मानना चाहिए कि वह तीनों लोक का स्वामी वन चुका।

जव कि यह जीव सव झगड़ा छोड़कर आत्म ज्ञान को प्राप्त करके सारे असार संसार से अपने चिदानन्द को सारभूत समझने लगा और उस लोक श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करने लगा तो इससे वड़ा और तीनों लोक का स्वामी कौन होगा ? कोई नहीं। उस समय ही तीन लोक का स्वामी वन जायगा। क्योंकि जो जिसका स्वामी होता है वह उसके सार सुख को भोगता है। जब जीव तीनों लोक के एकमात्र सार सुख आत्मानन्द को भोगने लगा तो वह तीनों ही लोक का स्वामी हो चुका। कहा भी है कि विषयों में रत हुआ जीव गुण और दोष को देखता नहीं। छत्र चूड़ामणि में कहा भी है कि—

विषयासक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥१०॥

अर्थ—जो मनुष्य विषयभोग में आसक्त हो जाता है, उसके प्रायः सभी गुणों

की इतिश्री हो जाती है। अर्थात् ऐसे मनुष्यों में विद्वत्ता, मनुष्यता, कुलीनता और सत्यता आदि एक भी गुण नहीं रहता।

राजा सत्यंधर ने विषय भोगों में आसक्त होकर अपने राज्य को काष्ठांगार को देकर अन्त में अनेक प्रकार की आपत्तियों को न्यौता दिया और उसी में मरण करके संसार में परिभ्रमण करता रहा। इसी तरह संसार में जितने भी जीव आज दुर्गति को प्राप्त हैं ये सभी पर पदार्थ में आसक्त हैं। इसीलिये दुःख उठा रहे हैं। इसीलिए हे जीव ! अगर तुझे सच्चा आत्म कल्याण करना है तो पर द्रव्य का त्याग कर। चारुदत्त श्रेष्ठी ने विषयान्ध होकर अनेक प्रकार की तकलीफ उठाई यह कथा शास्त्र में प्रसिद्ध है। सगर चक्रवर्ती ने मनुष्य पर्याय प्राप्त करके पूर्व भव में मुनि पद को धारण किया था और अत्यन्त कठोर तप भी किया था किन्तु अन्त में निदान बन्ध कर लिया कि मैं इस भरत क्षेत्र में अयोध्या नगरी में षट्खण्ड पृथ्वी का नायक बनूं। इस तरह निदान बन्ध करके वह सगर चक्रवर्ती बना और अनेक काल तक संसार में विषय सुख में मग्न बना रहा। अन्त में देव ने आ करके उसे संबोधन कर विषय भोग से अलग करके संसार से छुड़ा दिया। इसलिए संसार में पर वस्तु का राग इस जीव को दुःखदायी है। इसलिए पर वस्तु के राग को छोड़ करके शुद्ध आत्मा के भागी बनो। आत्म स्वरूप में अनुराग करने से ही आत्मा की प्राप्ति हो सकती है। कहा भी है कि—

निजभावदोळादरमुं निजभावाविवक्षयुं निजोत्तमगुणमुं ।
निजभावदोळ्तपमुं निजरूपमे नियमवेंदनध्यात्मविदं ।।६०।।

अर्थ—आत्म स्वरूप में अनुराग, आत्म स्वरूप का वर्णन और आत्म स्वरूप की भावना करना ही उत्तम तप कहलाता है। वही आत्म कल्याण के लिए यथार्थ है, इसी को ज्ञानी जीव को करना चाहिए। ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं ।।६०।।

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने आत्म तत्व का वर्णन करने का उपदेश दिया है। जिसको इस संसार में शीघ्र ही सुख प्राप्त करने की इच्छा है उस योगी को आत्म तत्व की ही भावना करनी चाहिए। ऐसा उपदेश दिया गया है।

पद्मनन्दि आचार्य ने एकत्वभावना में कहा है कि—

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ।।
स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ।।

जो कोई अपनी आत्मा को अजन्मा, एक अकेला, परम पदार्थ शांत स्वरूप, सर्व रागादि उपाधि से रहित, आत्मा ही के द्वारा जानकर आत्मा में स्थिर तिष्ठता है वही मोक्षमार्ग में चलने वाला है, वही आनन्द रूपी अमृत को भोगता है, वही पूजनीय, वही जगत का स्वामी, वही प्रभु, वही ईश्वर है।

जो जो वस्तु या अवस्था पर के संयोग से आई वह सब मुझसे भिन्न है उन सबको त्याग देने से मैं मुक्त हूँ, ऐसा ज्ञानी विचारता है। क्रोधादि कर्मों के संयोग होने पर भी वह उत्कृष्ट आत्म ज्योति विकारी नहीं होती है, जैसे विकार करने वाले मेघों से आकाश विकारी नहीं होता है, ऐसा निश्चय आत्मा का स्वरूप है। शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है सो ही पवित्र सम्यग्दर्शन है, सो ही एक निर्मल चारित्र है, वही एक निर्मल तप है। वही चैतन्य स्वरूप आत्मा नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम पदार्थ है। सज्जनों के लिए वही एक शरण का स्थान है। चिदानन्द स्वरूप आत्मा है सो ही एक उत्कृष्ट तत्व है, सो ही एक परम पद है, सो ही भव्य जीवों के द्वारा आराधने योग्य है, सो ही एक परमज्योति है। संसार रूपी आताप से सदा तप्तायमान प्राणी के लिए वह चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही हिमालय के समान शीतल यंत्रधारा-गृह है अर्थात् फव्वारों का घर है। चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही महान विद्या है, सो ही प्रकाशमान मंत्र है। तथा वही संसार रूपी रोग को नाश करने वाली औषधि है। ज्ञानी विचारता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप हूं, और कुछ नहीं हूँ। मेरा किसी के साथ कोई सम्वन्ध नहीं है, मेरा ऐसा दृढ़ निश्चय है। ज्ञानी शरीरादि वाहरी पदार्थों की चिंता के सम्वन्ध से रहित होकर शुद्धात्मा में चित्त को स्थिर करता हुआ निरन्तर विराजता है।

तपश्चरण की आराधना के वारे में आत्मानुशासन में कहा है कि—

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः ।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तप. कार्यम् ॥ १११ ॥

मनुष्य की पर्याय का मिलना अत्यन्त कठिन बात है पर है यह अत्यन्त अपवित्र और सुखरहित। इस पर्याय से अधिक देवादि पर्यायों में सुख प्राप्त होते हैं इसलिए यह सुख का जनक पर्याय भी नहीं कहा जा सकता है। दूसरे, इस पर्याय में विपत्ति इतने प्रकार की भोगनी पड़ती हैं कि इस पर्याय को भी जीव भारभूत समझने लगता है। और सचमुच ही इसमें दुःखों के सिवा है ही क्या ? मरने के समय तक की खवर नहीं रहती कि कब किसका मरण होगा। इसलिए और भी यह एक चिंता मनुष्यों के पीछे सदा लगी ही रहती है। पूरा जीवनकाल ही एक तो वहुत थोड़ा, पर उसके भी बीच में ही मरण हो जाने

का भी भरोसा नहीं है। परन्तु तपश्चरण इसी पर्याय में हो सकता है। और मुक्ति तप के विना होती नहीं है। तो फिर यदि मुक्ति प्राप्त करना हो तो मनुष्य पर्याय पाकर के तप करना ही चाहिए।

भावार्थ—मुक्ति के विना निश्चित सुख कहीं कभी किसी को नहीं मिल सकता है। और वह सुख प्राप्त करना सभी को इष्ट है। तो फिर तप के द्वारा कर्मो का नाश करके मुक्ति सुख इस मनुष्य भव को पाकर क्यों न प्राप्त कर लेना चाहिए। क्योंकि, मनुष्य भव के विना तप नहीं हो सकता और तप के विना कर्म नहीं जल सकते, जो कि मुक्ति होने से रोकने वाले हैं। यह मनुष्य भव भी वार वार मिलने वाला नहीं है। अव तप न किया तो फिर कुछ नहीं हो सकेगा। समुद्र में डाली हुई सरसों कदाचित् फिर भी हाथ लग सकेगी, पर मनुष्य भव गया हुआ फिर सहज तो क्या, अति क्लेश करने पर भी जल्दी हाथ न लगेगा। और इस भव में ऐसी कोई वात नहीं है कि जिसके लिए तप छोड़ दिया जाये। अपवित्र मलमूत्र, रक्त मांस वगैरह का यह पिंड है। क्षुधा, तृपा, रोग, शोक आदि दुःख इसके साथ लगे हुए हैं। इसके जीने का क्षण भर का भी पक्का भरोसा नहीं है। चाहे जब शरीर से चेतना निकल जाती है। असली आधार जो आयु कर्म, है वह तो किसी को जान ही नहीं पड़ता है कि कब खतम होने वाला है। पर वह कर्म वना रहते हुए भी रोग, वेदना, शस्त्राघात, विप आदि क्षुद्र कारण मिल जाने पर शरीर की स्थिरता नष्ट हो जाती है। नारकीयों तक का शरीर नियत समय पूरा होने पर ही छूटता है, पर मनुष्य के शरीर का कुछ भी भरोसा नहीं है। जब कि मनोरंजक सामग्री पवित्र नहीं, सुखजनक नहीं और इसके नाश का भरोसा नहीं, तो फिर किसके लिए इसमें प्रेम किया जाय और तपश्चरण द्वारा प्राप्त होने वाला निराकुल, निश्चल सुख क्यों न प्राप्त कर लिया जाय? इस प्रकार देखने से मालूम होगा कि तप करने से ही इसका पाना संभव है, नहीं तो इसका पाना दुर्लभ और निस्सार है।

परदेहादि पर विश्वास रखकर चलने वाले अज्ञानी जीव को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है ऐसा वतलाते हैं।

परतत्वदभावनेयोकु परणमिसियेर्वात सुत्तु मिप्पममोघं ॥
परमपदवेयदलारदे तिरूगु शुभमशुभ मेनिय परिणतेयिंदं ॥६१॥

अर्थ—देह आदि पर द्रव्यों पर विश्वास रखकर चलने वाला यह अज्ञानी मानव कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है। अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार सुख और दुःख का अनुभव करता हुआ सदा संसार में ही भ्रमण करता रहता है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में बताया है कि शरीरादि के मोह से यह जीव अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है। जब तक शरीरादि पर वस्तु पर ममत्व का भाव रहेगा तब तक मोक्ष की प्राप्ति इस जीव को अत्यंत दुर्लभ है। इसलिये आचार्य ने समझाया है कि अज्ञानी प्राणी! शरीरादि को ही अपनी आत्मा मानकर ममत्व के कारण तू शुद्धात्म तत्व से वंचित रहा। तूने जिन्हें अपना माना है, वे तेरा कल्याण करने वाले नहीं है। ये केवल क्षणिक सुख देकर अन्त में तुझे महा दुःखमय गड्ढे में पहुँचाने वाले हैं। इसलिये कहा है कि हे जीव! तू आशा को ठुकराने का उपाय कर।

> आयातोस्यतिदूरमंग परवानाशासरित्प्रेरितः ।
> किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः ॥
> स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक–
> ग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥

अरे भाई, तू पराधीन बनकर आशा रूपी नदी के बीच प्रवाह में पड़ा हुआ बहुत दूर से बहता चला आ रहा है। अर्थात् अनादिकाल से यों ही भ्रमण करता आ रहा है। वह जो अभी तक भ्रमण होता आया है उसका कारण यही है कि तू यह नहीं समझता था कि मैं ही अपने सामर्थ्य से स्वतंत्र होने पर इसको तर सकता हूँ। अब भी तू परवस्तुओं से ममत्व छोड़कर सावधान हो, अपने स्वरूप को संभाल, देख, किसी के अवलंबन बिना, आप ही तू पार हो जायगा। नहीं तो यदि अब भी सावधान न हुआ तो, परिपाक में दुःखदायक कालरूप ग्राह जिसने गहरा मुख फाड़ रक्खा है और जो अत्यंत भयंकर है, उसके मुख में शीघ्र ही जा पड़ेगा।

वहाँ जाकर फिर निकलने की तो क्या आशा है कि कब निकलेगा, अथवा निकलेगा भी या नहीं? क्योंकि, संसार समुद्र का असली भयस्थान निगोद है, जहाँ से कि फिर निकलने के लिये कोई उद्योग काम हीं नहीं देता। जैसे कोई मनुष्य किसी तीव्र वेग से बहने वाली नदी के बीच में पड़कर बहुत दूर से बहता आ रहा हो तो वह जब तक समुद्र में आ न पड़ा हो तब तक यदि अपनी सुध संभालकर कुछ प्रयत्न करे तो उससे निकल सकता है नहीं तो उसके वेग में बहता बहता जब समुद्र में जा पड़ा तो फिर वहाँ से क्या निकलना होता है? वहाँ तो अवश्य किसी विकराल ग्राह के मुख में पड़कर मरण ही पावेगा। इसी प्रकार एक संसारी जीव, जिसने कि चिरकाल से दुःखदायक योनियों में भ्रमण करते करते मनुष्य पर्याय पाली है, जहाँ कि चाहे जितना अपने कल्याणार्थ उद्योग किया जा

सकता है, यदि वह कुछ न करे तो निगोदादि गतियों में पड़कर फिर चिरकाल तक वहाँ दुःख ही भोगता रहेगा, जहाँ कि अपने सुधार का कुछ भी उद्योग नहीं हो सकता है। इसीलिये फिर वहाँ से निकलना अपने स्वाधीन नहीं रहता। इसलिए जो कुछ कल्याण करना हो वह अभी इस पर्याय में ही कर लेना चाहिये।

विषयभोग जूठन है, इसलिये उनमें आसक्ति करने का निषेध—

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद् भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषस्यप्राप्तपूर्वं यथा ॥
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद्दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥

अरे जीव, विषयासक्त मनुष्यों ने बड़ी उत्कंठा के साथ जिनको अनेक बार भोगा और निस्सार समझकर पीछे से छोड़ दिया, जूठन की कुछ भी ग्लानि न करके उन्हीं को तू आज प्रेम के साथ भोग रहा है कि जैसे ये विषय पहले कभी मिले ही न हों। यद्यपि इन भोगों की इच्छा पूर्ण होने के लिये चाहे तू कितनी ही बार क्यों न भोग, परंतु तब तक क्या शांति उत्पन्न हो सकती है जब तक कि अपराधरूप प्रबल अनेक शत्रुओं के सैन्य की विजयपताका के समान जो यह विषयाशा है इसे गिरा नहीं देगा। अर्थात्, जैसे शत्रु राजाओं का परस्पर जब संग्राम होने लगता है तब एक दूसरे की विजयपताका गिरा देने के लिये दोनों ही अनेक प्रयत्न करते हैं। और जब तक एक की वह पताका गिर नहीं जाती तब तक दोनों ही बड़े व्यग्र रहते हैं। इसी प्रकार तुझे जो यह दुराशा लगी हुई है उसे तू पापकर्मरूप शत्रुओं के सैन्य की विजयपताका समझ। जब तक यह पताका तुझसे गिराई नहीं जाती तब तक पापरूप शत्रुओं की हार नहीं होगी। और तब तक उनसे अशांति उत्पन्न होती ही रहेगी। वह अशांति तभी मिटेगी जब कि तू उस दुराशा को मिटा देगा।

आशा के वश रहने से और भी जो कार्य होते हैं, वे ये हैः—

भंक्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं ।
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा ॥
यद्यत् साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः ।
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥

विषधर सर्प के तुल्य, अनेक भवपर्यन्त दुःख देने वाले भोगों के सेवन की अत्यंत उत्सुकता धारण करके तूने आगे के लिए दुर्गति का बंध किया। अतएव

अपने उत्तर भवों को नष्ट कर दिया। और अनादिकाल से लेकर अभी तक मरण के दुःख भोगे। तो भी तू उन दुःखों से डरता नहीं है, निर्भय हो रहा है। जिस जिस कार्य को श्रेष्ठ जनों ने बुरा कहा, उसी उसी को तूने अधिकतर चहा और किया। इससे जान पड़ता है कि तेरी बुद्धि नष्ट हो गई है और तुझे आगामी काल में सुखी होने की इच्छा नहीं है। इसीलिए तू निन्दित कार्य करके अपने सर्व सुख को वृथा नष्ट करना चाहता है। ठीक ही है, काम क्रोध रूप बड़े भारी पिशाच का जिसके मन में प्रवेश हो जाता है वह क्या क्या नहीं करता है ? उसे हिताहित का विवेक कहां रह सकता है ?

विषयों की क्षणिकता दिखाते हैं—

श्वो यस्याजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते,
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं,
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि॥

अरे भाई, जो दिवस जिसके लिए आने वाला था वही दिवस उसी के लिए कुछ समय वाद वीता हुआ हो जाता है। यह बात, क्या तू भ्रम दूर करके साक्षात् अपने ही नेत्रों से नहीं देख रहा है, जो कि तू इन्हीं क्षणभंगुर स्त्री-पुत्रादिकों मे फिर फिर से अत्यंत आसक्त होकर भटकता है ?

भावार्थ—सभी वस्तुयें क्षण क्षण भर में और से और हो जाती हैं। एक भी वस्तु क्षण मात्र के लिए भी स्थिर नहीं है। जगत भर की जड़ वस्तुयें काल वायु के वेग से नष्ट हुई हैं। अर्थात्, जिस दिवस का एक समय प्रभात होता है उसी का थोड़े समय वाद अन्त हो जाता है, उसी प्रकार संसार की सभी चीजें क्षणभंगुर समझनी चाहिए, एक भी चीज चिरस्थायी नहीं है। जब कि ऐसा है तो संसार के लोग क्षणनश्वर इन स्त्री पुत्रादिकों में ही बार बार अत्यन्त आसक्त होकर क्यों अपने आपको भूल रहे हैं ?

जग की क्षणभंगुरता न समझने से क्या होता है ?

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेप्युद्वेगकारिण्यलं,
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्।
तत्तावत् स्मर स्मितशितापाङ्गैरनंगायुधै-,
र्वमानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत् प्राप्तवान् निर्धनः॥

अरे, संसार में भ्रमते हुए तूने नरकादि गतियों में, जिनके स्मरणमात्र से भी अत्यन्त भय उत्पन्न होता है ऐसे जो दुःसह दुःख अभी तक भोगे उन्हें तो तू यों ही रहने दे, क्योंकि वे अब साक्षात् दीखते नहीं हैं परन्तु जैसे तुषार के पड़ने से छोटे छोटे पौधे दग्ध हो जाते हैं उसी प्रकार काम के बाणों के तुल्य स्त्रियो की कामोद्दीपक मंद मंद हँसी से तथा तीक्ष्ण कटाक्षों से विद्ध होते हुए जो तुझे दुःख प्राप्त हुए, एवं दरिद्रता के कारण जो दुःख तुझे हुए, उन सबों का तो तू स्मरण कर, वे तो अभी वर्तमान भव के हैं। हे जीव ! तू अनादि काल से विवेकशून्य ही रहा। इसीलिए तूने जग की क्षणिक माया में फँसकर अनेक वार नरकादि के तीव्र दुःख भोगे हैं। परन्तु वे सभी दुःख परभव सम्बन्धी होने से तूने विसार दिये हैं। खैर, अब वर्तमान ही अवस्था में निर्धनता के कारण जो अनेक तरह के कष्ट तथा तिरस्कारादि दुःख सहे हैं, एवं काम के वशीभूत होकर स्त्रियों के तीव्र ताप उत्पन्न करने वाले कटाक्ष देख कर जो तीव्र वेदना निरन्तर सही है, उन्हीं को तू विचार। इनके विचारने से ही तुझे जगं की निस्सारता समझ पड़ेगी।

विषय सामग्री मिलने पर भी सुख का अभाव दिखाते हैं—

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः॥

मोह के वश जीवों का शरीर सूख जाता है, मरण भी हो जाता है, और निरन्तर मन में रागद्वेष रूप दाह जाज्वल्यमान बना ही रहता है। इसलिए मोह को विवेकी साधुओं ने एक तरह की अग्नि कहा है। परन्तु यह अग्नि से भी बढ़कर है। अग्नि और ईंधन का सम्बन्ध जब तक रहता है तभी तक वह जलती है, प्रदीप्त रहती है। ईंधन नहीं रहा कि बुझ जाती है, परन्तु मोहाग्नि तथा परिग्रह, विषयरूप ईंधन रहने पर भी जाज्वल्यमान होता है। जब कुछ थोड़ा सा विषय भोग मिल जाता है तो फिर उससे अधिक चाह होती है। उतना भी मिल जाता है तो फिर उससे अधिक की तृष्णा बढ़ती है यहाँ तक कि चक्रवर्ती की सम्पत्ति मिल जाने पर भी विषयासक्त कितने ही मनुष्यों को सन्तोष नहीं होता। वे चाहते हैं कि इससे भी अधिक जो कि जीवमान को असम्भव है उनकी प्राप्ति हमें हो। ऐसे तीव्र विषयी जीव उसी आसक्ति में मर तक जाते हैं। जिनके पास कि विषय भोग हैं ही नहीं उनकी दुःखित स्थिति तो जग जाहिर है। दूसरी बात यों भी है कि जो धनवान् हैं वे धन के रक्षण में निरन्तर दुःखी बने रहते हैं, उन्हें सदा धन की सब तरह से रक्षा करने में ही दिन रात बिताने पड़ते हैं। चोर, डाकू, ईति, भीति, राजा, भागीदार, बन्धु, अग्नि, अड़ौसी-पड़ौसी आदि सभी धन के भक्षकों से उन्हें रक्षा करनी पड़ती है। जो निर्धन हैं वे नया धन कमाने में सदा व्यग्र बने रहते

हैं, उन्हें पेट भरने तक की चिन्ता शल्य की तरह सदा चुभा करती है। किसी ने ठीक कहा है—"धनहि बिना निर्धन दुखी तृष्णावश धनवान। कोई सुखी नहिं जगत में सब जग देखा छान।"

ममता ही संसार के लिए कारण है इसलिए हे जीव ! परवस्तु से मोह को छोड़कर नित्य निरंजन आत्मानन्द का अनुभव करो।

लोक में एक कथा प्रसिद्ध है।

किसी जंगल में कोई एक साधु आत्म साधन में लगे हुए आसन लगा कर स्थिर बैठे थे। अर्थात् आत्म ध्यान में लीन थे। एक समय उनके पास एक चूहे ने आकर नमस्कार किया। उसका नमस्कार करने का कारण यह था कि उसको पूर्व जन्म के संस्कार अर्थात् वह पूर्व जन्म में धन के आर्तध्यान से मरकर चूहा बना था। उस साधु को देखकर उसके संस्कार जागृत हुए, इससे उसने महात्मा के पास आकर आनंद से मस्तक झुका कर नमस्कार किया। इससे वह साधु उस चूहे पर प्रसन्न हुआ और बोला—हे चूहे ! तेरे नमस्कार से मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई है, मैं तुझे मनुष्य पर्याय में या देव पर्याय में जन्म लेने का उपाय बताऊँ या सेठ साहूकार होने का उपाय बताऊँ या बना दूँ या सूर्य, चन्द्र, भुवनपति, या देव आदि बना दूँ। अगर तुझे मनुष्य बना दूँ तो धर्म की आराधना का महा साधन प्राप्त होता है। उस साधु का वचन सुनकर वह चूहा कहने लगा कि हे महात्मा ! मुझे श्रीमंत बनने की इच्छा नहीं है। परन्तु एक अत्यन्त सुन्दर रूपवती चुहिया मिले ऐसा मुझे आशीर्वाद दें। अगर इतना मुझे मिले तो बड़ा आनन्द होगा। और मेरा ससार सुख रूप बनेगा। इस तरह उस चूहे के वचन सुनकर महात्मा कहने लगा कि अरे चूहे ! चुहिया की जो तूने मांग की है, इससे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। अन्य कुछ मांग उसकी प्राप्ति का उपाय बताऊँगा। इसके उत्तर में चूहे ने कहा कि नहीं मुझे किसी और वस्तु की आवश्यकता नहीं, सिर्फ एक रूपवती सुन्दर चुहिया मुझे चाहिए। तब महातमा समझ गया कि अज्ञानी, मोही बहिरात्मा जीव का यही स्वभाव होता है, इसलिए अपनी वासना के अनुसार ही ये आशीर्वाद मांगते हैं।

इसलिये ग्रंथकार कहते हैं—देहादि पर वस्तु में लीन हुए जीव सुन्दर स्त्री और सम्पत्ति आदि के विषय भोगों में अत्यंत आसक्त होकर इस संसार रूपी सागर में डूबते हुए अनेक कष्ट उठा रहे हैं, और इतने दुःख होने पर भी संसार से तर जाने की इच्छा नहीं करते हैं। इसीलिए श्री गुरु कहते हैं—अरे योगी ! तुझे संसार रूपी समुद्र तर जाने के लिए मनुष्य पर्याय तो प्राप्त हुई है, इसलिए श्री गुरु से तर जाने का ज्ञान सीख ले। यह सुवर्ण अवसर तुझे बार बार मिलने वाला नहीं है।

तू अत्यन्त सुन्दर रूपवान स्त्रियों में जितना जितना आसक्त होता जाता है उतना उतना परिग्रह पिशाच तेरे पीछे पड़कर तुझे हैरान कर देता है। और जितने पुत्रादिक उत्पन्न करता जायेगा, उतना ही तुझे ज्यादा दुःख उठाना पड़ेगा इसलिए हे जीवात्मन् ! अब तू अपने दिल में एकाग्र होकर सोच ले और अपनी आत्मा को इस विषय वासना से छुड़ाकर अपने असली स्वरूप के प्रति लगा। इससे तेरा कल्याण होगा। और कोई कल्याण मार्ग नहीं है।

इसलिये हे जीव ! जिसके ऊपर मोह करके आज तक अपने निजात्म स्वरूप को नहीं पाया, ये सभी पुत्र, स्त्री आदि कर्मो के आधीन हैं और ये तेरा कल्याण करने वाले नहीं है। केवल तुझे मोह उत्पन्न कराके संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं और अन्त समय में तेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। कहा भी है कि:—

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न देवा।
न कांता न माता न भृत्या न भूपाः ॥
यमालिंगितं रक्षितुं संति शक्ता।
विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥

जिस समय शरीर की आयु खत्म हो जाती है उसकी रक्षा करने के लिये उस समय न वैद्य, न पुत्र, न ब्राह्मण, न देव, न स्त्री, न माता, न सेवक न राजा कोई समर्थ नहीं होता। इस प्रकार विचार कर अपने कार्य में तत्पर रहो।

सतत निजरूप में रमण करने से कर्म का नाश होता है, ऐसा कहते हैं—

संतत निजात्मरूपद चिते योकिपंगे किडद कमर्मदुटें।
इंतिद नरियद मुनिजन रेतेय् दुवरय्यनंत सौख्यरूपदवं ॥६२॥

अर्थ—सदा ही अपने आत्म स्वरूप की भावना में रहने वाले ज्ञानी जीव के क्या कर्म का नाश नहीं हो सकता ? अर्थात् हो सकता है। इस तरह इस विषय को जानने वाले मुनि लोग अनत सुख रूप मोक्ष पद को कैसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं ? अर्थात् जरूर कर सकते हैं ॥६२॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि जो ज्ञानी मुनि संपूर्ण बाह्य विषय को छोड़कर केवल अपने आत्म स्वरूप में लीन होकर अपने अन्दर ही क्रीड़ा करेगा तो क्या उसके कर्मों की निर्जरा नहीं होगी ? अर्थात् जरूर होगी !

कितने भी शास्त्र पढ़े जांय, बिना वैराग्य के कर्मों की निर्जरा का कारण आत्म ध्यान नहीं हो सकता। जो ज्ञानी पुरुष संपूर्ण बाह्य वस्तु को त्यागकर अपनी आत्मा में रमण करता है वह शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा करके संसार से अर्थात् कर्म बंधन से छूट जाता है। इसलिये कहा भी है कि:—

देविंदचक्कवट्टी, य वासुदेवा य भोगभूमीया ।
लोगेहि ण तिप्पंति हु, तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥

इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, भोगभूमिया भी जब भोगों से तृप्त नहीं हो सकते हैं तो और कौन भोगों को भोगकर तृप्ति पा सकेगा।

अप्पायत्ता अज्झप्परदी भोगरमणं परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो, होदि ण अज्झप्परमणेण ॥

अध्यात्म में रति स्वाधीन है; भोगों में रति पराधीन है। भोगों से तो छूटना ही पड़ता है, अध्यात्म रति में स्थिर रह सकता है। भोगों के भोग में अनेक विघ्न आते हैं, आत्मरति विघ्नों रहित है।

भोगरदीए णासो णियदो विग्धा य होंति अदिवहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए ण णासो ण विग्घा वा ॥

भोगों का सुख नाश सहित है व अनेक विघ्नों से भरा हुआ है, परन्तु भली प्रकार पाया हुआ आत्मसुख नाश और विघ्न से रहित है।

एगम्मि चेव देहे, करिज्ज दुःक्खं ण वा करिज्ज अरी ।
भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ॥

वरी एक ही देह में दुःख करता है, परन्तु ये भोग इस जीव को करोड़ों जन्मों में दुखी करते हैं।

णच्चा दुरन्तमध्दुव मत्ताणमतप्पयं अविस्सामं ।
भोगसुहं तो तह्मा, विरदो मोक्खो मदिं कुज्जा ॥

इन इंद्रियों के भोगों को दुःख रूपी फल देने वाले, अस्थिर अशरण तथा अतृप्ति के कर्ता व विश्राम रहित जानकर ज्ञानियों को इनसे विरक्त होकर मोक्ष के लिये बुद्धि करनी चाहिये।

श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनाम् ।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ॥

संसारी प्राणियों को इन्द्रियों के द्वारा होने वाला सुख दुःख आदि काल्प की वासना सा भासता है। भ्रम से इंद्रिय सुख, सुख दीखता है। ये ही इंन्द्रियों के भोग व भोग्य पदार्थ आपत्ति के समय ऐसे भासते हैं, जैसे रोग। जब कभी संकट आ खड़े हो जाते हैं, तो स्त्री, पुत्रादि का संग भी बुरा मालूम पड़ता है। शोक के समय इष्ट भोग भी सुहाते नहीं।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥

ये इन्द्रियों के भोग प्रारम्भ में ही बहुत संताप देने वाले हैं। उनकी प्राप्ति के लिये बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। जब ये भोग समाप्त हो जाते हैं तब भोगते हुए तृप्ति प्राप्त नहीं होती है, तृष्णा बढ़ जाती है। उनसे वियोग होने पर बड़ा भारी दुःख होता है। ऐसे भोगों को कौन बुद्धिमान आसक्त होकर सेवन करेगा ? कोई नहीं।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥

ज्ञानी विचारता है कि मैंने जगत के सर्व ही पुद्गलों को वार वार मोह क वशीभूत हो भोगा है और त्यागा है। अब मैं समझ गया हूँ। मैं अब जूठन के समान भोगों की क्यों इच्छा करूं ?

श्री पूज्यपाद स्वामी समाधि शतक में कहते हैं—

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहं ।
तान्प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्वतः ॥ १६ ॥

ज्ञानी विचारता है कि मैं अपनी आत्मा से छूटकर पांचों इन्द्रियों के द्वारा विषयों में वार वार गिरा हूँ। उनमें लिप्त होने से मैंने निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचाना। अब इनका मोह छोड़ना ही उचित है।

हे आत्मन् ! यहाँ संसार में शत्रु तब तक ही दुःख दे सकता है जब तक तेरे भीतर ज्ञान रूपी ज्योति को नष्ट करने वाले कर्म बन्ध रूप दोष की खान है। वह कर्म बन्ध राग और द्वेष के निमित्त से होता है। इसलिए मोक्ष सुख का

अभिलाषी होकर तू सर्व प्रथम शीघ्रता से यत्नपूर्वक उन दोषों को छोड़। हे आत्मन् ! न तो तुम लोक के कोई हो और न लोक ही कोई तुम्हारा हो सकता है। हाँ, तुमने जो कुछ कमाया है वही भोगना पड़ता है। तुम्हारा इस लोक के साथ भला क्या सम्बन्ध है। अर्थात् कुछ भी संबंध नहीं है। फिर इस लोक के न होने पर विषाद और उसके विद्यमान होने पर हर्ष क्यों करते हो। इस प्रकार शरीर से रागद्वेष नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह जड़ है। अचेतन है तथा शरीर से संबंधित इन्द्रिय भोग सम्बन्धी सुखादिक में तुम्हें राग द्वेष करना उचित नहीं है। क्योंकि वह विनश्वर है। इस प्रकार निश्चय करके तुम अपनी आत्म शक्ति का अनुभव करो। इस संकटवर्ती लोक को स्थायी मत समझो। कुटुम्ब एवं धन धान्य आदि बाह्य पदार्थो का आत्मा से कुछ भी संबंध नहीं है। वे प्रत्यक्ष भी अपने से पृथक् दीखते हैं। अतएव उनके संयोग में हर्षित और वियोग में विषण्ण होना उचित नहीं है। और तो क्या कहा जाय, जो शरीर आत्मा के साथ ही रहता है उसका भी सम्बन्ध आत्मा से कुछ भी नहीं है। कारण यह कि आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन है। इसी प्रकार इन्द्रियों का सम्बन्ध भी उस शरीर से है न कि उस चेतन आत्मा से। विपय भोगों से उत्पन्न होने वाला सुख विनाशीक है, स्थायी नहीं है। इसलिए हे आत्मन् ! शरीर एवं उससे सम्बन्धित सुख दुःख से रागद्वेष न करके अपने आत्म स्वरूप का अवलम्वन कर।

अपनी आत्मा में आप ही तन्मय होकर देखेंगे, तो अपने अन्दर ही परम विशुद्ध परमानंद परमात्मा मिलेगा, ऐसा कहते हैं।

नस्फ नस्फदान्मनोकात्मन्, नलसदे सले भाविसल्के दुरितव्रजमुं।
जलबुद्बुदर्दतप्पुदु, एले निनगिदुपेक्षेगेय्यलक्कुमें जीवा ॥ ६३ ॥

अर्थ—हे जीव ! आनन्द के साथ नाचते नाचते आत्मा में आत्मा को प्रमाद रहित होकर देख। यह दुष्कृत्य अर्थात् पाप समूह पानी के बुलबुले के समान क्षण में नष्ट होने वाला है, यह प्रतीत होता है। तब तू इस प्रकार आत्म चिन्तन करने की क्या उपेक्षा करेगा ? अर्थात् आत्म चिन्तन को छोड़ना नहीं चाहिए ऐसा इसका भावार्थ है ॥ ६३ ॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह वताया है कि हे योगी ! तू सम्पूर्ण वाह्य वस्तु के मोह को त्याग कर अपने आत्म सम्मुख होकर अपने अन्दर ही अपने को अपने स्व उपयोग के द्वारा देख, तत्पश्चात् अपने स्व उपयोग के द्वारा अपने स्व स्वभाव को निरीक्षण करने पर यह आत्मा चिन्मय चित् ज्योति रूप है ऐसा तुझे अपने अन्दर ही मालूम पड़ेगा। तव उसमें मग्न होकर अमृतमय आत्मानंद

सरोवर में क्रीड़ा कर, बार बार उसी अमृत का पान कर, निजात्म को पुष्ट कर, आत्म बल को बढ़ा । हे योगी, यदि यह अमृतमय आत्मानन्द रूपी रसायन का एक बार तू पान करेगा तो तेरे साथ लगा हुआ कर्म रूपी रोग क्षण भर में नष्ट होगा और सदा के लिए अखण्ड आत्मानन्द स्वराज्य का धनी बनेगा और सदा के लिए तेरी दरिद्रता दूर होगी । हे महाशय ! तू अपने अन्दर भरे हुए रत्नों के खजाने को छोड़कर दुनिया के पहाड़, पत्थर, नदी, सरोवर, तीर्थक्षेत्र आदि में भ्रमण करके व्यर्थ ही कष्ट क्यों उठा रहा है ? जरा तू पर पदार्थ की तरफ लगी हुई दृष्टि हटा कर अपने भीतर ही छिपी हुई रत्नत्रय निधि को ध्यान से देख तब पता लगेगा कि तीन लोक का सारा खजाना मेरे पास ही छिपा हुआ है । तत्पश्चात् बाह्य पदार्थ में दौड़ने वाला तेरा चंचल मन या पर में दौड़ने वाला उपयोग इसी में स्थिर हो जायगा तब तुझे अजर अमर अचल स्थिर निज शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति हो जायगी ।

इस आत्मानन्द को आत्म ज्ञानी ही जान सकता है ।

जब ज्ञानी भव्य जीव इस आत्मानन्द का स्वाद अपने अन्दर लेने लगता है तब उसको इतना आनन्द आता है जैसे कोई गरीब व्यक्ति अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन से तृप्त होकर अन्त में आनन्द से डकार लेता है और खाये हुए भोजन का स्वाद बार बार स्मरण करके उसकी तारीफ करता है और इतर बाह्य पदार्थ को भूल जाता है । इसी तरह ज्ञानी भव्य जीव आत्मानन्द सुख अमृत का पान करते हुए उसमें मग्न होकर बाह्य विषय वासना को बिल्कुल भूल जाता है । उसी को गाता है, उसी की चर्चा करता है और उसी में मग्न होकर संसार बंधन में होने पर भी अपने को संसार से मुक्त हूँ ऐसी भावना करता है । वही योगी संसार के विषय भोगों से शीघ्र ही मुक्त होता है ।

हे जीव ! तू अनादि काल से आज तक अनेकानेक बाह्य विचित्र चित्रों को देखकर आश्चर्य चकित हुआ होगा । परन्तु तीन लोक को आश्चर्य चकित करने वाली अद्‌भुत वीतराग निर्विकल्प परम ज्योति तेरे ही पास है । उसे देखकर तू कभी आश्चर्य को प्राप्त नहीं हुआ है ।

एक उदाहरण है कि किसी राजदरबार में किसी एक चित्रकार ने आकर राजा ने प्रार्थना की कि हे राजन् ! मुझे मेरे योग्य कोई काम बताइये । राजा ने पूछा कि आप कौन हैं । इसके उत्तर में उसने कहा कि मैं चित्रकार हूँ । 'क्या आप चित्र बनाना जानते हैं' ? जी हाँ ! क्या आप दुनिया को आश्चर्य चकित करने वाला चित्र बना सकते हो' ? मैं ऐसे चित्र बना सकता हूँ कि दुनिया उसे देखकर आश्चर्यचकित रह जाय ।' राजा ने पूछा—एक चित्र का क्या मूल्य होगा ?

उसने कहा कि 'मैं एक चित्र का बीस हजार लूंगा।' राजा ने मंत्री से कहा कि इसे बीस हजार रुपये दे दो। राजा ने यह भी पूछा कि चित्र कितने दिन में बनेगा तो उसने कहा कि छः महीने लगेंगे। 'अच्छा' कहकर राजा ने उसे विदा कर दिया। तत्पश्चात् एक दूसरा चित्रकार आया। उस व्यक्ति को देखकर राजा ने पूछा कि तू कौन है? उसने कहा कि मैं विचित्रकार हूँ। अगर मुझे काम मिल जाय तो ऐसा चित्र बनाऊँगा जो सारे जगत को आश्चर्य चकित कर दे। राजा ने पूछा कि क्या मूल्य होगा? उसने कहा कि मुझे किसी चीज की जरूरत नहीं है। कितने दिन लगेंगे। मुझे सिर्फ एक दिन चाहिए। और क्या चाहिए? राजमहल की एक दीवाल पर मैं चित्र खींचूं, यह इजाजत मुझे मिल जानी चाहिये। राजा ने उसको एक साफ दीवाल बता दी। उसने कहा कि मेरे पास कोई उपस्थित न रहे। मैं किवाड़ बन्द करके चित्र खींचूंगा। तब उसने कमरा बन्द करके उस दीवाल को साफ किया और नरम पत्थर लेकर घिसाई करना शुरू कर दिया। इस तरह वह दीवाल शीशे की तरह चमक गई। जब वह ठीक चमकदार बन गई तो उसने उसके ऊपर पर्दा डाल दिया और राजा को निमंत्रित किया कि सब बड़े बड़े लोगों को चित्र देखने बुला लें। जब राजा आया और उसने उस पर्दे को उठाया तो राजा का प्रतिबिम्ब उस शीशे की दीवाल में दिखाई देने लगा। सभी मंत्री वगैरह ने आकर देखा और कला की सराहना की। इसी प्रकार बाह्य जड़ वस्तु को मानव देखकर अनादि काल से चकित हो रहा है परन्तु निर्विकार और अरूपी चित्र आज तक देखने में नहीं आये हैं। यह संसार में रत हुआ मोही जीव बाह्य चित्रों में, बाह्य वासनाओं में लुब्ध होकर अनादि काल से जड़ चित्रों को देख कर आश्चर्य चकित हो रहा है। अगर यह जीव इस शरीर के अन्दर रहने वाली आत्मा को संयम और तप के द्वारा घिसता जाय तो भीतर के ज्ञान दर्शन, चेतनमय उपयोग में परमज्योति परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। हे जीव! यदि तू अपने अन्दर प्रवेश करके स्व और पर के ज्ञान के द्वारा आत्मा और शरीर को भिन्न करके ध्यान और समाधि के बल पर दर्शन करे तो तू ही एक दिन सच्चिदानन्द वीतराग परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार श्री गुरु ने बार बार समझाया है।

अब आगे मन वचन काय से विषय वासना को त्यागने का उपदेश देते हैं।

संद मनवचनकायद दुंदुगदोंदकवनुळिदु सुखमेनितिकुं ॥
कुंददे सुमोघ दर्शन दंदमे चिन्मात्रमेंदु भाविसु जीवा ॥६४॥

अर्थ—हे जीव! मन, वचन और काय के आधीन न होकर शरीर से भिन्न जो आत्मा का स्वरूप है वही सुख रूप है। ज्ञान दर्शनमय है, अनंतगुण का भंडार

है परिपूर्ण है । सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप है। वही चित् स्वरूप है। वही मेरा स्वभाव है। ऐसा तू मन में निश्चय करके उसका चिन्तन कर और अन्य पर वस्तु के चिन्तवन करने से तुझे क्या लाभ है ।।६४।।

विवेचन—इस श्लोक में ग्रंथकार ने मन, वचन काय के द्वारा विषयवासना को दूर हटाकर केवल सच्चिदानन्द रूप अपने स्व स्वरूप का चिन्तवन करने का उपदेश दिया है।

विषय में फंसने वाला "आप" आत्ममात्र भी सुख नहीं होता है। जैसे कि:

उग्रग्रीष्मकठोर घर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः ।
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः ।।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल–
स्तोयोपान्त दुरन्तकर्दमगत्क्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ।।

जैसे कोई बूढ़ा असमर्थ बैल पानी की इच्छा से जल के पास जाकर वहाँ के लम्बे चौड़े दलदल में यदि फंस जाय तो वह बाहर फिर निकल सकता है ? नहीं। उलटा श्रम करने से खिन्न होगा और ऊपर से सूर्य की जो तीक्ष्ण किरणें पड़ेंगी उनसे अत्यंत दुःखित होगा और अंत में उसी में मर जायगा। इसी प्रकार जीव भी बढ़ी हुई विषयतृष्णा के वश होकर सूर्य किरणों के समान कठोर तथा संतापकारी संपूर्ण इंद्रियों से तप्तायमान होता हुआ अनेक तरह के अनवरत उपाय करने पर भी पूर्ण अभीष्ट को नहीं पाता तब पाप के उदयवश तथा अनेक श्रम करने के कारण अत्यंत खिन्न होता है। इसका कारण केवल यह है कि, असली सुखोपाय और अपना अभी तक भान ही नहीं हुआ है कि, मैं कौन हूँ, और असली सुख कैसे मिल सकता है ? अज्ञानी की दशा सभी जगह ऐसी ही होती है।

विषयसामग्री मिलने पर भी सुख का अभाव दिखाते हैं—

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः ।
ज्वलत्युभययाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ।।

मोह के वश जीवों का शरीर सूख जाता है, मरण भी हो जाता है, और निरंतर मन में रागद्वेषरूप दाह बना ही रहता है। इसलिये मोह को विवेकी साधुओं ने एक तरह की अग्नि कहा है। परन्तु यह अग्नि से भी बढ़कर है। अग्नि में जब तक ईंधन का सम्बन्ध रहता है तभी तक जलती है, प्रदीप्त रहती है। ईंधन नहीं रहा कि बुझ जाती है, परंतु मोहाग्नि तथा परिग्रह, विषय रूप ईंधन

रहने पर भी जाज्वल्यमान होता है। जब कुछ थोड़ा सा विषयभोग मिल जाता है तो फिर उससे अधिक की चाह होती है। उसकी प्राप्ति पर उससे अधिक की तृष्णा बढ़ती है। यहां तक कि चक्रवर्ती की संपत्ति मिल जाने पर भी विषयासक्त कितने ही मनुष्यों को संतोष नहीं होता। वे चाहते हैं कि इससे भी अधिक जो कि जीव मात्र को असंभव है उनको प्राप्त हो। ऐसे तीव्र विषयी जीव उसी आसक्ति में मर तक जाते हैं। जिनके पास विषयभोग हैं ही नहीं, उनकी दुःखित स्थिति तो जग जाहिर है। दूसरी बात यह भी है कि जो धनवान् हैं वे धन के रक्षण में निरंतर दुखी बने रहते हैं, उन्हें सदा धन की सब तरह से रक्षा करने में ही दिनरात बिताना पड़ता है। चोर, डाकू, ईति, भीति, राजा भागीदार, बंधु, अग्नि, अड़ौसी, पड़ौसी आदि सभी धन के भक्षकों से रक्षा करनी पड़ती है। जो निर्धन हैं वे नया धन कमाने में सदा व्यग्र और व्यस्त रहते हैं, उन्हें पेट भरने तक की चिन्ता शल्य की तरह सदा चुभा करती है। किसी ने ठीक ही कहा है "धन हि विना निर्धन दुखी तृष्णावश धनवान्। कोई सुख न जगत में सब जग देखा छान"।

कहने का सारांश यह है कि हे भव्य जीव ! तू इस संसार, विषयवासना का मन, वचन काय से त्याग करके शुद्ध, अखण्ड अविनाशी ज्योति जो शरीर में निरन्तर प्रकाशमान हो रही है उसके दर्शन कर।

बहुत कहने से क्या ? बुद्धिमान् मनुष्य को निर्मल योग की सिद्धि के लिये कर्म समूह से उत्पन्न हुई समस्त उपाधियों से रहित होकर एक मात्र समताभाव का ही आश्रय करना चाहिये। परमात्मा के नाम मात्र से ही अनेक जन्मों के एकत्रित पापों का नाश होता है तथा उक्त परमात्मा में स्थित ज्ञान, चारित्र और सम्यग्दर्शन मनुष्य को जगत का अधीश्वर बना देता है। जिस मुनि का मन चैतन्य स्वरूप में लीन होता है वह योगियों में श्रेष्ठ हो जाता है। चूंकि समस्त जीवराशि चैतन्यस्वरूप है अतएव उसे अपने समान ही देखना चाहिये। सब कार्यो की सिद्धि अन्तरंग और बहिरंग योग से होती है। इसलिये योगी को निरन्तर प्रयत्न पूर्वक स्व और पर को समदृष्टि से देखते हुए रहना चाहिये। योग शब्द के दो अर्थ हैं—मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति और समाधि। इनमें मन, वचन और काय की प्रवृत्तिरूप जो योग है वह दो प्रकार के है—शुभ और अशुभ इनमें शुभ योग से पुण्य तथा अशुभ योग से पाप का आस्रव होता है और तदनुसार जीव को सांसारिक सुख व दुःख की प्राप्ति होती है। इन दोनों प्रकार के योग से शरीर का सम्बन्ध होने के कारण जीव को सांसारिक सुख व दुःख की प्राप्ति होती हैं। यह दोनों ही प्रकार का योग शरीर से सम्बद्ध होने के कारण बहिरंग कहा जाता है। अन्तरंग योग समाधि है। इसमे जीव को अविनश्वर पद की

प्राप्ति होती है। यहाँ ग्रन्थकर्ता ने स्व और पर में समबुद्धि रखते हुए योगी को इस अन्तरंग योग में स्थित रहने की ओर संकेत किया है।

जो जाति और लिंग भेद की चर्चा में आसक्त है वह मुनि साम्यभाव को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है, ऐसा बतलाते हैं।

जातिय लिंगद समपद मातने माताडुतिर्य मुनिपन चितं ॥
जातिय ल्लिगद समपदो कोतिकुं समतेयें बुदागदु नोड़ ॥६५॥

अर्थ—जाति लिंग और सिद्धांत के बारे में भिन्न भिन्न भाव या अन्य कल्पना करने वाले, या सतत उसी में आसक्ति रखने वाले को साम्य भाव कभी भी उत्पन्न नहीं होता है। जाति, वेष आदि बाह्य विषयों में आसक्त होकर रहने वाले मुनि के चित्त में साम्यभाव भी उत्पन्न नहीं होता ऐसा आचार्यों ने कहा है ॥६५।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में कहा है कि जो मुनि जाति, कुल, लिंग आदि में हमेशा आसक्त रहता है वह समभाव को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये कहा है कि हे साधु! बाह्य शरीर जो पुद्गलमय है ऊंच नीच कर्म के अनुसार इस आत्मा के साथ प्राप्त हुआ है। जो जाति का अभिमान करता है, स्त्री लिंग पुल्लिग नंपुसक लिंग आदि लिंग के प्रति हमेशा अभिमान करता है वह तेरा स्वरूप नहीं है। आत्मा में न लिंग है, न जाति, न वेष, न गोत्र। वह निर्विकार, निरंजन, चित्स्वरूप अरूपी है। इसलिये तू जाति आदि बाह्य भावों को छोड़कर अपने अंतरंग जाति, गोत्र आदि रहित केवल एक आत्मा का ही ध्यान कर अगर तू बाह्य शरीर, जाति या स्त्रीलिंग, पुल्लिग इसके अभिमान में या उसी को अपना स्वरूप मानकर विषयासक्त होकर उसी को अपनी आत्मा मानेगा तो तुझे बार बार इस संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। कहा भी है कि:—

गौरो रूपधरो दृढ़ः परिवृढ़ स्थूलः कृशः कर्कशः।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना ॥
मिथ्यात्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढ़ो विवुध्यात्मनो।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतम् ॥

यहाँ आचार्य ने दिखलाया है कि आत्मा का स्वभाव अविनाशी है जब कि शरीरादि पदार्थ नाशवंत है। आत्मा ज्ञानमय है, जबकि शरीरादि जड़ हैं। आत्मा

निर्मल वीतरागी है, जब क्रोधादि कर्म विकाररूप हैं। आत्मा सर्व आकुलता व दुःखों से रहित परमानन्दमय है, जब कि शरीरादि व क्रोधादि का संबंध जीव को आकुल व दुखी करने वाला है। इस तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप जानकर भी मोही जीव मिथ्यादृष्टि होता हुआ मिथ्याभिमान के नशे में अपने को नाना भेष व रूप में माना करता है। व्यवस्थाएं कर्म के निमित्त से हुई हैं उनको ही अपना माना करता है, अतः वह अपनी आत्मा के असली स्वभाव से गिर जाता है। देव, मनुष्य, नारकी, पशु, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, गोरा, सुन्दर, बलिष्ठ, मोटा, दुबला, कठोर, आदि सब पुद्गल की अवस्थाएं हैं, जिस घर में आत्मा रहती है उस घर की अवस्थाएं है। फिर भी मोही जीव अपने को उस रूप में मान लेता है और उसे आत्मज्ञान नही होता। तात्पर्य यह है कि जो मानव आत्मोन्नति चाहता है उसका यह कर्तव्य है कि भेद विज्ञान के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को अलग छांट ले और जो अनात्मा है उसको अलग करदे। इसी प्रकार के विचार से स्वानुभव की प्राप्ति होती है। यही स्वानुभव मोक्ष का बीज है। कहा है कि यह आत्मा—

विप्रनल्लात्म क्षत्रियनल्लवैश्यन ल्लात्मामुख्यद शूद्रनल्ल।
विप्रमुंताद मुंताद संकल्पवातनुकूतुं दीप्रहंसगे हेळुतिहरू॥
योगियल्लात्म ग्रहस्थानल्लरे योगि जोगिया सवण सन्यासि।
तुगे कळामुखि पाशुपातिगल्ल सो म्यागलिलवु कर्मचरित्त॥
स्त्रीयल्ल स्त्रीयासेमाळ्प नल्ल संयत सांख्य मीमांसा।
नैयायिकार्हत मुंतादवेल्लिवु मायोपिंदाद माटगळु॥

यह आत्मा ब्राह्मण नही है, क्षत्रिय नहीं है, वैश्य नहीं है, शूद्र नहीं है यह सभी ब्राह्मणादि जितने भी नाम हैं सब शरीर के लिये हैं। आत्मा के नहीं। आत्मा योगी नहीं, आत्मा गृहस्थी नहीं, आत्मा भोगी नहीं, आत्मा श्रमण नही। आत्मा सन्यासी नहीं। आत्मा कलामुखी नहीं। पाशुपत नहीं, ये सभी कर्म के कारण हैं। आत्मा स्त्री नहीं, स्त्री पुरुष नहीं, पति नहीं, नंपुसक नहीं। मीमांसक नहीं। नैयायिक आर्हत आदि ये सभी कर्म के चरित्र है। और संसार की माया से अज्ञानी जीव इसी को अपना नाम मानकर संसार में भ्रमण करते हैं जाति जो है वह कर्म का नाम है। और इसमें उच्च और नीच ऐसे जाति भेद हैं यह सभी पुद्गलमय है अचेतन है अर्थात् जड़ हैं आत्मा के लिंग नहीं। आत्मा न स्त्रीलिंग है, न पुल्लिङ्ग है न नपुंसकलिंग ये सभी नाम कर्म के भेद हैं। इसलिये हे अज्ञानी जीव ! मैं स्त्री हूँ पुरुष हूँ इत्यादि संकल्प विकल्प करके अनादिकाल से

अपने शुद्धात्म ज्ञान के बिना संसार में परिभ्रमण कर रहा है। हे जीव ! तू पुद्गल कर्मकृत ख्याति के अहंकार से संसार में परिभ्रमण कर रहा है । कुल और जाति का जो योगी मद करता है, वह संसार में साम्यभाव के बिना महान् कष्ट को उठाते हुए चारों गतियों में भ्रमण करता है।

समभाव ही आत्मा का स्वभाव है ऐसा कहते हैं—

समचित्तमे परम पदं समचित्तमे सकलसुखदनिलयं मतं ॥
समचित्तमे मुक्ति पथं समचित्तमे कूडि नेगळ्व तपमदु सफलं ॥६६॥

अर्थ—इष्ट अनिष्ट वस्तुओं में समभाव का होना ही परम मोक्ष है। समभाव ही समस्त सुख का वास स्थान है । समभाव ही मुक्ति का मार्ग है। समभाव से युक्त तपश्चर्या ही सफल है। समभाव रहित तपस्या व्यर्थ है । ऐसा जानना चाहिए।

आचार्य ने यहाँ इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में समान भाव रखना ही मोक्ष का पद बताया है। समभाव आत्मा का स्वरूप है। समभाव ही समस्त वस्तुओं का निवास स्थान है। समभाव मोक्षमार्ग है। इसलिए समभाव पूर्वक किया जाने वाला तप ही सार्थक है। जहाँ समभाव नहीं है वहाँ उनका करोड़ वर्ष तक किया हुआ तप निरर्थक है। समभाव का हमेशा अभ्यास करना चाहिए। ऐसा आचार्य ने बताया है। किसी पर पदार्थ में रागद्वेष न करना और अपनी आत्मा को पर वस्तु से भिन्न समझना, उसी में लीन होना इसी का नाम समभाव है । अर्थात् समस्त पर वस्तु में समता भाव रखना, अपने आप से भिन्न मानना यह समभाव है। पर वस्तु अपनी आत्मा के साथ कभी भी नहीं रहती है। अपनी मर्यादा पूर्ण होने के बाद वह अलग हो जाती है । इसलिए आचार्य ने इष्ट अनिष्ट पदार्थों में समभाव रख करके केवल निर्मल आत्म स्वरूप में लीन होना ही स्वभाव है ऐसा बतलाया है कहा भी है कि—

यत्पश्यामि कलेवरं बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम् ।
तन्मे किंचिन्नचेतनं न कुरुते मित्रस्य वा विद्विषः ॥
आत्मा यः सुखदुःखकर्मजनको नासौ मया दृश्यते ।
कस्याहं बत सर्वसंगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च ॥

मित्र या शत्रु के जिस शरीर को नाना प्रकार का आरम्भ करने व बात करने में लगा देखता हूँ वह शरीर चेतना रहित जड़ है, मेरा कुछ नहीं कर

सकता है। उनका जो आत्मा सुख तथा दुःख स्वरूप कर्मों को उत्पन्न करने वाला है उसे मैं देख नहीं सकता तथा मैं सर्व कर्मादि पर वस्तु के संग से रहित शुद्ध हूँ तव किस पर प्रसन्न होऊं तथा रोष करूं। यह बिचार करने की बात है।

यहाँ पर आचार्य ने रागद्वेष मिटाने की एक रीति समझाई है। यह संसारी प्राणी उन मित्रों से प्रेम करता हूँ. जो अपने वचनों से हमारे हित की बातें करते हैं व अपने आचरण से हमारी तरफ अपना हित दिखलाते हैं तथा उनको शत्रु समझ कर द्वेष करता है जो हमारे अहित की बाते करते है तथा अपने व्यवहार से हमारी कुछ हानि करते हैं। सामायिक करते हुए प्राणी के मन से रागद्वेष हटाने के लिए आचार्य कहते हैं कि हे भाई! तू किस पर राग व किस पर द्वेष करेगा। जरा तुझे विचारना चाहिए। यदि तू मित्र के शरीर से राग, व शत्रु के शरीर से द्वेष करता है तो यह तेरी मूर्खता ही होगी क्योंकि शरीर विचारा जड़ अचेतन है, वह न किसी का बिगाड़ करता है न सुधार। शरीर के सिवाय उनका आत्मा है, उसको यदि सुख तथा दुःख का देने वाला मानें तो उसमे आत्मा को सुख शान्ति नहीं होती है। किन्तु उल्टा रागद्वेष की मात्राएं बढ़कर मोक्ष मार्ग में विघ्न ही उत्पन्न करती हैं। जिनकी लालसा खाने पीने देखने आदि से हट गई हो, तथा आत्म सुख का अनुभव होने लग गया हो और यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्री अपनी यात्रा में भिन्न २ स्थानों में विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक यात्री है जिसकी यात्रा का ध्येय मोक्ष द्वीप है सो जब तक मोक्ष स्थान तक न पहुँचे यह भिन्न भिन्न शरीर में वास करता हुआ यात्रा करता रहता है तथा यह अविनाशी है। शरीर के विगड़ने पर आत्मा नहीं विगड़ता है। यह अनादि से अनन्तकाल तक अपनी सत्ता रखने वाला है। इस तरह जिसका लक्ष्य शरीर रूपी ठहरने के स्थान पर नहीं रहता है किन्तु मुक्तिद्वीप में पहुंचना लक्ष्य रहता है, तथा जिस किसी शरीर में कुछ काल के लिए ठहरता हैं उसे मात्र एक धर्मशाला जानता है, उस शरीर व उसके सम्बन्धी चेतन व अचेतन, पदार्थो पर राग व द्वेष किस तरह किया जा सकता है। तथा मेरा स्वभाव भी रागद्वेष करने का नहीं है। मैं सर्व संग से रहित हूँ। न मुझमे कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं न शरीरादि नोकर्म हैं न रागद्वेषादि भावकर्म हैं। मैं निश्चय से सबसे निराला सिद्ध के समान ज्ञातादृष्टा अविनाशी पदार्थ हूँ। इसलिए मुझे उचित है कि समभाव में रमण कर आत्मिक सुख का अनुभव करूं। जगत में न कोई मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है। इसी तरह श्री पूज्यपादस्वामी ने समाधि शतक में कहा है—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥

मुझको न देखता हुआ यह लोक न मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है अर्थात् चर्म की आँखों से मेरी आत्मा को कोई देख नहीं सकता है इसलिए मेरी आत्मा का न कोई शत्रु है न मित्र है तथा मुझको अर्थात् मेरी आत्मा को देखने वाला लोक है, वह भी न मेरा शत्रु है न मित्र है क्योंकि वीतरागी आत्मा ही आत्मा को देख सकता है। इसलिए न मेरा कोई मित्र है न कोई शत्रु है। आगे कहा है कि—

अदृष्टमत्स्वरूपो ऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः।
साक्षात् सुदृष्टरूपोपि जनो नारिः सुहृन्न मे ॥

जिस मानव ने मेरी आत्मा के स्वभाव को देखा ही नहीं है वह न मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है। जिसने प्रत्यक्ष मेरी आत्मा को देख लिया है वह महान मानव भी न मेरा शत्रु हो सकता है न मित्र।

आचार्य ने शत्रुता को मिटाने की एक और युक्ति बताते हुए कहा है कि—

क्रोधाबद्धधिया शरीरकमिदं यन्नाश्यते शत्रुणा।
सार्धं तेन विचेतनेन मम नो काप्यस्ति संबंधता ॥
संबंधो मम येन शश्वदचलो नात्मा स विध्वस्यते।
न क्वापीति विधीयते मतिमता विद्वेषरागोदयः ॥

यहाँ आचार्य ने शत्रु भाव को मिटाने की एक और रीति बताई है। जो कोई किसी का शत्रु बनकर उनका नाश करता है वह मानव उस समय क्रोध रूपी पिशाच के वशीभूत होकर बावला बन जाता है। वह उन्मत्त पुरुष के समान है, जिसने गहरा नशा पी लिया हो। बावले की चेष्टा का बुरा मानना मूर्खता है। मानव ने यदि मेरे इस शरीर का नाश किया तो मेरा क्या बिगड़ा। शरीर तो स्वयं जड़ है, नाशवंत है मेरा और उसका क्या सम्बन्ध ? यह तो मात्र मेरे रहने का घर है। घर के जलने से व नष्ट होने से घर वाला नष्ट नहीं हो सकता। मैं चेतन अमूर्तिक अविनाशी हूँ। मेरा सम्बन्ध अपने इस स्वरूप से ऐसा निश्चल है कि कभी छूट नहीं सकता। मेरी इस आत्मा का नाश करने की किसी की ताकत नहीं है। जब मेरी आत्मा का कोई बिगाड़ या सुधार कर ही नहीं सकता तब मैं किस मानव से राग करूँ व किस मानव से द्वेष करूँ ? यदि मैं राग द्वेष करता हूँ तो मैं मूर्ख, व बावला हूँ। इसलिए मुझे न किसी से राग करना चाहिए न द्वेष। मुझे पूर्ण समता भाव में ही रमण करके सुखी रहना चाहिए। निश्चयनय से यहाँ भी साधक को अपनी आत्मा को शुद्ध, अविनाशी, चेतन, अमूर्तिक अनुभव कर लेना चाहिए। न मेरा कोई शत्रु है न कोई मेरा मित्र है इस कल्पना को .ख चाहिए।

परमार्थविंशति में श्री पद्मनंदि मुनि ने बतलाया है कि—

मेरा कोई सम्बन्ध आश्रय करने वाले इस सेवक से नहीं है। मैं अब केवल अकेला ही सुखी हूँ। इस संसार में अनादि काल से इस शरीरादि के संग से बहुत कष्ट पाए हैं इसलिए मैं इनसे उदास हो गया हूँ, मुझे सदा अपना एक निराला रूप ही रुचता है। वास्तव में ज्ञानी में ऐसा ज्ञानभाव सदा रहता है।

आगे आचार्य कहते हैं कि—

परिसहदवाग्गितत्तो पइसइ जइ णाणसरवरे जीवो।
ससहावजलपसित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो॥

परीषह रूपी दावानल से सन्तप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञान रूपी शीतल स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करता है और स्वस्वभाव रूपी जल मे स्नान करता है उस समय इसे निर्वाण मोक्षधाम की प्राप्ति होती है।

आगे आचार्य बतलाते हैं कि उपसर्ग आने पर किस प्रकार मुनि को उसका मुकाबला करना चाहिए। कहा भी है कि—

जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा बहुविहा हु दूहजणया।
ते सहियव्वा णूणं समभावेण णाणचित्तेण॥

यदि किसी तरह नाना प्रकार के दुःख देने वाले उपसर्ग मुनि के लिए आ कर उपस्थित हो जाँय तो उसे चाहिए कि वह समभावों से उन्हें अवश्य सहे उपसर्गों से भयभीत हो चारित्र से न डिगे।

भावार्थ—राग द्वेष न कर, दुःख-सुख, शत्रु-मित्र, वन-भवन, अलाभ-लाभ, कांच-सुवर्ण आदि को समान मानना, किसी को अच्छा बुरा न विचारना समभावना है। उत्तम समता के स्थान पर जिस महात्मा का मन महल-मरघट, स्तुति-निन्दा, कीचड़-केसर, सेज-कंकरीली भूमि, पत्थर-चंद्रकान्तमणि, चाम-चीन देश के वस्त्र, शीर्ण शरीर और देवांगना में, ऊंच नीच का विकल्प नहीं करता, सबको समान रूप से समझता है, वह साम्यभाव का धारक गिना जाता है, अर्थात् महल मरघट आदि उत्तम हीन दोनों पदार्थों को समान रूप से मानना साम्यभाव है। यदि किसी कारण से नाना प्रकार के दुःख देने वाले घोर उपद्रव आकर उपस्थित हो जायँ तो मुनि को चाहिए कि वह समभाव से समस्त उपद्रवों को सहन करे। घोर वेदना के होने पर भी अपने शुद्ध स्वरूप से विचलित न होवे। क्योंकि—

णाणमयभावणाए भाविय चित्तेहिं पुरिससीहेहिं।
सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया॥

जिन पुरुषों के चित्त में सदा ज्ञान स्वरूप भावना विराजमान रहती है ऐसे उत्तम पुरुषों ने अचेतन आदि चारों प्रकार के घोर उपसर्गों को सहा है। देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत और अचेतनकृत ये चार प्रकार के उपसर्ग हैं। जिस समय मुनिगण ध्यान में लीन होते हैं उस समय उनमें बहुतों को देव आदि द्वारा घोर उपद्रव सहने पड़ते हैं किन्तु पुरुषों में सिंह के समान वे मुनि अपने चित्त को ज्ञान-मय भावना में लीन कर उन उपसर्गों को सहते हैं और अपने शुद्धात्म ध्यान से जरा भी चलित नहीं होते।

समभाव रहित योगी का ध्यान मोक्ष का कारण नहीं है। इस बारे में बताते हुए कहते हैं कि—

समतेइल्लदे योगं, समनिसदर्दिरदे समते वेळ्पुदुयोगी।
समनागि नडेये योगं, समनिसुगुं समते सकलमोक्षावासं ।। ६७ ।।

अर्थ—इष्ट व अनिष्ट वस्तु में समता भाव अगर नहीं रहेगा तो ध्यान की शुद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए योगी को समभाव रखना ही उचित है। सम-भाव पूर्वक ध्यान करेगा तो वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। परभाव से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती है ।। ६७ ।।

विवेचन—आचार्य ने यहाँ बतलाया है कि जो समभाव रहित हैं उनकी क्रिया कांड और तपश्चर्या आदि निरर्थक है क्योंकि समभाव के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। समभाव रहित अगर तू तप करेगा तो मनुष्य गति से भी अगले भव में बुरी गति मिलेगी। इसलिए समभाव रखना ही परमावश्यक है। समभाव रहित दीपायन मुनि घोर तपश्चर्या करके अन्त में थोड़ा रौद्र ध्यान के कारण कषाय उत्पन्न होने से उन्हें अत्यन्त निंद्य गति में जाना पड़ा। इसलिए सबसे पहले इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में ममत्व हटाकर दोनों में समान भाव रख कर उत्तम समता भाव रूप एक आत्मा का ही ध्यान करे तो संसार का अन्त हो सकता है। जब कोई जीव कषाय के उदय से रंगे हुए मन वचन काय की प्रवृत्ति में रंग जाता है तो उसको लेश्या कहते हैं तथा क्रोध मान माया लोभ को कषाय कहते हैं। यह कषाय परवस्तु के निमित्त से होती है। जब तक परपदार्थ में इष्ट और अनिष्ट भाव है, तब तक तपश्चर्या करना भी निरर्थक है। ये ही बाह्य वस्तु कषाय को उत्पन्न करती हैं। ये कषाय चार प्रकार की है। पत्थर की लकीर के समान क्रोध, स्तम्भ की तरह कभी न झुकने वाला मान, बांस की लकड़ी की तरह माया और लाख के रङ्ग की तरह कभी न मिटने वाला लोभ अति अशुभ होता है। अतः ऐसी कषाय के उदय से कृष्ण, नील और कापोत नाम की तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। इन लेश्याओं से मरकर वह तिर्यञ्च नरकादि गति में जन्म

लेता है। वहाँ भूख प्यास छेदना भेदना चिरना आदि कष्ट भोगता है। क्योंकि नारकी जीव परस्पर एक दूसरे को अनेक प्रकार के कष्ट देते हैं। कोल्हू में पिलना, भाड़ में पकना, भालों पर फैंका जाना, तलवार की धार के समान नुकीले पत्ते वाले वृक्षों के नीचे डाला जाना, सुई की नोक के समान घास पर डाल कर खींचा जाना तथा अपनी विक्रिया से रूप निर्मित कर परस्पर में मारना आदि द्वारा बड़ा कष्ट होता है। इसके सिवाय तीसरे नरक तक असुर कुमार जाति के देव भी कष्ट पहुंचाते है। इस तरह नरक में जाकर वह जीव बड़ा कष्ट भोगता है। वहां से वड़ी मुश्किल से निकल करके पुनः तिर्यन्च होता है। वहां पर अनेक प्रकार के दुःख सहता है। अर्थात् रत्नप्रभा आदि भूमि से निकल कर यह जीव फिर तिर्यन्च गति में जन्म लेता है अर्थात् तिर्यन्च गति से ही नरक में गया था और नरक से निकल कर भी तिर्यन्च होता है। तिर्यन्च गति में भी, भूख प्यास, भार वहन, छेदन भेदन, ताड़न मारन, आदि का महान दुःख सहन करता है। पुनः आगे मनुष्य पर्याय वड़ी मुश्किल से प्राप्त होती है। जैसे समुद्र में फैंके हुए रत्न का हाथ आना मुश्किल है वैसा ही मनुष्य जन्म भी अत्यन्त दुर्लभ है। तिर्यन्च पर्याय से निकल कर अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके भी यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर पाप का अर्जन करता है।

आर्य खण्ड की दुर्लभता—यदि कदाचित् आर्य खण्ड में जन्म लेता भी है तो उत्तम कुल पाना कठिन है। तथा मिला भी तो दरिद्र आदि होता है। जो स्वयं गुणी होते हैं तथा गुणवानों की संगति में रहते हैं उन्हें आर्य कहते हैं। चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष जिस भूमि में जन्म लेते है वह भूमि आर्य खण्ड कहलाती है। यदि मनुष्य भव पाकर वह जीव आर्य खण्ड का मनुष्य हुआ और महाव्रत की प्राप्ति योग्य उत्तम क्षत्रिय आदि का कुल न पाया तो भी मनुष्य भव पाना व्यर्थ हुआ। तथा ब्राह्मण क्षत्रिय भव पाकर धन धान्य से रहित दरिद्री हुआ तो भी जीवन कष्ट में ही बिताता है। धन सम्पन्न हुआ तो इंद्रियों की पूर्णता पाना दुर्लभ है। यदि इंद्रियों की भी पूर्णता हुई और शरीर रोगी हुआ तो भी वह बेकार है। कदाचित् धनाढ्य हुआ तो हाथ पैर से ठीक होना कठिन है। कदाचित् शरीर ठीक हुआ और आंख कान आदि ठीक हुए तो नीरोग शरीर मिलना दुर्लभ है। क्योंकि मनुष्य शरीर ज्वर, भगन्दर कुष्ठ, संन्निपात, आदि व्याधियों का घर है। कदाचित् नीरोग भी हुआ तो लम्बी आयु नहीं पाता, जल्दी मर जाता है। कदाचित् लम्बी आयु पाई तो उत्तम स्वभाव रूप उत्तम शील को नहीं पाता। कदाचित् उत्तम स्वभाव पाता है तो रत्नत्रय, साधु संगति नहीं मिलती है। कदाचित् संगति मिलती है तो तत्व श्रद्धान युक्त सम्यक्त्व का पाना दुर्लभ है। दैववश कदाचित् सम्यक्त्व को प्राप्त कर ले तो चारित्र को ग्रहण नहीं कर सकता। यदि चारित्र ग्रहण कर ले तो उसे पालने में असमर्थ होता है। कदाचित् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र

रूप रत्नत्रय को प्राप्त कर यह जीव क्रोध मान माया लोभ रूप तीव्र कषाय को करता है तो रत्नत्रय को नष्ट करके दुर्गति में भ्रमण करता है। अर्थात् मर कर या तो नरक में जाता है या तिर्यन्च गति में जन्म लेता है या दीन दुःखी दरिद्री होता है। यदि देव भी होता है तो भवनवासी व्यन्तर या ज्योतिष जाति का देव होता है। इसलिए हे योगी ! उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय प्राप्त होने के बाद तुझे मन लगा करके इष्ट और अनिष्ट वस्तु की ममता को छोड़ कर समता भाव की आराधना कर तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। विना समता के करोड़ वर्ष तू तप भी करेगा तो भी तुझे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है जैसे तू जिन्दगी भर प्रयत्न करके लाखों की सम्पत्ति कमा कर घर में रख भी ले और उसको रात में चोरों से रक्षा न करे तो वह तेरी कमाई निरर्थक जाती है, इसी तरह हे योगी ! तू मनुष्य जन्म पा करके अत्यन्त घोर तप करता है परन्तु इष्ट और अनिष्ट वस्तु में समता न होने के कारण कषाय रूपी चोर तेरी आत्मा के अन्दर घुस कर रत्नत्रय को लूट तुझे नरक में या तिर्यञ्च गति में डाल देता है, इसलिए तुझे पर वस्तु का मोह छोड़ कर आत्म स्वरूप का ध्यान करना ही योग्य है।

समभाव में ही मोक्ष है ऐसा पुनः बतलाते हैं—

समतेयोळु मोक्षसक्कुं, समते पोळं ज्ञानदर्शनादि गळगळक्कुं।
समतेये मुख्यमदक्कुं, समतेये सर्वज्ञतत्वमंप्रकटिसुगं ॥ ६८ ॥

अर्थ—इष्ट और अनिष्ट वस्तु के समभाव में मोक्ष है। समभावना में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है। समभाव ही मुख्य है। समभाव को ही हमेशा प्रकट करना चाहिए। अर्थात् समभाव ही रत्नत्रय को प्रकट करता है इसलिए प्रत्येक जीव को परभाव को छोड़ करके समभाव की ही आराधना करनी चाहिए। ऐसा ग्रंथकार ने वताया है।

विवेचन—ग्रंथकार ने यहाँ वताया है कि समभाव ही इष्ट और अनिष्ट का कारण है। बिना समता के मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है और समता भाव को पूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण परवस्तु से वैराग्य चाहिए। बिना वैराग्य के समता भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। जब यह जीव परवस्तु से ममत्व या रुचि को हटाकर आत्म सम्मुख हो जाता है तब वह अपने समभाव रूपी आत्मा में आसक्त हो जाता है। अपनी आत्मा में जो आसक्त होता है उसको पहले पहल आत्म स्वरूप का आश्रय होता है। आत्म स्वरूप में आसक्त होने से उसे वहुत सन्तोष होता है। और वार बार उसी में रत होकर भावना करने से उससे भी ज्यादा सुख मालूम होने लगता है। बाहर की जितनी क्रिया है जितना खेल है, उसको देखते ही मन के अन्दर भय उत्पन्न होता है जैसे कछुआ बाहर के आदमी

की आवाज से अपने अवयवों का संकोच करके ऊपर के अपने कवच में बन्द कर भीतर ही बैठ जाता है और मजबूत पक्ष होने के कारण दूसरे शत्रु के द्वारा बड़ी २ गोली चलने पर भी चोट नहीं खाता है, उसी तरह समता भाव से ज्ञानी योगीजन जब बाह्य वस्तु की ममता को त्याग कर अपनी समता रूपी आत्मा में आसक्त हो जाता है तब बाह्य संसार के पर पदार्थ या संसार का खेल उन्हें दृष्टि-गोचर होते ही भय उत्पन्न होता है, वह हमेशा उससे दूर रह करके अपनी आत्मा में प्रेम या सुख मालूम होता है। दुनियां उसको पागल के समान प्रतीत होती है।

जो परमात्मा में आसक्त हैं उन्हें खान पान में भोजन में अरुचि उत्पन्न हो जाती है। बाहर सभी से घृणा हो जाती है। बाहर के पर द्रव्य के प्रति उनकी दृष्टि नही जाती है। उनके हाथ पांव सभी चचलता बन्द कर सकुचित हो जाते है, उनकी बुद्धि हमेशा मोक्ष को स्पर्श करती है। जो जीव चंचलता रहित होता है और अपनी आत्मा को देखता है उसके लिए बाह्य तप सहायक होते है। जिनके मन अपने आत्म चिन्तन में नहीं है, जिनकी वृत्ति चचल है, उनके लिए यह तप सहायक नहीं होते है। इसलिए योगी को शरीर सम्बन्धी पर वस्तु के मोह का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। और सतत आत्म भावना में रत होना चाहिए। अपनी दृष्टि शत्रु मित्र आदि में समान रूप रखनी चाहिए। उसे आत्मा को क्रूर बाज के हाथ में पडे हुए पक्षी के समान यमराज के हाथ में पड़ा हुआ समझना चाहिए। भोगउप-भोग और विषयों में जिसकी रुचि है और जो उसमें आसक्त होता है, वह मूढ़ प्राणी विषयाग्नि में जल कर खाक हो जाता है। ऐसे तीव्र कषाय से लिप्त होकर अनेक प्रकार के दु:ख के आधीन होता है वह हमेशा कराहता है। नरक में इस प्रकार डूबने से क्या प्रयोजन। इसलिए शरीर को शत्रु समझ कर जो व्रत से युक्त रहता है वही विषय को अनिष्ट समझ कर छोड़ता है और अपने आत्म ध्यान में लीन होकर समता का रसपान करता है। उसे कदाचित् क्रोध भी आता है तो भी वह उस कषाय से दूर होकर शान्त रस का पान करने वाला होता है उसके समान इस संसार में कोई ज्ञानी नहीं है। इस प्रकार जो योगी इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं से प्रेम हटा कर अपने अन्दर ही रहता है वही मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसलिए योगी! तू समभाव का अभ्यास करके इस संसार रूपी कारागार से मुक्त होने की चेष्टा कर।

सुख दु:ख में समान भाव रक्खो, ऐसा कहते हुए बताया है कि —

समनप्पुदु सुखदु:खदे समनप्पुदु बंदवैरिवगेदे वेरतें।
समनप्पुदु पोंगहळोळ्. समनप्पुदु पुण्यपाप दोळ्नीं जीवा ॥६९॥

अर्थ—हे जीव ! तुझे सतत सुख दुःख में समभाव से युक्त होना चाहिए। बन्धु वर्ग में और शत्रुओं में सदा समभाव रखना चाहिए। ज्यादा क्या कहें। सोने और पत्थर में, पुण्य और पाप में सदा समभाव रखने वाला होना चाहिए। आचार्य ने समभाव का यहां ज्यादा अभ्यास करने पर जोर दिया है। आजकल समभाव का अभाव होने के कारण यह संसारी प्राणी शत्रु मित्र के भाव में ज्यादा समय व्यतीत करता है। जब तक समभाव इस जीव के अन्दर नहीं आता है तब तक मानव प्राणी आपस में किसी से प्रेम भाव नहीं रख सकता है। प्रेम भाव न होने के कारण अनेक प्रकार के छल और कपट आपस में करके अपने इन्द्रिय विषय बढ़ाने वाली सामग्री की संग्रह करना चाहता है। धार्मिक प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण मानव में समता का भाव बिल्कुल लोप सा हो गया है। जब मानव के अन्दर समता की जागृति होती है तो वह अपने मानव प्राणी को पहचानता है। भाई के नाते उसके अन्दर प्रेम उत्पन्न हो जाता है। जब उनके प्रति उपकार की वृद्धि होती है तो धार्मिक भावना बढ़ जाती है, क्रोध कषाय मन्द हो जाती है। त्याग भाव उत्पन्न होता है। जब समता भाव नष्ट हो जाता है, तब मानव के अन्दर निशाचर की भावना अर्थात् राक्षस वृत्ति पैदा हो जाती है। जैसे राक्षस अपनी क्रूर वृत्ति के कारण मनुष्य को मार डालता है इसी प्रकार इस मानव के अन्दर भी समता का भाव न होने के कारण मानव को मानव ही निशाचर के रूप में खाने का प्रयास करने लग जाता है। आजकल इस युग में देखा जाय तो इस मानव के अन्दर ये ही प्रवृत्ति देखी जाती हैं, प्रेम की भावना नष्ट होने के कारण समता भाव भी नष्ट हो गया है। इसीलिए आचार्य ने मानव कहलाने के लिए समता के पाठ का अभ्यास करना अत्यन्त जरूरी बताया है। ये समता मनुष्य के अलावा कभी पशु या क्रूर जंगली पशुओं में नहीं आ सकती है। समता का पाठ एक मानव ही पूरा कर सकता है। इसलिए मानव को हमेशा इष्ट अनिष्ट वस्तु के स्वरूप को समझ कर उसमें रागद्वेष को दूर से त्याग कर देना चाहिए और उसके भीतर जो आत्मा का स्वभाव है उसको खोज करके उसी में स्थिर रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

विवेचन—आचार्य ने यहाँ योगी के लिए समता का अध्ययन करने के लिए जोर दिया है। कहा भी है कि योगी को हमेशा इस तरह की भावना करनी चाहिए—

विद्विष्टे वा प्रशमवति वा बांधवे वा रिपौ वा।
मूर्खौघे वा बुधसदसि वा पत्तने वा वने वा॥
संपत्तौ वा मम विपदि वा जीविते वा मृते वा।
कालो देव ! व्रजतु सकलः कुर्वतस्तुल्यवृत्तिम्॥

हे जिनेन्द्रदेव ! मेरा सर्व समय मेरे से द्वेष करने वाले में अथवा मेरे ऊपर शान्त भाव रखने वाले में, वन्धु में अथवा शत्रु में, मूर्खों के समुदाय में अथवा वृद्धिमानों की सभा में, नगर में अथवा जंगल में, धनादि की प्राप्ति में अथवा आपत्ति में, जीने में अथवा मरने में समान रूप या समता रूप वर्तन करते हुए वीते । आगे कहा है कि –

सुखे वा दुःखे वा व्यसनजनके वा सुहृदि वा।
गृहे वारण्ये वा कनकनिकरे वा दृषदि वा ॥
प्रिये वानिष्टे वा मम समधियो यांतु दिवसा।
दधानस्य स्वान्ते तव जिनपते ! वाक्यमनघम् ॥

इस श्लोक में आचार्य ने सामायिक के स्वरूप को दिखलाया है । वास्तव में समता भाव को ही सामायिक कहते हैं। यह समता भाव असल में तब ही जागता है जव निश्चय नय की शरण ग्रहण की जावे और व्यवहार नय की दृष्टि को गौण रक्खा जावे । निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखने से हर एक पदार्थ का मूल या असली रूप दिखाई दे जाता है । यही द्रव्यदृष्टि है द्रव्य को मात्र उसके असली स्वभाव में देखने वाली है । व्यवहार नय वह दृष्टि है जिससे पदार्थ की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को व पदार्थ के भेदो को व असली हालत पर पहुंचने के साधनों को व उसके अशुद्ध स्वरूप को देखा जा सके । सिद्धान्त ने यह आवश्यक वताया है कि दोनों नयों से पदार्थों को देखना चाहिए ।

जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों को समझकर मध्यस्थ या वीतरागी हो जाता है या किसी एक नय के पक्षपात से रहित हो जाता है, वही जिनवाणी को समझने के पूर्ण फल को प्राप्त करता है ।

यह जगत् व्यवहारनय से देखते हुए अनंत भेदरूप विचित्र दिखलाई पड़ता है । यह राजा है यह रंक है, स्वामी है यह सेवक है, यह धनवान है, यह निर्धन है, यह सुन्दर है, यह कुरूप है, यह बलवान है, यह निर्वल है, यह विद्वान है यह मूर्ख है, यह गुरु है यह शिष्य है, यह पूंज्य है यह पूजक है, यह वंदनीय है यह वंदना करने वाला है, यह साधु है यह गृहस्थ है, यह शत्रु है यह मित्र है, यह पिता है यह पुत्र है, यह माता है यह पुत्री है, यह बांधव है यह अन्य है, यह पुरुष है यह स्त्री है, यह वालक है यह जवान है, यह वृद्ध है यह शिशु है, यह निरोगी है यह सरोग है, यह हिन्दू है यह मुसलमान है, यह पारसी है यह सिक्ख है, यह जर्मन है यह जापानी है, यह अंग्रेज है, यह फ्रांसीसी है, यह अमेरिकन है यह अफ्रीकावासी है, यह गोरा है यह काला है, यह क्षत्री है यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है यह शूद्र है,

यह पर्वत है यह नदी है, यह सूर्य है यह चंद्र है, यह स्वर्ग है यह नरक है, यह स्वदेश है यह परदेश है यह भरत है यह विदेह है, यह कांच है, यह रत्न है पापाण है, यह महल है यह श्मशान है, यह फूल है यह कंटक है यह भूमि है, यह निर्मल है यह मैली है, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद हैं ये सव व्यवहारनय की दृष्टि से हैं। यही दृष्टि रागद्वेप मोह का कारण है। जिन चेतन पदार्थों से अर्थात् स्त्री पुत्र, मित्र, वंधु, पशु आदि से अपना स्वार्थ सधता हैं अथवा जिन अचेतन पदार्थों से अर्थात् घर, वस्त्र, वर्तन, सामान आदि से अपना मतलव निकलता है उनसे तो राग होता है तथा जिन पुरुषों से, स्त्रियों से अपने स्वार्थ साधन में हानि पड़ती है अथवा जो घर, वस्त्र, वर्तन या सामान अपने चित्तको कष्ट में रूप भासते हैं, उनसे द्वेप पैदा हो जाता है। व्यवहारनय की दृष्टि से देखते हुए अहंकार व ममकार पैदा हो जाते हैं। मैं राजा हूँ, मैं धनवान हूं, मैं वड़ा हूं, मैं दीन हूं, मैं दुखी हूं, मैं रोगी हूं, मैं निरोगी हूं मैं सुन्दर हूं, मैं कुरूप हूं, मैं पुरुष हूँ मैं स्त्री हूँ इत्यादि अहं वुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है, यह आभूपण मेरा है, यह भोजन मेरा है, यह ग्रंथ मेरा है, यह मंदिर मेरा है, इत्यादि ममकार वुद्धि पैदा होती है। इस अहंकार ममकार द्वारा वर्तन करते हुए चारों कपायों की प्रवलता हो जाती है। कपायों के द्वारा तीव्र कर्म का वंध हो जाता है और यह मोही प्राणी संसार के झंझटों में व सुख तथा दुःख में उलझा रहता है, कभी अपने सच्चे सुख को व अपनी सच्ची शांति को नहीं पाता है।

निश्चय नय से देखते हुए ये सव ऊपर लिखित भेद नहीं दिखाई देते। ये सव भेद जीव और पुद्गल इन दो मूल द्रव्यों के निमित्त से हैं। वस, जो निश्चय से देखता है उसे सर्व ही जीव ससारी या सिद्ध, नारकी, देव पशु, मनुष्य,छोटे, वड़े, राजा, रंक आदि एक रूप अपने शुद्ध केवल स्वभाव में ही दिखते हैं। सव ही पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्य के धारी परमात्मारूप दिखते हैं। आप भी अपने को परमात्मरूप दिखता है, अन्य सव भी परमात्वरूप दिखते हैं। तथा सव पुद्गल स्पर्श, गंधवान जीवरूप एक से दिखते हैं। इस दृष्टि से देखते हुए ही समता भाव की जागृति होती है, रागद्वेष का अभाव होता है, शत्रु मित्र की कल्पना मिटती है, अमनोज्ञ व मनोज्ञ पदार्थ का भेद निकलता है, इष्ट व अनिष्ट का द्वेप मिट जाता है। यही दृष्टि वीतरागभाव को पैदा करती है।

साधु को स्तुति और निंदा समान मानना चाहिये।

स्तुतियिसुवपळिव पूजिसु वतिहीनते माहुवखिल जन दोळ् जीवा।
रतिय रति यिल्लदा यति सततं मोक्षक्के ताने मोदाळिगनवकुं ॥७०॥

अर्थ—हे जीव । तू स्तुति करने वाले और निंदा करने वाले के ऊपर, आपके पूजा करने वाले के ऊपर और आप को देखकर अत्यंत निंदा घृणा करने वाले के ऊपर प्रीति और अप्रीति से रहित रहने वाला यही मोक्ष का अधिकारी बन सकता है अन्यथा नहीं ऐसा आचार्य ने कहा है ॥७०॥

विवेचन—जो साधु निंदा स्तुति को समान मानता है, कोई निंदा करे, वंदन करे या कोई इनका तिरस्कार करे, वह साधु उसके प्रति रागद्वेष करके अपने को सुखी और दुखी नहीं मानता है । हमेशा अपने स्वरूप में रत रहता है । कहा भी है कि साधुओं की विना निमित्त वन्धुता होती है ।

> शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि वहुदुःखेपि निवसन् ।
> व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ॥
> इदं दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते ।
> यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥

अनेक दुःखों के कारण तथा मल मूत्रादि अपवित्रता से भरे हुए इस शरीर से जीव विरक्त नहीं होता, यह बात तो अलग ही रही । पर ऐसे के साथ अधिक प्रीति न करता यह भी तो उससे नहीं बनता है । उल्टा इस शरीर के साथ अधिकाधिक प्रीति करता है खैर, यह प्राणी तो भूल ही रहा है पर, इसे कोई यह सुझाता भी तो नहीं है कि तू ऐसा मत कर । इस प्राणी के जितने बुन्धुजन तथा मित्र हैं वे सब कर्कश तथा अप्रिय लगने के डर से ऐसा एक शब्द भी कभी नहीं बोलते कि जिससे उस प्राणी की शरीर सम्बंधी प्रीति कम हो । परिपाक के समय चाहे वह कितना ही दुखी क्यों न हो पर, उसके मित्र बांधव सदा वही बात सुनाते है कि जिससे उसे तत्काल अनिष्ट भासता हो । इसलिये वे सच्चे मित्र बांधव नहीं हैं, क्योंकि, वे अहित से उसे रोकते नहीं । तो फिर सच्चा मित्र या बांधव कौन है ? जो उस अहित प्रवृत्ति से उसे बचाता हो । ऐसा कौन है ? ऐसे साधु संतपुरुष होते हैं जो जीवों की शरीरादिक के साथ उत्कृष्ट प्रीति देखकर भी यह विचार नहीं करते कि इन जीवों को हमारा उपदेश कठोर लगेगा । किन्तु वे फल समय में हितावह समझकर अपने सार उपदेश को सुनाते ही हैं और परिपाक-समय में दुखदाई ऐसे शरीर प्रेम को छुड़ाने का यत्न करते ही रहते हैं । हे संसार के जीवो ! ऐसे महापुरुषों के निष्कारण परहित की तरफ देखो । ये महा-पुरुष ही सच्चे मित्र या हितू हैं । क्या जीवों को हितोपदेश सुनाने के बदले उन जीवों से उन्हें कुछ मिलेगा ? नहीं । उनका स्वभाव ही परम दयालु होता है कि जिससे वे सदा सबों का निष्कारण हित साधन करने में प्रवर्तते हैं । कहा भी है कि—

कांच कंचन समझ गिने, अरि मित्र एक स्वरूप।
निंदा बढ़ाई सार की, बन खंड शहर अरूप॥
सुख दुःख जीवन, मरण में, नहिं खुशी नहिं दिलगीर।
ते साधु मेरे उर बसो, मेरी हरो पातक पीर॥

इस प्रकार वीतरागी, ज्ञानी, योगी मन में विचार करके अपने आत्म स्वरूप से च्युत नहीं होता है। वह अपने समता रूपी खड्ग के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके अखंड शुद्धात्मा के सुख की प्राप्ति कर लेता है। वह साधु धन्य है।

उठते बैठते योगी का स्थान उचित होना चाहिए ऐसा आचार्य बतलाते हैं।

पट्टिपेडिं कार्कर्क पैडे, नेट्टने निंदिर्दु नोलपडु डुचित स्थानं।
तोट्टने चित्तस्खलनेय, पुट्टिपुदोपेडेयनरिदु परिहरिसुगडा॥७१॥

अर्थ—हे जीव! ध्यान के लिए, बैठने के लिए, खड़े होकर देखने के लिए स्थान औरप्रवेश स्थान का उचित होना आवश्यक है। मन में चंचलता उत्पन्न करने वाला स्थान नहीं होना चाहिए। अगर तुझे आत्म ध्यान में एकाग्रता करनी है तो ध्यान में बाधा लाने वाले स्थान को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए॥ ७१॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि आत्म ध्यानी योगी के योग साधन के लिए, आत्म ध्यान के लिए उच्च स्थान की जरूरत है। जहाँ अपने ध्यान में बाधा आती हो या साधु के मन में चंचलता आती हो, ऐसा स्थान साधु को शीघ्र छोड़ देना चाहिए।

धर्म ध्यान किसको होता है? जो ज्ञानी पुरुष धर्म में एकाग्र मन रहता है और इन्द्रियों के विषयों का अनुभव नहीं करता है। उनसे सदा विरक्त रहता है, उन्हीं को धर्म ध्यान होता है। धर्म का जो स्वरूप बतलाया है जो उसमें एकाग्र चित्त रहता है अर्थात् अपने शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप में लीन रहता है अथवा उत्तम क्षमादि १० धर्म या रत्नत्रय रूप धर्म का सदा मन वचन काय से आचरण करता है, मन वचन काय कृत कारित अनुमोदन से किसी भी जीव को कष्ट न पहुंचे इसका ध्यान रखता है, स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषयों का कभी सेवन नहीं करता है, संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहता है, उसी ज्ञानी को धर्मध्यान होता है।

राग द्वेष से रहित जो धीर पुरुष बाह्य संकल्प विकल्पों को छोड़कर एकाग्र मन होता हुआ जो विचार करता है वह भी शुभ ध्यान है। शुभ ध्यान के लिए

कुछ वातों का होना आवश्यक है। प्रथम तो राग और द्वेष को दूर करना चाहिए। दूसरे, स्त्री पुत्र धन धान्य सम्पदा मेरी है, मैं इन्हें पाकर बहुत सुखी हूँ इस प्रकार बाह्य वस्तुओं में मन को नहीं लगाना चाहिए और तीसरे उपसर्ग परीषह वगैरह को सहने में समर्थ होना चाहिए। उक्त वातों सहित मनुष्य जो भी एकाग्र मन से विचार करता है वही धर्मध्यान है।

जिसको अपने स्वरूप का भान हो गया है, जिसका ममत्व नष्ट हो गया है और जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, ऐसा जो साधु आत्मा का चिन्तन करता है वह साधु शुभ ध्यान में लीन होता है। सकल विकल्पों को छोड़कर अनन्त सुखस्वरूप आत्मा का आनन्दपूर्वक ध्यान करना ही श्रेष्ठ धर्मध्यान है। इस धर्मध्यान के चार भेद कहे हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। ये चारों प्रकार का धर्मध्यान असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है। यद्यपि मुख्य रूप से यह पुण्य वन्ध का कारण है, फिर भी परम्परा से मुक्ति का कारण है। इन चारों धर्मध्यानों का स्वरूप इस प्रकार है—अपनी बुद्धि मन्द होने और किसी विशिष्ट गुरु का अभाव होने पर जिन भगवान द्वारा कहे गये नौ पदार्थ और उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्याय से युक्त छै द्रव्यों की सूक्ष्म चर्चा का "जिन भगवान के द्वारा कहा हुआ तत्व बहुत सूक्ष्म है, युक्तियों से उसका खण्डन नहीं किया जा सकता। उसे जिन भगवान की आज्ञा समझकर ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि जिन भगवान मिथ्यावादी नही होते।" इस उक्ति के अनुसार श्रद्धान करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। रत्नत्रय की भावना के वल स हमारे तथा दूसरों के कर्मों का विनाश होता है ऐसा विचारना अपायविचय धर्मध्यान है। अनादिकाल से यह जीव शुभाशुभ कर्मवन्ध में से पापकर्म का उदय होने पर नरकादि गति के दुःखों को भोगता आया है और पुण्यकर्म का उदय होने पर देवादि गति के सुखों को भोगता है, ऐसा विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है। लोक के स्वरूप का विचार करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार धर्मध्यान के चार भेद हैं। सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव राग द्वेप की शान्ति के लिए शुभ भावों से इन धर्मध्यानों को ध्याते हैं। इस लोक और परलोक सम्वन्धी भोगों की चाह को सदोप जानकर मन्दकषायी भव्य जीव निर्जन एकान्त स्थान में पल्यंकासन लगावे और अपनी गोद में वाईं हथेली के ऊपर दाहिनी हथेली को रखकर तथा दोनों नेत्रों को नासिका के अग्रभाग में स्थापित करके शुभ ध्यान करे। धर्मध्यान के दस भेद भी कहे हैं—इस अनादि संसार में स्वच्छन्द विचरण करने वाले जीव के मन वचन और काय की प्रवृत्ति विशेष से संचित पापों की शुद्धि कैसे हो ऐसा विचारना अपायविचय धर्मध्यान है। अथवा मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र

में फंसे हुए जीवों का कैसे उद्धार हो ऐसा विचार करते रहना अपायविचय धर्मध्यान है। मेरे मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति कैसे हो ऐसा विचार करना अथवा दर्शनमोहनीय के उदय के कारण जीव सम्यग्दर्शन वगैरह से विमुख हो रहे हैं, इनका उद्धार कैसे हो इसका विचार करना उपाय विचय धर्मध्यान है। जीव का लक्षण उपयोग है, द्रव्यदृष्टि से जीव अनादि और अनन्त है, असंख्यात प्रदेशवाला है, अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगता है, अपने शरीर के बराबर है, आत्म प्रदेशों के संकोच और विस्तार धर्मवाला है, सूक्ष्म है, व्याघात रहित है, ऊपर को गमन करने का स्वभाववाला है, अनादि काल से कर्मबन्धन से बंधा हुआ है उसके क्षीण होने पर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव के मुक्त और संसारी स्वरूप का विचार करना जीवविचय नामक तीसरा धर्मध्यान है। जीव से विलक्षण पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन अचेतन द्रव्यों की अनन्त पर्यायों के स्वरूप का चिंतन करना अजीवविचय नामक चौथा धर्मध्यान है।

आठों कर्मों की बहुत सी उत्तम प्रकृतियाँ हैं। उनमें से शुभ प्रकृतियों का रस गुड़ शक्कर और अमृत की तरह मधुर होता है तथा अशुभ प्रकृतियों का विपाक शैली की तरह कटु होता है। कर्म बन्ध चार प्रकार का है। किस किस गति और किस योनि में जीवों के किन किन प्रकृति का वन्ध आदि होता है, इस प्रकार कर्मों के विपाक का विचार करना विपाक विचय नाम का पाँचवाँ धर्मध्यान है। यह शरीर अनित्य है, अरक्षित है, नष्ट होने वाला है, अशुचि है, सात धातुओं से वना है, पवित्र वस्तु भी इसके संसर्ग से दूषित हो जाती है। इसमें जो भी इन्द्रियाँ हैं, वे उत्तर काल में दुःखदायी हैं। ज्यों ज्यों भोगी पुरुष इनसे भोग भोगता है, इसकी भोग तृष्णा वढ़ती जाती है। जैसे ईंधन से अग्नि की और नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती है इसी प्रकार इन्द्रिय वासनाओं से शरीर की तृप्ति नहीं होती है। इस प्रकार वैराग्य के कारणों का चिन्तवन करना वैराग्यविचय नाम का छटा धर्मध्यान है।

सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, संवृत, विवृत संवृतविवृत ये नौ योनियाँ हैं। इन योनियों में जीव जन्म लेता है। यदि यह जीव एक भव से दूसरे भव में जाता है तो इसकी गति चार प्रकार की होती है। इषुगति, पाणि मुक्ता गति, लांजिका गति, गोमूत्रिका गति। इषुगति वाण की तरह सीधी होती है, इसमें एक समय लगता है। यह संसारी जीवों के होती है। शेष तीनों गतियाँ संसारी जीवों के ही होती हैं। पाणि मुक्ता गति एक मोड़ वाली होती है, इसमें दो समय लगते हैं। लांजिका गति दो मोड़वाली होती है इसमें तीन समय लगते हैं। इस प्रकार अनादि काल से संसार में भटकते हुए जीव

के गुणों में कुछ भी विशेषता नहीं आती है। इत्यादि रूप से बहुत भ्रमण के दोषों का विचार करना बहुविचय नाम का सातवां धर्मध्यान है। अनित्य अशरण आदि १२ भावनाओं पर विचार करना संस्थान धर्मध्यान है। आप्त को प्रमाण मान कर अत्यन्त परोक्ष पदार्थो में आस्था रखना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। आगम के विषय में प्रमाद होने पर नैगम आदि की गौणता और प्रधानता के योग से तर्कशील मनुष्य अपने आगम के गुणों को और अन्य आगम के दोषों को जानकर जहाँ गुणों का आधिक्य हो उसमे मन को लगाना श्रेष्ठ है। इस अभिप्राय को दृष्टि में रख कर जो तीर्थङ्करों के द्वारा प्ररूपित अविरुद्ध आगम का चिन्तवन करता है वह हेतु विचय धर्मध्यान है। इस प्रकार धर्मध्यान के दस भेद हैं।

प्रकारान्तर से धर्मध्यान के दो भेद हैं—एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य आनन्द से भरपूर अपनी आत्मा में उपादेय बुद्धि करके मैं अनन्त ज्ञान वाला हूँ, मैं अनन्त सुख रूप हूँ इत्यादि भावना करना यह आभ्यन्तर धर्मध्यान है।

बाह्य धर्मध्यान—पंचपरमेष्ठी में भक्ति रखना, बहिरंग धर्मध्यान है।

धर्मध्यान चार प्रकार का भी है - पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, ये चारों आभ्यन्तर हैं। इसका वर्णन पहले आ चुका है। परन्तु यहाँ आवश्यकता के अनुसार धर्मध्यान का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। इस प्रकार जो योगी अपने मन वचन काय से अर्थात् बाह्य पदार्थ से मुक्त होकर अपने अन्तरंग में अपनी आत्मा में लीन होकर इस धर्मध्यान का चिन्तवन करता है वह शीघ्र ही संसार से छुटकारा पाकर अखण्ड अविनाशी सुख को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आचार्य ने धर्मध्यान का विवेचन किया है। योगी को सम्बोधन करते हुए कहा है—हे योगी! जहाँ तुझे धर्मध्यान में बाधा आती है, जिस जगह तेरे मन में विकार आता है, अप्रसन्न होता है, ऐसे स्थान को छोड़कर एकान्त वासी बन। ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं।

जैसे बकरी गन्ने के बाहरी पत्ते खाकर भीतर के मीठे रस को छोड़ देती है उसी तरह बहिरात्मा बाह्य वस्तु को अपना इष्ट मान कर भीतरी शुद्धात्मा को हेय मानता है। ऐसा कहते है -

पोरगण सोर्ण कबिरे कुरि मेयमोलमृतमयन कूटद तेरनं ।
नेरेयरि यदवनं विषय वकेरगुगुमेकेरगलरेय नरिदव नेंलु ॥७२॥

अर्थ— गन्ना होते हुए भी बकरी गन्ने के बाहर के पत्ते को खाती है। उसी तरह अपने अन्दर रहने वाले अमृतमयी शुद्ध चिदानन्द आत्मा को न समझ

कर या उसका अनुभव न करके वहिरात्मा इन्द्रिय विषयों की ही आशा करता है। ऐसा वहिरात्मा जीव चिदात्मा में आसक्त होकर क्या उसका अनुभव कर सकता है ? अर्थात् नहीं।

विवेचन—ग्रन्थकार यह कहते हैं कि गन्ने को खाते हुए भी वकरी उस गन्ने के रस के स्वाद का आस्वादन न करके वाहरी हरे पत्तों को खाकर तृप्त हो जाती है, उसी तरह वहिरात्मा जीव अपने अन्दर ही अनन्त सुख के भण्डार अखण्ड अविनाशी अमृतमय आत्मा का रसास्वाद न करके वाह्य विषय वासना की इच्छा करके उससे ही तृप्त होना चाहता है। ऐसे जीव को कभी भी शुद्ध आत्मा के अन्दर रस नहीं आ सकता है और उसको मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं हो सकती है।

वहिरात्मा को वाहर की ममत्व भावना को त्याग देने के वारे में कहा है।

नयन्सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम् ।
सोप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत् ॥

शरीर का वास्तविक स्वरूप विचारा जाय तो अत्यन्त ही निंद्य है। हाड़, मांस, रुधिर, मल, मूत्र इत्यादि अति अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है। शरीर का कोई भाग भी इन अपवित्र वस्तुओं के सिवा खाली नहीं है। सर्वतः तन्मय है। शरीर सरीखी वस्तु को कोई दूर से देखना भी पसन्द न करे इतना यह शरीर निकृष्ट है। परन्तु तो भी आत्मा ने इस पर इतना वडा उपकार किया है कि इसे अपना साथ देकर लोक में आदर योग्य वना रक्खा है। ठीक ही है, आत्मा के सम्वन्ध से ही इसकी पूछ है। नहीं तो इसे कोई छूता व देखता तक नहीं। परन्तु यह शरीर इतना कृतघ्न है कि आज तक सघन सम्वन्ध रहते हुए भी इसने उस आत्मा को चांडालादि वनाकर स्पर्श के योग्य भी नहीं रक्खा। इसने सदा भलाई के वदले में वुराई की। अपने परम उपकारी के साथ इतनी सहानुभूति भी न दिखाना, उससे इतना विमुख रहना, अत्यन्त नीचता है। इसकी कृतघ्नता को धिक्कार है।

जव कि यह इतना कृतघ्न है तो इससे कभी लाभ न होकर अपने को सदा हानि ही होना सम्भव है। इसीलिए इसे त्याग देना व इससे उपेक्षा रखना ही ठीक है।

भला, इसे त्यागें तो किस तरह ?

रसादिराद्यो भागः स्याज्ज्ञानावृत्यादिरन्वितः।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः ॥
भागद्वयमिदं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम् ।
भागद्वयात् पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्ववित् ॥

यदि आत्मा को शरीर से जुदा करना है तो प्रथम शरीरांश व आत्मांशों को पहिचान कर, जुदा समझ ले। ऐसा करने से आत्मा को शरीर से जुदा कर लेने में कोई कठिनाई न पड़ेगी। अच्छा तो यों ही करिये।

हाड़, मांस वगैरह चीजों का जो अपने साथ यह पिंड संलग्न हो रहा है, पहिला तो यह एक सर्वप्रसिद्ध विभाग है, जो कि सुगमता से शरीर के नाम से जुदा समझा जा सकता है। इसके बाद इसके सिवा दूसरा एक भाग संसारबद्ध जीव पर्याय का वह है जो शरीर का मूल कारण अत्यन्त परोक्ष है परन्तु सब से अधिक या वास्तव में आत्मा को रोककर उसे मलिन व दुःखी बना रहा है। उसको कर्म कहते हैं। ज्ञानावरणादि अनेक उत्तर भेद हैं। इस जीव पर्याय में तीसरे विभाग की कल्पना करें तो वह स्वयं आप है। अर्थात्, जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा जुदा समझने में आता है वह ज्ञानादि गुणों का पिण्ड आत्मा तीसरा विभाग है। इस प्रकार एक तो स्वयं आप और दूसरा प्रत्यक्षगोचर शरीर भाग और तीसरा कर्म या लिंगशरीर अथवा सर्व संसार का बीजभूत कारण। ऐसे संसारापन्न जीव में तीन प्रकारों की कल्पना बैठती है। इन्हीं तीन वस्तुओं का एकीभूत पिण्ड होने से इसे संसारी जीव या बद्ध आत्मा कहते हैं। ये तीनों भाग सदा से मिलकर एकीभूत हो रहे हैं। जब तक संसार है तब तक इन तीनों का बन्ध नित्य लगा हुआ है।

जो बहिरात्मा पूरे अज्ञानी हैं वे शरीर को ही अपना स्वरूप मानते हैं। जो कुछ आगे चलकर कार्य कारण का विचार करने लगते हैं, वे भी वास्तव में अज्ञानी ही हैं, क्योंकि, कर्मों के स्वरूप को उन्होंने चाहे कुछ समझ लिया हो परन्तु आत्मा को संकल्प मात्र से या शास्त्राज्ञामात्र से मान लिया है, वास्तव में आत्मा को स्वयं समझ नहीं पाये हैं। उन्हीं को कहीं कहीं पर द्रव्यलिंगी के नाम से पुकारते हैं। यहां तक के दोनों प्रकार के जीव अज्ञानी ही हैं, क्योंकि, उन्होंने वास्तव तत्व को नहीं पाया है। हाँ, सच्चा तत्व ज्ञानी वह है कि जिसने शरीर व कर्म इन दोनों भागों से ज्ञानादि गुणयुक्त अमूर्त आत्मा को जुदा करके उसका स्वरूप समझ लिया है। और जो शरीर का नाश करके अपने को संसार से मुक्त कर सकता है। जो इतना ज्ञानी बन चुका है वह किसी प्रकार का कष्ट न उठाकर सहज ही आत्मा को छुड़ा सकता है।

परिवारादिक की चिन्ता से मोक्ष नहीं मिलता, ऐसा निश्चय करते हैं—हे जीव ! तू घर परिवार वगैरह की चिंता करता हुआ मोक्ष कभी नहीं पा सकता, इसलिए उतम तप का ही बारम्बार चितवन कर, क्योंकि तप से ही श्रेष्ठ मोक्ष सुख को पा सकेगा।

तू गृहादि पर वस्तुओं का चितवन करता हुआ कर्म कलंक रहित केवल ज्ञानादि अनंतगुण सहित मोक्ष को नहीं पावेगा, और मोक्ष का मार्ग जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रय है उसको भी नहीं पावेगा। इन गृहादि के चितवन से भव वन में भ्रमण करेगा। इसलिए इनका चिंतवन तो मत कर, लेकिन बारह प्रकार के तप का चिंतवन कर। इसी से मोक्ष पायेगा। वह मोक्ष तीर्थङ्कर परमदेवाधिदेव महापुरुषों के आश्रित है, इसलिए सबसे उत्कृष्ट है। मोक्ष के समान अन्य पदार्थ नहीं। यहाँ पर द्रव्य की इच्छा को रोककर वीतराग परम आनन्दरूप जो परमात्म स्वरूप है उसके ध्यान में ठहर कर घर परिवारादिक का ममत्व छोड़, एक केवल निजस्वरूप की भावना करना यही तात्पर्य है। आत्म भावना के सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहो है।

बहिरात्मा अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करता है—

आनन्दसपनं नेने दानदं मनेयददवते विषपद सुखम् ।
तानरसि यल्गुतिकुं ध्यानद सुखदेडयनरिवने पेरतं ॥७३॥

अर्थ—आनन्द रूप ऐसे चिदात्मा का ध्यान करके आनन्द को न मानने वाला बहिरात्मा इन्द्रिय विषय को अन्वेषण करने में रात दिन रत रहता है और उसी की पूर्ति करने के लिए मन में चिन्ता दुःख और परेशानी उठाता है। ऐसे व्यक्ति योगी के मन में ध्यान के द्वारा होने वाले सुख का अनुभव कभी नहीं कर सकते। उसका अनुभव अन्तरात्मा ही कर सकता है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि विषय सुख में हमेशा रत रहने वाला बहिरात्मा ध्यान में योगी द्वारा अनुभव किये जाने वाले आत्मानन्द का अनुभव कभी नहीं कर सकता इसका अनुभव अन्तरात्मा ज्ञानी जीव ही कर सकता है। किसी ने पूछा कि अरे मिठाई का स्वाद कैसा होता है तो उसने जवाब दिया कि बहुत मीठा होता है। बहुत मीठा कितना होता है, वह मीठा कैसा होता है, उसका वर्णन जिस प्रकार नहीं किया जा सकता और केवल वर्णन मात्र से मिठाई के स्वाद का अनुभव नहीं किया जा सकता है चाहे कितनी भी मिठाई की तारीफ की जाये, बिना खाये अनुभव नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उस आत्मानन्द का स्वाद केवल ज्ञानी जीव ही ले सकता है। किसी ने

मिष्ठान्न भोजन किया, तत्पश्चात् उसकी तारीफ करने लगा। लोग स्वाद के बारे में पूछते हैं तो वह उत्तर देता है कि बहुत रुचिकर था किन्तु जब तक भोजन को खाकर उसका अनुभव नहीं किया जायेगा तब तक उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी तरह आत्मा का अनुभव जिस बहिरात्मा को नहीं है, वह ज्ञानी के अन्तरंग में आने वाले ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकता। अज्ञानी बहिरात्मा हमेशा बहिरंग की रुचि होने के कारण बाह्य पदार्थों से अनेक प्रकार के दुःख उठा रहा है। इसलिए बहिरात्मा के बारे में आचार्य ने बताया है कि दुःख को बढ़ाने वाले मोह के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यहां आचार्य ने कहा है कि—

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता ।
गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते ॥
तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम् ।
का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम् ॥

जिस संसार में इसी एक शरीर में ही स्थिरतापने की बुद्धि करके नाना प्रकार के पाप कर्मो को करते हुए आत्मा ने बड़े भारी दुःखों की संतान को बढ़ाने वाली अवस्था प्राप्त कर ली है उसी संसार में ममता रहितपने को या वीतरागभाव को स्थापित करने वाले आत्मा से कौन सी बड़ी भारी सम्पदा नहीं प्राप्त कर ली जा सकती है कि जिसको इन्द्र, चक्रवर्ती या नारायण नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् अवश्य मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति की जा सकती है।

यहाँ पर आचार्य ने दिखलाया है कि ममता ही दुःखों को बढ़ाने वाली है व ममता का त्याग ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कराने वाला है। इस संसार में इस जीव ने अनन्तकाल से भ्रमण करते हुए अनन्त शरीर में रह कर व उसी में लिप्त होकर बहुत से कर्मो का बन्धन किया। जिस कर्म बन्ध के कारण संसार में भ्रमण करता रहा। अब यह मानव जन्म पाया है। यदि फिर भी इस शरीर में व शरीर के भीतर इद्रियों में ममता की जावेगी तो ऐसा कर्मो का बन्ध होगा जिससे इस जीव को नरक निगोद आदि गतियों में जाकर दुःखों की परिपाटी को बढ़ावा मिलेगा फिर मानव जन्म का मिलना ही दुष्कर हो जायेगा और यदि यह मानव बुद्धिमानी से इस क्षणभंगुर व अपवित्र शरीर पर ममत्व न करे और अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान कर उसका ध्यान करे तो यदि शरीर उच्च स्थिति का हो व मोक्ष पाने योग्य सामग्री हो तो उसी जन्म से मोक्ष की अनुपम सम्पदा को पा सकता है।

और यदि शरीर मोक्ष के पुरुषार्थ के योग्य न हो तब भी उत्तम संयोगों के पाने का पात्र होता हुआ परम्परया मोक्ष का अधिकारी हो सकता है । मोक्ष की सम्पदा अनुपम है । वह आत्मीक है, पराधीन नहीं है । वह आत्मा का ही अनन्त ज्ञान, सुख, वीर्य आदि है । इस मुक्ति की सम्पत्ति को इन्द्र, चक्रवर्ती व नारायण आदि भी नहीं पा सकते । वास्तव में आत्मज्ञानी व आत्मध्यानी ही ऐसे सुख के अधिकारी हैं । जो शरीर के दास हैं वे ही ससार के दास हैं, वे ही अनन्तकाल तक भ्रमण करने वाले हैं । इसलिए ज्ञानी जीव को इस क्षणिक शरीर में मोह न करके नित्य निरंजन निज आत्मा में ही प्रेम बढ़ाना उचित है ।

निश्चयपंचाशत में पद्मनंदि मुनि ने कहा है कि जब मन का मोह शरीरादि से छूट जाता है और यह मन आनन्द सागर में डूब जाता है तब मन में जो कुछ प्रतिभास होता है वही एक परम चैतन्यमय ज्योति है और वह जयवंत रहो ।

आगे आचार्य कहते हैं कि शरीर का दासपना करोगे तो आत्मा का बुरा होगा और जो आत्मा का हित करोगे तो शरीर का दासपना छूटेगा । वास्तव में जो मानव स्त्री, पुत्र, धन सम्पदा में मोहित हो जाते है अथवा अपनी आत्मा के भीतर कर्मों के उदय से पैदा होने वाले रागादि भावों में तन्मय रहते हैं वे मोही जीव रातदिन धनादि सामग्री के एकत्र करने में, रक्षण करने मे व विषय भोगों में लगे रहते हैं । वे इन कामों से शरीर की रातदिन चाकरी करते हैं, उसको बड़े आराम से रखते हैं । वे किंचित् भी कष्ट सहकर अपनी आत्मा के हित की तरफ ध्यान नहीं देते, उनसे न जप होता है न तप होता है न व्रत पाल सकते हैं न वे दर्शन पूजा स्वाध्याय करते है न वे पात्रों को दान देने का कष्ट उठाते हैं न वे सामायिक करते हैं न संयम पालते है न शुद्ध भोजन करते, हैं वे हिंसादि पापों को स्वच्छन्द वृत्ति से करते हुए व तीव्र विषयवासना में लिप्त होते हुए ऐसे पाप कर्मों को बाँध लेते हैं जिनसे इस आत्मा को दुर्गति में जाकर घोर संकट भुगतना पड़ता है और उसको अपने उद्धार का मार्ग मिलना कठिन हो जाता है । तथा जो बुद्धिमान इस मानव देह को धर्म साधन में लगाते हैं जप, तप शील-संयम पालते हैं, ध्यान स्वाध्याय करते हैं वे अपनी आत्मा का सच्चा हित करते हैं उसे सच्चे सुख का भोग कराते हैं, उसे मुक्ति के मार्ग पर चलाते हैं । यद्यपि इस तरह वर्तन करते हुए शरीर को काबू में रखना पड़ता है, तब शरीर अवश्य पहले की अपेक्षा कुछ सूखता है । इतना ही नहीं, ये सब कार्य जो मोक्ष मार्ग के साधक हैं वे वास्तव में शरीर के नाश के ही उपाय हैं । इन साधनों से कुछ काल के पीछे शरीर का सम्बन्ध बिल्कुल भी न रहेगा और यह शरीर ऐसा छूट जायगा कि फिर इसको यह आत्मा कभी नहीं ग्रहण करेगी । ऐसी व्यवस्था है तब ज्ञानी

को यही करना उचित है कि शरीर जो पर पदार्थ है उसके पीछे अपना बुरा न करे। उसे शरीर के मोह में नहीं पड़ना चाहिए और शरीर का सम्बन्ध ही न मिले, ऐसा ही उपाय करना चाहिए अर्थात् आत्मा के हित के लिए तप आदि आत्मध्यान को बड़े भाव से करना चाहिए।

जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है तब तक जीव यह मेरा और यह तेरा है ऐसा रागद्वेषादि मोह भाव रखता है। वैराग्य होने के बाद यह राग और मोह भाव बिल्कुल नष्ट हो जाता है। ऐसा कहते हैं—

एन्नेवरं वैराग्यं तन्नोळेतळेदोरदेन्नेवरमोलवक्कुं ।
तन्नं तानरिवुत्तिर्पन्नेयवरं विषय सुखदोलोलवादपुदे ।।७४।।

अर्थ—जब तक अपने अन्दर ही वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है तब तक यह जीव बाह्य विषय में ही संतोष मानता है। अपने को आप जानने के बाद विषय सुख में संतोष नहीं होता है ऐसा इसका तात्पर्य है ।।७४।।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि इस जीव को जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है, तब तक विषय वासनाओं में संतोष मानता है। जब आप अपने अन्दर ही अपने को जानता है तब बाह्य पंचेन्द्रिय विषय वासना के प्रति उसको अरुचि उत्पन्न होती है। तब वह जीव उन पर पदार्थों से मुख मोड़कर अपने आत्म सम्मुख होता है। तब बाह्य आडम्बर दुनिया के खेल तमाशों से घृणा उत्पन्न हो जाती है और उन वैरागी जीवों को यह जगत पागल या इन्द्रजाल के समान प्रतीत होने लगता है। अर्थात् उस वैरागी पुरुष के अन्दर ऐसा भासने लगता है कि इस जगत के जीव पंचेन्द्रिय विषय रूपी मद्य पी नट के समान संसार रूपी अखाड़े में अपनी सुध बुध को भूलकर नशे के आवेश में मूर्छित होकर नाच रहे हो। जैसे हंस पक्षी दूध और पानी में से दूध को ग्रहण करके पानी को छोड़ देता है। उसी तरह यह स्व पर का ज्ञानी जीव अन्तरात्मा बनकर शरीरस्थ अपने आत्म स्वरूप का अनुभव करते हुए बाह्य विषय वासना से अलिप्त रहता है। अर्थात् विषय वासना में रहते हुए भी अपने अन्तरंग से उस शरीरादि पर द्रव्य को हेय समझ कर सांसारिक विषयों के प्रति उदासीन रहता है। उस जीव की अज्ञान अवस्था नष्ट होकर सुज्ञान अवस्था हो जाती है। उन्हीं को परम योगी कहते हैं। विरागी जीवात्मा पर द्रव्य सम्बन्धी यह विचार करता है कि—

सर्वनश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं ।
काये रूपमिव क्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा ।।

यत्त्रापि विधीयते वतकुतो मूढ प्रवृत्तिस्त्वया ।
कृत्ये क्वापि हि केवलं श्रमकरे न व्याप्रियंते बुधाः ॥

जैसे मिट्टी की मूर्ति पानी में रखने से गल जाती है वैसे ही संसार के जितने काम हैं वे सब क्षणभंगुर हैं। जब अपना शरीर ही एक दिन नष्ट होने वाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओं के रहने का क्या ठिकाना ? असल बात यह है कि जगत का यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नहीं होते न नवीन पैदा ही होते हैं परन्तु उन द्रव्यों की जो अवस्थाएं होती हैं वे उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। अवस्थाएं कभी भी स्थिर नहीं रह सकती हैं। हम सबको अवस्थाएं ही दीखती हैं। तब ही यह रातदिन जानने में आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक गिर पड़ा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई। राज्यपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र आभूषण आदि सर्व ही पदार्थ नाश होने वाले हैं। करोड़ो की सम्पत्ति क्षणभर में नष्ट हो जाती है। बड़ा भारी कुटुम्ब क्षणभर में काल के गाल में समा जाता है। यौवन देखते देखते विलय हो जाता है, बल जरासी देर में जाता रहता है। संसार के सर्व ही कार्य स्थिर नहीं रह सकते हैं। जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अस्थिर कार्यो के लिए उद्यम नहीं करता है। वह इन्द्र पद व चक्रवर्ती पद भी नाश होने वाला है। इसलिए वह तो ऐसे कार्य को सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह एक कार्य अपने स्वाधीन शुद्ध स्वभाव का लाभ है। जो मलीन नहीं हो सकता और तब यह अनन्तकाल के लिए सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमें परिश्रम तो बहुत पड़े, पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचारशील होते हैं, वे सफलता देने वाले कार्यो का ही उद्यम करते हैं।

जब तक मिथ्यात्व भाव इस जीव के अन्दर रहता है तब तक ही स्त्री पुत्रादि विषयसुख को अच्छा मानता है—

मोहांधानां स्फुरति हृदये बाह्यमात्मीयबुध्या ।
निर्मोहानां व्यपगतमलः शश्वदात्मैव नित्यः ॥
यत्तद्भेदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीयै- ।
र्मोहं चित्त ! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन ॥

मोह से अन्धे जीवों के हृदय में बाह्य स्त्री, पुत्र शरीरादि पदार्थ अपनी आत्मापने की बुद्धि से अर्थात् वह अपना ही है ऐसा झलकता है। मोह रहित पुरुषों के हृदय में कर्म मैल से रहित अविनाशी आत्मा ही सदा अपनेपन की बुद्धि से झलकता है। हे मन ! अगर तू इन दोनों के भेद को समझ गया है तब

अपनों से अर्थात् इन स्त्री पुत्रादि से जिन को तूने अपना मान रक्खा है अपनेपन का मोह क्यों नहीं क्षण मात्र में नाश कर देता है।

पर वस्तु की भावना मत लाओ —

भाविसिदुदनेंदुं बों भाविसिदिरू मुन्नमेंदुभाविसदुद नीं ।
भाविसलु मूडुगं यद्भावं तद्भवतियेंबुदु परमार्थं ॥७५॥

अर्थ—हे जीव ! जो तू अनादि काल से इंद्रिय विषय सम्बन्धी जिस पर पदार्थ की भावना करता आया हैं, उस भावना को मत बढ़ा। जिसकी भावना को भाया जाता है भावना को भाने से वह अपने अन्दर ही उत्पन्न हो जाती है "यद्भावं तद्भवति" इस कहावत के अनुसार यथार्थ है ॥७५॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह भाव दर्शाया है कि हे जीव ! अनादि काल से आज तक तूने जिसकी भावना भाई है उसको बारबार भाने से क्या लाभ ? क्योंकि यह तो अनादि काल से भाते आये हैं और अनेक वार इसका परिचय भी करते आये हैं। इस इन्द्रिय विषय के सेवन के लालच से चौरासी लाख योनि में प्रवेश करके वहां के सुख दुःखों का अनुभव करता आया है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय सैनी और असैनी के पर्याय में बार बार जन्म लेकर खूब उनका अनुभव किया, अनेक योनियों में जन्म लेकर उस पर्याय की माता का दूध पिया। उस योनि के माता या पिता का वियोग होने से उनके मोह के कारण कितना शोक किया। उस पर्याय वाली माता ने तेरे लिए कितने रुदन किये। मोह के कारण तू वहाँ से दूसरी पर्याय में जाकर कितनी बार उत्पन्न हुआ। नरक में कितनी वार जन्म लेकर नारकी बना ? उस नरक की वेदना का अनुभव कितनी वार किया। कितनी बार पशु पर्याय धारण कर उस पर्याय का अनुभव किया। मनुष्य पर्याय धारण करके कितनी बार मनुष्य गति सम्बन्धी इन्द्रिय भोग विषय का अनुभव किया। मनुष्य भव से पुण्य उपार्जन करके कितनी बार देवगति के सुख का अनुभव किया ? पुण्य के योग से चक्रवर्ती पद धारण कर षट्खण्ड पृथ्वी को भोगा और छियानवे हजार स्त्रियों के साथ विषय भोग भोगकर उनके साथ रति का अनुभव किया ?

परमार्थप्रकाश में भी कहा है कि—

वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।
मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥

निर्दोष निज परमात्मा की अनुभूति की रुचि रूप तीन गुप्तिमयी जो निश्चय चारित्र उससे अविनाभावी (तन्मयी) जो वीतराग-निश्चयसम्यक्त्व उसके सन्मुख हुआ जीव, जो तू मरण भी पावे, तो दोष नहीं, और उस सम्यक्त्व के बिना मिथ्यादृष्टि अवस्था में पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य सहित है तो भी पापी ही कहा जाता है। तथा जो सम्यक्त्व सहित हैं वे पहले भव में उपार्जन किये हुए पाप के फल से दुःख दारिद्र भोगते हैं तो भी पुण्याधिकारी ही कहे जाते हैं। इसलिए जो सम्यक्त्व सहित हैं, उनका मरना भी अच्छा। मर कर ऊपर को जावेंगे और जो सम्यक्त्व रहित हैं, उनका पुण्य कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है। वे पुण्य के उदय से क्षुद्र (नीच) देव तथा क्षुद्र मनुष्य हो संसार वन में भटकेंगे। यदि पूर्व के पुण्य को यहाँ भोगते हैं, तो तुच्छ फल भोग के नरक निगोद में पड़ेंगे। इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्य भी भला नहीं है। सम्यग्दृष्टि पुण्य से भवान्तर में भोगों को पाकर मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पावेंगें, और मिथ्यादृष्टि जो पुण्य के उदय से देव भी हुए हैं, तो भी देव लोक से आकर एकेंद्री होवेंगें। ऐसा दूसरी जगह भी "वर" इत्यादि श्लोक कहा है, कि सम्यक्त्व सहित नरक में रहना भी अच्छा और सम्यक्त्व रहित का स्वर्ग में निवास भी नहीं शोभा देता।

इसी प्रकार समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥

इस लोक में सभी जीव संसार रूपी चक्र पर चढ़े पाँच परावर्तन रूप भ्रमण करते हैं। वहाँ पर मोहकर्म के उदय रूप पिशाच से जोते जाते हैं, इसी कारण से विषयों की तृष्णा रूप दाह से पीड़ित होते हैं। उसमें भी उस दाह की शान्ति का उपाय इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जान कर उनकी ओर दौड़ते हैं। और परस्पर में विषयों का ही उपदेश करते हैं। इसलिए काम (विषयों की इच्छा) तथा भोग (उनका भोगना) इन दोनों की कथा तो अनन्तबार सुनी, परिचय और अनुभव में आई, इस कारण सुलभ है। किन्तु सब परद्रव्यों से भिन्न चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपने आत्मा की कथा का न तो स्वयमेव कभी ज्ञान हुआ और जिनके हुआ, उनकी न कभी सेवा की, इसलिए इसकी कथा न कभी सुनी, और न वह कभी परिचय और अनुभव में ही आई। इस कारण आत्मा के एकत्व का पाना सुलभ नहीं है, दुर्लभ है। इसलिए हे जीव! तू बाह्य पदार्थ से मोह को हटा के वैराग्य पूर्वक अपने आत्म ध्यान में लीन होकर इस संसार समुद्र से मुक्त होने का प्रयत्न कर। ये ही भगवान जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। कहा भी है कि—

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृति ।
मुक्ति नित्यनिरंतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वजिताम् ॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्वतो वुध्यते ।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते ॥

यह संसार नाना प्रकार के उपद्रवों से भरा है, अत्यन्त मलीन है। आकुलताओं का घर है, इसमें स्वस्थपना नहीं है तथा मुक्ति नित्य निरन्तर श्रेष्ठ अत्मिक सुख से पूर्ण है और सव आपत्तियों से रहित है। इस वात को कोई कपाय से मोहित वुद्धि वाला ही प्राणी यथार्थ न समझे तो न समझे अन्यथा जो कोई वुद्धिमान है वह अनुपम श्रेष्ठ मुक्ति को छोड़कर इस असार संसार में किसी तरह राग करेगा ?

इन्द्रिय सुखमं विसुट्टु जितेन्द्रिय नागिर्दु निन्नं नीं भाविसु पंचे- ।
न्द्रिय दिच्छेगे संदोड तीन्द्रिय सुख निनग देकेयनु भवमक्कुं ॥७६॥

अर्थ—हे जीव ! तू पंचेन्द्रिय सुख को दूर करके जितेन्द्रिय वन और अपनी भावना कर। स्वयं तू पंचेन्द्रिय सुख के वश में हो जायगा तो तुझे अतीन्द्रिय सुख का अनुभव कैसे हो सकता है।

विवेचन—आचार्य इस श्लोक में जीव को संवोघन करते हुए कहते हैं कि हे आत्मन् ! जव तक तू पंचेन्द्रिय विषय-सुख को दूर नहीं करता, तब तक तुझे अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि तुझे अतीन्द्रिय सुख की इच्छा है और आत्मानन्द को प्राप्त करना चाहता है तो तुझे अतीन्द्रिय सुख का सेवन करना ही उचित है। यदि तू पंचेन्द्रिय सुख में निमग्न रहेगा तो अतीन्द्रिय सुख का अनुभव कैसे कर सकेगा। चक्रवर्ती सम्राट्, तीर्थङ्करों को पूर्व जन्म के पुण्य के कारण अपार वैभव और सम्पत्ति होते हुए भी सुख शांति नहीं मिली। अन्त में उन्हें भी उस वैभव को छोड़ने पर ही सुख शांति मिल सकी। अतः पंचेन्द्रिय विषय में आज तक किसी को सुख नहीं मिला। अतः हे जीव ! विषयों से मुख मोड़कर निजानन्द रस का पान करना ही तुझे योग्य है।

एक एक विपय के आधीन होकर इस जीव ने कितने दु:ख पाये हैं। फिर जो पंचेन्द्रिय विपयों में निमग्न हैं, उनके दुःख का तो क्या कहना है।

इस संसार की वास्तविक दशा का यदि चित्रण करना हो तो एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार हो सकता है। एक व्यक्ति कहीं जंगल में जा रहा था। उधर

से एक मस्त हाथी चिंघाड़ता हुआ उसकी ओर दौड़ा। उस बेचारे पुरुष को बचने की कोई जगह नहीं मिली। उसे एक कुआ दीखा। उसके ऊपर एक बड़ का पेड़ लगा हुआ था जिसकी शाखायें कुए में लटक रही थीं। वह एक डाल को पकड़ कर कुए में लटक गया। तब तक वह हाथी क्रोध में भरा हुआ वहाँ आ पहुँचा और पेड़ को पकड़कर हिलाने लगा। वह व्यक्ति भय के मारे नीचे की ओर देखने लगा तो उसने क्या देखा कि नीचे चार सांप फन फैलाये हुए व्यक्ति को डसने को तैयार बैठे हैं। यह देखते ही उसके होश उड़ गये। तब उसकी निगाह ऊपर को उठी। देखता क्या है कि वह जिस डाल को पकड़कर लटक रहा है, उस डाल को दो चूहे—एक सफेद और दूसरा काला—काट रहे हैं। अब तो प्राण जाने में कोई सन्देह नहीं रह गया। तभी उसके खुले मुँह में शहद की एक बूंद
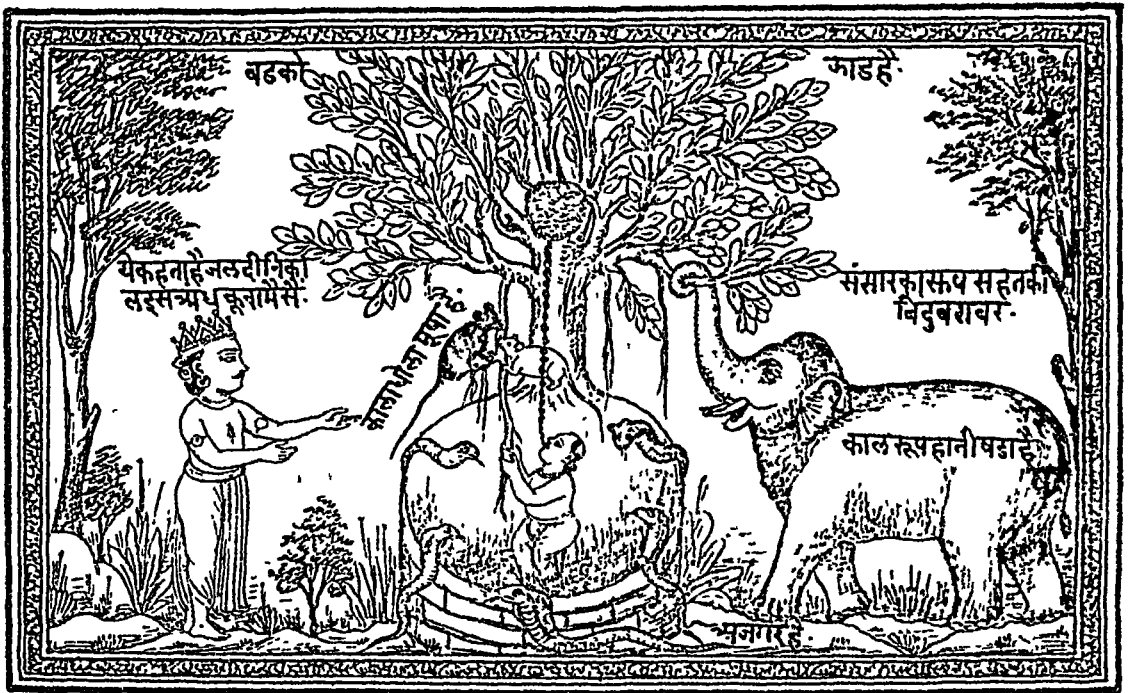
आ कर पड़ी। बात यों हुई कि पेड़ पर मधुमक्खियों का छत्ता था। हाथी द्वारा पेड़ हिलाने पर उसमें से शहद टपकने लगा था। वह उस शहद के स्वाद में मग्न होकर उस मृत्यु के भय को भी भूल गया। इतने में एक कोई साधु पुरुष आया और उससे बोला—तू क्या शहद के लोभ में इस अन्धकूप में लटक रहा है। जल्दी इसमें से निकल कर अपने प्राण बचा। ऊपर हाथी क्रुद्ध हुआ चिंघाड़ता है। वह तुझे छोड़ेगा नहीं। वह तुझे पेड़ हिलाकर कुए में डाल देगा। कुए में गिरा तो चार सांप तुझे काट लेंगे। यदि न गिरा तो ये दो चूहे इस डाल को जल्दी ही काट देंगे, तब तू बचेगा कैसे? इतने में शहद की बूंद फिर मुह में आकर गिरी। वह फिर उसे चखने लगा। बोला—बस, एक बूंद और चख लेने दो।

यही सांसारिक, प्राणी की दशा है। यहाँ हाथी रूपी काल चिंघाड़ रहा है। चार गतियाँ चार सांप हैं और दिन-रात सफेद और काले चूहे हैं। शहद पांच इन्द्रियों के विषय हैं। यह प्राणी इन इन्द्रिय विषयों में लुब्ध होकर सिर पर आये हुए यमराज के भय को भी भुला देता है। आचार्य उसकी कल्याण-भावना से प्रेरित होकर उससे कहते हैं—अरे! इन इन्द्रिय विषयों से विमुख हो। सामने यमराज मुह खोले खड़ा है। किन्तु विपय लोलुपी यह प्राणी कहता है-बस-जरा अमुक इन्द्रिय का विषय अनुभव कर लेने दो, तब मैं इन विषयों को छोड़ दूंगा। और इसी तरह सारी आयु बीत जाती है। न वह इन्द्रिय विषय छोड़ पाता है, न कल्याण ही कर पाता है और यमराज उसे आकर उठा ले जाता है—उसकी आयु समाप्त हो जाती है। अतः आचार्य उसे संबोधन कर रहे हैं—तू इन विषयों से विमुख होकर आत्मानन्द का अनुभव कर। तब तेरा कल्याण होगा।

शब्दं ज्ञानमुमल्लवु शब्दं बागळेनुमरि यववेळ्ं।
शब्दमुने केळ्दु मुळिवं शब्दमुमं केळ्दुरागमं नीं माळ्पं ॥७७॥

अर्थ—हे जीव! शब्द ज्ञान रूप नहीं हैं, बल्कि जब तू शब्द की जानकारी करना है, उस समय वह सात प्रकार का होता है—निषाद, ऋपभ, गान्धार, षड़ज, मध्यम, दैवत और पंचम। ये सात प्रकार के शब्द तुझे नहीं जानते। इन्हें तू जानता है। तू इन शब्दों पर प्रेम करता है और द्वेप करता है। राग-द्वेष करता है। इससे तू कर्णेन्द्रिय विषय के आधीन होकर तूने अनेक दुःख पाये, किन्तु तूने विचार नहीं किया कि शब्द जड़ है। यह आत्मा को नहीं जानता। आत्मज्ञान स्वरूप है। यह शब्द को जानता है। अतः जड़ शब्द पर तुझे राग-द्वेष करना ठीक नहीं। इसी शब्द जड़ के प्रति राग करके यह जीव इसके आधीन हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अज्ञानी जीव इसी जड़ शब्द के प्रति राग-द्वेष करके अनेक प्रकार के कर्म-बन्ध करता है। अतः शब्द को जड़ समझकर रूप-रस गन्ध-स्पर्श रहित आत्मा का ज्ञान कर।

विवेचन—आचार्य ने यह बताया है कि शब्द जड़ रूप है। वह पुद्गल का स्कन्ध है। उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है, वह अचेतन है। वह ज्ञान नहीं कर सकता। वह तुझे क्या जानेगा। बल्कि तू ही इसको जानता है। तू चेतनामय है, ज्ञान रूप है। जानना तेरा स्वभाव है। तू रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है। तू शब्द सुनकर किसी पर प्रेम करता है, किसी पर क्रोध करता है। कोई शब्द तुझे प्रिय लगता है, कोई अप्रिय लगता है। शब्दों पर यह राग-द्वेष परिणाम करना तेरी भूल है। शब्द तेरा कुछ बनाता-बिगाड़ता नहीं हैं। बल्कि अपने परिणामों से तू स्वयं ही अपना बना विगाड़ रहा है। जड़ ने तेरा कुछ नहीं

किया। बल्कि जड़ के निमित्त से राग-द्वेष करके तूने अपना बिगाड़ा है । उसका प्रभाव तेरे ऊपर पड़ा है। उसका परिणाम तू अनादि काल से भोग रहा है। और अब तक जन्म-मरण रूप संसार में भ्रमण कर रहा है।

आचार्य कहते हैं—अरे जीव ! तुझे गायन से प्रीति है, गाली या अपशब्द तुझे कर्णकटु प्रतीत होते हैं। किन्तु जरा विचार कर तो देख। अप शब्दों ने तेरा क्या बिगाड़ा ? तुझे उससे चोट क्यों लगती है, जबकि तू अरूपी है । तू अभेद्य अछेद्य है। तेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। तब तुझे क्रोध करने की क्या आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रेम वचन सुनकर, मधुर गाने सुनकर और अनुकूल बात सुनकर तू क्यों प्रसन्न हो उठता है। उन्होंने तुझे क्या दे दिया। शब्द सुनकर तू क्रोध-प्रेम-प्रसन्नता-रोष-हर्ष-विषाद-आसक्ति-वैराग्य - असूया - अनुकूलता आदि भाव करता है क्योंकि शब्दों को निमित्त बनाकर तेरे परिणाम इस प्रकार के हो जाते हैं। किन्तु तू क्यों नहीं विचारता कि पुद्गल अपनी क्रिया करता है, वह करता रहे। मुझे उससे क्या लेना-देना है। वे अपना परिणमन चेतना के माध्यम से इस प्रकार का कर रहे हैं। जड़ की जो क्रिया जड़ में हो रही है, उसे होने दे। तुझे अपनी क्रिया अपने में करनी है। चेतना का सारा परिणमन चेतना में तुझे करना है। जिस तरह तुझे तेरे दर्शन हो सकें अर्थात् आत्म स्वरूप की प्राप्ति हो सके, वैसे ही करना है और यह तभी होसकता है, जब तू शब्दों के द्वारा होने वाले राग-द्वेष का त्याग कर दे।

दीखने वाला रूप ज्ञान नहीं है ऐसा कहते है ।

रूपं ज्ञानमुमल्लवु । रूपं बगेवागळेनुमरियववैंदुं ।
रूपमने नोडि मुलिवै रूपि नोलितेके रागमं नी माल्पै ।।७८।।

अर्थ—हे जीव ! रूप, ज्ञान रूप नहीं है। पांच प्रकार के श्वेत, पीत, हरा, नीला, काला आदि जो ये रूप हैं ये रूप तुझको या तेरे स्वरूप को नहीं जानते है । फिर तू ऐसे रूप को देखकर उनको क्यों द्वेष करता है। और रूप में इस तरह प्रेम क्यों करता है ? ।।७८।।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि हे योगी ! तू काला, पीला, नीला, हरा अदि रूप को देखकर क्यों रागद्वेष करता है ? क्योंकि ये रूप तुझको अर्थात् स्वरूप को नहीं जानते हैं। तेरे स्वरूप को जानने वाले रूप को अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चेतना-रहित जड़रूप को देखकर उनसे द्वेष क्यों करता है ? और वह रूप तुझको नहीं जानता है और वह जड़ है, तेरा रूप अरूप है, वह ज्ञान दर्शन चेतन स्वरूप है, रूपातीत है। ऐसा होते हुए, जानते हुए भी तू

जड़ रूप से द्वेष करता है यह तो तेरे लिये उचित नहीं है। कदाचित् अपने धारण किये हुए शरीर के गोरे रूप रंग को देखकर उससे प्रेम करता है और काले रूप को देखकर द्वेष करता है।

अरे अज्ञानी जीव ! तू सुरूप और कुरूप के प्रति रागद्वेष करके अत्यंत निंद्यगति को प्राप्त होता है और गधा, ऊंट, सुअर आदि अनेक पर्याय में जन्म लेकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। दुःख तुझे अपने अज्ञान के कारण ही उठाने पड़े हैं। आज दुनिया के मानव रूप के पीछे पागल होकर दौड रहे हैं। वे दूसरे के रूप को देखकर ईर्ष्या करते हैं, अपने रूप से प्रेम करते हैं। इस जड़ शरीरादि रूपी पदार्थ पर रागद्वेष करने में तुझे कौन-सा फायदा हुआ, इससे उलटा संसार में दीर्घ चक्कर ही काटता रहा है। इसलिये हे जीव ! अब तू जड़ रूप का रागद्वेष मोह छोड़कर अपने अरूपी सच्चिदानन्द अखंड अविनाशी, अनेक गुण के भंडार, रूपातीत आत्मा के ऊपर प्रेम कर। इससे ही तुझे शांति मिलेगी अन्यथा कहीं पर शांति नहीं मिलेगी। जितने भी कुरूप सुरूप शरीर या अन्य रूपी पर पदार्थ तुझे प्राप्त हुए हैं ये भी पूर्व जन्म में उपार्जन किये हुए पुण्य-पाप के द्वारा ही प्राप्त हुए हैं। परन्तु ये सभी पदार्थ पाप और पुण्य की मर्यादा को लेकर आये है। जिस समय ये मर्यादा पूर्ण होती हैं उसी दिन तुझे तकलीफ देते हैं। इसका कारण है मोह ही चतुर्गति भ्रमण के लिये तुझे कारण हुआ है। अब तू चेत और अपने शरीर रूप घट के बीच पड़े हुए अरूपी आत्मानंद का अनुभव कर।

इस जीव को संबोधन करते हुए गुणभद्राचार्य ने भी आत्मानुशासन में कहा है कि—

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं।
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन् ॥
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा-।
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निवृतः ॥६४॥

अरे तू नेत्रादि इंद्रियों तथा मन का दास बन गया है। ये अपने अपने विषयों के लिये जैसे तुझे प्रेरित करती हैं, वैसे ही तू कलुषित होकर उन विषयों की तलाश करता हुआ भटकता है और खिन्न होता है। उन्हीं इंद्रियों के वश होकर अनेक तरह के खोटे काम करके पापों का संचय भी खूब करता है परन्तु फिर समय पाकर उसके फल को तू ही जब भोगता है, तब दुःख मानता है। इससे तू इन इंद्रियों को वश कर। रागद्वेष को दूर करके सर्व विषयों को छोड़, तथा अपनी आत्मा को समझ और आत्मीय सुख भोगता हुआ श्रेष्ठ शुद्ध आचरण

द्वारा कर्म मल का सर्वथा नाश करके इस संसार के दुःख से छुटकारा-निवृति प्राप्त कर। जब तक इन बाह्य विषयों से उपरत न होगा, तुझे कभी सुख शांति प्राप्त नहीं होगी, यह निश्चय समझ।

क्योंकि रूप में मुग्ध होकर अर्थात् चक्षु इंद्रिय के आधीन होकर पतंग अपने ज्ञान को खोकर अग्नि में स्वाहा होता है। इसी तरह से जीव बाह्य पंचेन्द्रिय विषयों में मग्न होकर जड़ वस्तु के सम्पर्क से अनेक प्रकार के दुःख भोग रहा है। अब तू चेत। बाह्य पंचेद्रिय वस्तु की लालसा को छोड़कर अपने निर्मल आत्म स्वरूप का अन्वेषण करके हमेशा के लिये सुखी बन जा। ऐसे श्री गुरू का उपदेश है। सारांश यह है कि:—

एक्के काले एक्कं णाणं जीवस्स होहि उवजुत्तं ।
णाणा-णाणाणि पुणो लद्धि-सहावेण वुच्चंति ॥

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों में से एक समय में एक ज्ञान ही अपने विषय को ग्रहण करता है। इसी तरह जिस समय मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान अपने विषय को जानता है उस समय इन्द्रिय ज्ञान नहीं होता। सारांँश यह है कि इन्द्रिय ज्ञान का उपयोग क्रम से ही होता है। एक समय में एक से अधिक ज्ञान अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकते, अर्थात् उपयोग रूप ज्ञान एक समय में एक ही होता है।

शंका—आपने जो यह कहा है कि एक समय में एक ही इन्द्रिय ज्ञान का उपयोग होता है यह ठीक नहीं है, क्योंकि हाथ की कचौड़ी खाने पर घ्राण इन्द्रिय उसकी गन्ध को सूंघती है, श्रोत्रेन्द्रिय कचौड़ी के चबाने के शब्द को ग्रहण करती है, चक्षु कचौड़ी को देखती है। हाथ से उसका स्पर्श ज्ञान होता है और जिह्वा उसका स्वाद लेती है, इस तरह पांचों इन्द्रिय ज्ञान एक साथ होते हैं। इस शंका का समाधान करते हैं। जीव एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग करता है। किन्तु लब्धि रूप से एक समय में अनेक ज्ञान कहे हैं।

गंध तेरा स्वरूप नहीं है ऐसा कहते हैं।

गंधं ज्ञानमुमल्लवु गंधं वगेवागळेमुमरियववेरडुं ।
गंधक्के सोल्तु मेच्चुवे गंधक्केयदेकेपेसि मुळिसं माळ्पै ॥७६॥

अर्थ—हे जीव ! सुगंध या दुर्गंध ये दोनों तेरा ज्ञान रूप नहीं है। गंध दो प्रकार के हैं ऐसा मुझे प्रतीत है। परंतु अरे अज्ञानी आत्मन् ! तू ऐसे जड़ गंध में

मुग्ध होकर सुगंध दुर्गंध समझकर सुगंध के प्रति राग करता है और दुर्गंध के प्रति द्वेष करता है। अरे जीव ! तू कितना अज्ञानी है। वे दोनों जड़ हैं और चेतन रहित हैं। तू उसके प्रति राग और द्वेष के द्वारा अशुभ पाप का बंध करता है। तेरे शरीर के अन्दर अनादिकाल से कर्मों के अन्दर दबे हुए निर्गन्ध आत्मानंद की सुगंध का अनुभव क्यों नहीं करता है ? ।।७६।।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में इस अज्ञानी बहिरात्मा जीव को यह बतलाया है कि हे अज्ञानी आत्मन् ! जड़ रूप सुगंध और दुर्गन्ध के प्रति राग द्वेष करके अगाध संसार समुद्र में प्रवेश करके उसमें डूबते हुए जीव ने क्लेश उठाया है। परंतु वे दोनों जड़ होने के कारण उन गंध और दुर्गन्ध ने तेरा कुछ बिगाड़ नहीं किया, परन्तु तू अज्ञान के कारण उन पर रागद्वेष करके व्यर्थ चारों गतियों में उसके निमित से दुःख उठा रहा है। यह अज्ञानता है। यदि तू अपने मन में विचार करके देखे तब पता चलेगा कि मैं अनंत ज्ञान दर्शन सुख का भंडार रूप होते हुए भी जगत की वस्तु के प्रति राग द्वेष कर अपने आप दुःख उठा रहा हूँ। जब तक तुझे सच्चा ज्ञान नहीं होगा तब तक जड़ के प्रति जमा हुआ तेरा अज्ञान दूर नहीं होगा। इस बात को तू ठीक समझले।

हे जीव ! तू अगर कल्याण चाहता है तो बाहरी रूप रंग के प्रति जो तेरा ममत्व भाव है, रागद्वेष है, उसको मन पूर्वक त्याग करदे और अपने अन्दर स्थित शुद्धात्मा को प्राप्त करने की चेष्टा कर। अरे मूर्ख ! अनादि काल से भोगे हुए, प्राप्त किए हुए पंचेन्द्रिय विषयों की लालसा को छोड़। रूप पर मोहित होकर तूने अनेक पर्याय धारण किये। आज भी उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय को पाकर रागद्वेष नहीं छूटता है यह कितने आश्चर्य की बात है। तुझे कहाँ तक समझाएँ। भगवान जिनेन्द्रदेव तुझे कितने प्रेम और करुणा भाव से समझा रहे हैं। हे अज्ञानी जीव ! मनुष्य पर्याय में इसका त्याग नहीं करेगा तो किस पर्याय में करेगा। अब तू इसे छोड़कर साधु के असली स्वरूप को धारण कर तब तू तीन लोक में चमकेगा। गुणभद्र आचार्य ने कहा है कि साधु का असली स्वरूप कैसा होता है कि—

गेहं गुहा परिदधासि दिशो विहायः।
संव्यानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः ।।
प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्र-।
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ।।

ग्रन्थकर्ता साधुओं से कहते हैं कि तुम पूरे स्वतन्त्र हो। तुम्हें किसी भी चीज की ऐसी जरूरत नहीं है कि जिसके संग्रह के बिना तुम्हारा काम न चले देखो :—

तुम्हारा घर का काम गुफाओं से चलता है, तुम्हें घर बांधने की आवश्यकता नहीं है। तुम दिगम्बर बन गये, इसलिए आजू-बाजू की दिशाओं के सिवा पहनने के लिए वस्त्रों के संग्रह करने की गरज नहीं रही। आकाश ही तुम्हारे लिए वाहन है। उसी में बसकर चाहे जहाँ विचरो। तप की अत्यन्त वृद्धि करने से भूख नष्ट होती है। वह भूख तुम्हें केवल तप की है। तप को खूब बढ़ाओ, यही तुम्हारा कर्तव्य है, न कि भोजन की चिंता में समय बिताना। चारित्रादि अनेक गुण जो तुम्हें प्राप्त हुए हैं, उन्हीं में तुम्हें स्त्री से भी अधिक रत होना चाहिए। जिन्हें गुण प्राप्त नहीं हो पाते वे अपना मन स्त्रियों में रमाते हैं। पर जिन्हें उत्तमोत्तम सच्चे कल्याणकारी भेद ज्ञानादि गुण प्राप्त हो चुके हैं उनका मन उन गुणों में आसक्त हो सकता है वैसा कहीं नहीं हो सकता। इसलिए उनको स्त्री से भी अधिक मनोरंजक गुण समझना चाहिए।

अब तू यदि विचार कर देखें तो तेरे लिए एक भी ऐसी चीज की जरूरत नहीं जिसके बिना कल्याण साधने की प्रवृत्ति रुक जाये। यदि कहीं से कुछ भी कभी न मांगना चाहे तो तेरा काम चल सकता है। प्रत्युत न मांगने पर ही यह तेरी दशा प्रशंसा योग्य व कल्याण साधने वाली हो सकती है। यदि तूने याचना करने का विचार किया तो तेरी आत्मा मलिन व दीन बन जायगी जिससे कि तेरे कल्याण में बाधा उपस्थित होना संभव है। जो मनुष्य अपने को उत्कृष्ट व समर्थ समझकर किसी उत्तम ध्येय को साधना चाहता है वही उस अभीष्ट मनोरथ को पूरा कर सकता है। याचना करने वाला अपने को असमर्थ दीन समझने लगता है इसलिए उसके हाथ से उत्कृष्ट ध्येय पूरा नहीं हो पाता। जब कि तूने अपने मोक्ष रूप सर्वोत्कृष्ट ध्येय को समझ लिया है तो वृथा याचना करके तू दीन क्यों बनता है? तू स्वतन्त्र समर्थ होसके इसीलिए गुरुओं ने तेरा कल्याण मार्ग सर्वथा स्वतन्त्र कर दिया है। इसलिए यदि तुझे जंजालों से मुक्त होना है तो किसी भी चीज के लिए किसी से वृथा याचना मत कर। देख,—

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥

कितने ही मनुष्य परमाणु को छोटी से छोटी चीज व आकाश को बड़े से बड़ा मानते हैं। परन्तु उनका यह कहना तभी तक टिक सकता है जब तक कि उनके सामने दीन व अभिमानी आकर खड़े न हुए हों। जो याचना करता

है वह दीन कहलाता है और जो कैसा भी कष्ट आने पर याचना नहीं करता वह अभिमानी-स्वाभिमानी आकाश से भी बड़ा, गंभीर, महान दीखता है और दीन परमाणु से भी तुच्छ वन जाता है। दीन के विचार व आत्मा संकुचित हो जाते हैं। इसीलिए उसे लोग अति तुच्छ समझते हैं और वह आप भी अपने को अति तुच्छ मानता है। अभिमानी जो कि कभी याचना नहीं करता, अपने विचारों व आत्मा को पूरा विकसित व प्रसन्न रखता है। उसकी प्रसन्नता व गम्भीरता का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। यद्यपि दीन व अभिमानी के साथ परमाणु व आकाश के विस्तार की तुलना ठीक ठीक नहीं बैठती है तो भी तुच्छता व वड़प्पन की सीमा दिखाने के लिए इधर परमाणु, उधर आकाश को लेकर अतिशय प्रगट किया है।

याचना करने वाला व दान देने वाला, पुरुष दोनों ही समान हैं। किसी की भी जात-पांत या लक्षण आकार भिन्न नहीं है। तो भी दान देते समय दाता तो अति महान दीखने लगता है और याचना करने वाला अति तुच्छ दीख पड़ता है। इसका कारण शायद यह हे कि उस समय याचक का गौरव या महत्व दाता की तरफ पलट कर पहुंच जाता है। यदि ऐसा न होता तो याचक का तुच्छ वनना व दाता का इतना गौरव वढ़ना असम्भव था। इसमें दूसरा कोई कारण ही नहीं दीखता है। दोनों समान जातीय मनुष्य होकर भी याचना मात्र से याचक का गौरव कम हो जाता है। जितनी इधर लघुता प्राप्त होती है, उतना ही उधर दाता का गौरव वढ़ता है।

इन दोनों की अवस्था का दृष्टान्त—

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः ।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥

तराजू के जिस पलड़े में कुछ चीज रख दी जाती है वह नीचा हो जाता है और जो खाली रहता है वह ऊँचा हो जाता है। इससे यह मतलव समझना चाहिए कि याचना पूर्वक लेने वाले की भी यही दशा होती है। जो याचना करके लेता है वह अधोगति-नरक का पाप संग्रह करके नीचे चला जाता है। और जो भोग के विषयों से उदास रहता है, कभी किसी से कुछ याचना नहीं करता है वह पापों के वोझ न होने से हलका रहता है। और इसीलिए वह ऊर्ध्व गमन कर स्वर्ग या मोक्ष जाता है।

यद्यपि याचना करना सभी के लिए वुरा है, पर साधुओं के लिए तो याचना करने की सर्वथा ही मनाई है। वे किसी से याचना नहीं करते। यदि

उनकी आवश्यकतानुसार कोई अन्न औषधि तथा पुस्तकादि उन्हें देदे तो वे लेते हैं, नहीं तो नहीं। यदि किसी भक्त का उनकी तरफ महीनों भी लक्ष्य न जाय तो भी वे दुःखी नहीं होते, याचना करने को तैयार नहीं होते। उनकी धीरता बड़े से बड़ा कष्ट आ जाने पर भी समाप्त नहीं होती है। वे अपने को इतना अधिक स्वतन्त्र बना लेते हैं, तभी तो उनकी मुक्ति इस संसार से शीघ्र हो सकती है।

पांच रसों की गृद्धता को छोड़ने का उपदेश देते हैं —

रसमुं ज्ञानमुमल्लवु रसमं बगेवागलेनुमरियव वैदुं।
रसमं सेविसि मुळिवै रसमं सेविसियदके रागमं माळ्पै ॥८०॥

अर्थ—हे जीव ! रस ज्ञान रूप नहीं है, तू उसके स्वाद को जानते समय भिन्न भिन्न पांचों रसों का स्वाद लेता है अर्थात् तेल, नमक, मिर्च, घी और दूध ऐसे पांच रस हैं। इसका स्वाद लेते हुए तू अपने को सुखी मानता है। जब ये पांच रस अपने अनुकूल नहीं मिलते तब उनके प्रति द्वेष करता है। जब अपने अनुकूल होते हैं तब इन पर प्रेम करता है। परन्तु हे अज्ञानी जीव ! जड़ वस्तु रस के स्वाद को लेकर यह अच्छा नहीं है ऐसा मन में विचार करके उससे द्वेष करता है। और पुनः उस पर प्रेम करता है अर्थात् राग करता है। पुनः उसमें गृद्धता कर उसी का लोलुपी होकर, उसी में आसक्ति रखकर उसी के लालच से मर कर उस का स्वाद लेने के लिये उसी के अन्दर कीड़े का शरीर धारण करता है और वार बार उसी में जन्म मरण करता है। इसलिए हे योगी ! रस के स्वाद को छोड और अनादि काल से अपने अन्दर ही रहने वाली आत्मा के रस का स्वाद ले ऐसा आचार्य ने वतलाया है ॥८०॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में रस की आसक्ति को छोड़ने का उपदेश दिया है कि हे योगी ! षट्रस में फंसकर तू उसमें रागद्वेष करता है क्योंकि यह जड़ वस्तु है ऐसा तुझे ज्ञान नहीं है। इसी कारण खोटे परिणामों से निंद्य पर्याय में भ्रमण करने की सामग्री वना लेता है। इस आहार के रस की गृद्धता के कारण तू अनेक योनियों में भ्रमण कर रहा है। इस आहार की आसक्ति से उसी को ग्रहण करने की आशा रख कर उसी के अन्दर उत्पन्न हुआ है। इन पांचों इन्द्रिय विषयों को उत्तेजित करने वाले इस शरीर को नीरस भोजन देकर संयम साधन कर। परन्तु तू दीक्षा ग्रहण करने के बाद पहली भावना को भूलकर पर घर की भिक्षा के भोजन में आसक्त होकर अनेक प्रकार के रस का स्वादी वनता है। जब तुझे अच्छा मिले, तब उसको प्रेम करता है, जब तेरे मन के अनुकूल नहीं मिलता है तू उस पर द्वेष करता है। इस तरह आहार में

रागद्वेष करके तू अशुभ गति का वन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता रहा है। इसलिए हे योगी ! आहार की या रस की आसक्ति का त्याग कर। आहार जड़ वस्तु है और तेरी आत्मा में अनन्त ज्ञानमय आनन्दामृत के रस का भण्डार भरा पड़ा है। तू आप अपने आत्म रस का स्वादी होकर वाहर की विषय वासना को उत्पन्न करने वाले रस को छोड़। आचार्य ने कहा है कि—

काऊण णग्गरुवं बीभस्सं दड्ढ-मडय-सारिच्छं ।
अहिलससि किण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥

पराये घर भिक्षा को जाते समय मिष्ट आहार की इच्छा करता है, क्या तुझे लाज नहीं आती ? इसलिए साधु को आहार का राग छोड़ अल्प और नीरस आहार उत्तम कुलीन श्रावक के घर लेना योग्य है। मुनि को राग भाव रहित आहार लेना चाहिए। स्वादिष्ट सुन्दर आहार का राग करना योग्य नहीं है। और श्रावक को भी यही उचित है, कि भक्ति भाव से मुनि को निर्दोष आहार देवे, जिसमें दोष न लगे। और यदि आवश्यकता हो तो आहार के समय ही निर्दोष औषधि दे, शास्त्र दान करे, मुनियों का भय दूर करे, उपसर्ग निवारण करे । यही गृहस्थ को योग्य है। जिस गृहस्थ ने यती को आहार दिया, उसने तपश्चरण दिया, क्योंकि संयम का साधन शरीर है, और शरीर की स्थिति अन्न जल से है। आहार के ग्रहण करने से तपस्या की वढोतरी होती है। इसलिए आहार का दान तप का दान है। यह तप संयम शूद्धात्मा की भावना रूप है, और ये अन्तर वाह्य वारह प्रकार का तप शुद्धात्मा की अनुभूति का साधक है । तप संयम का साधन दिगम्वर मुनि का शरीर है। इसलिए आहार के देने वाले ने यती की देह की रक्षा के साथ ही शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष दिया क्योंकि मोक्ष का साधन मुनिव्रत है, और मुनिव्रत का साधन शरीर है, तथा शरीर का साधन आहार है । इस प्रकार अनेक गुणों को उत्पन्न करने वाला आहारादि चार प्रकार का दान उसको श्रावक भक्ति से देता है, तो भी निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के आराधक योगीश्वर महा तपोधन आहार को ग्रहण करते हुए भी राग नहीं करते। रागद्वेष परिणाम निजभाव के शत्रु हैं, यह सारांश हुआ।

भोजन की लालसा का त्याग करने के वारे में आगे कहा है कि—

जइ इच्छसि भो साहू बारह विह तवहलं महा विउलं ।
तो मण-वयणे - काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु ॥

हे योगी। जो तू वारह प्रकार के तप के फल स्वरूप स्वर्ग मोक्ष चाहता है, तो वीतराग निजानन्द एक सुख रस का आस्वाद और अनुभव से तृप्त हो। मन वचन और काय से भोजन की लोलुपता का त्याग कर दे।

जो योगी स्वादिष्ट आहार से हर्षित होते हैं, और नीरस आहार में क्रोधादि कषाय करते हैं, वे मुनि भोजन के विषय में गृद्धपक्षी के समान हैं, वे परमतत्व को नहीं समझते हैं।

जो कोई वीतराग के मार्ग से विमुख हुए योगी स्वादिष्ट आहार से खुश होते हैं, जो कभी किसी के घर छह रसयुक्त आहार पावें तो मन में हर्ष करते है, आहार के देने वाले से प्रसन्न होते हैं, यदि किसी के घर से रस रहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं, उस गृहस्थ को बुरा समझते हैं, वे तपोवन नहीं हैं, भोजन के लोलुपी हैं। वे गृद्धपक्षी के समान हैं। ऐसे लोलुपी यती देह में अनुरागी होते हैं, वे परमात्म तत्व को नहीं जानते। गृहस्थी के तो दानादिक ही बड़े धर्म हैं। जो सम्यक्त्व सहित दानादि करे, तो परम्परा से मोक्ष पावे। क्योंकि श्रावक का दानादिक ही परम धर्म है। जो ऐसे नहीं हैं, वे गृहस्थ हमेशा विषय कषाय के आधीन रहते हैं। इससे इनके आर्त रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। इनके निश्चय रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो ठिकाना ही नहीं है। वस्तुतः गृहस्थों के शुभोपयोग की ही मुख्यता है। और जब शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवें, तो इसके समान अन्य क्या है। श्रावक का तो यही बड़ा धर्म है कि यति अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन सबको विनयपूर्वक आहार दे। और यति का यही धर्म है कि अन्न जलादि में राग न करे, और मान अपमान में समता भाव रक्खे। गृहस्थ के घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवे, चाहे चावल मिले, चाहे अन्य कुछ मिले। जो मिले उसमें हर्ष विषाद न करे। दूध, दही, घी, मिष्टान्न इनकी इच्छा न करे। यही जिनमार्ग में यति की रीति है।

रुवि पयंता सद्दि मय गय फासहि णासंति।
अलिउल गंधइं मच्छ रसि किम अणुराउ करंति।।

पंचेन्द्रिय के विषयों की इच्छा आदि जो खोटे ध्यान हैं वे ही हुए विकल्प। उनसे रहित, विषय कषाय रहित जो निर्दोष परमात्मा उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप जो निर्विकल्प समाधि, उससे उत्पन्न वीतराग परम आल्हादरूप सुख अमृत, उसके रस के स्वाद का पूर्ण कलश की तरह भरे हुए जो केवल ज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्य समयसार, उसको उत्पन्न करने वाला जो शुद्धोपयोग रूप कारण समयसार, उसकी भावना से रहित संसारी जीव विषयों के अनुरागी पाँच इन्द्रियों के लोलुपी भव भव में नाश पाते हैं। ऐसा जानकर इन विषयों में लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो पांच इन्द्रियों के विषयों में मोहित हैं, वे वीतराग चिदानन्दस्वभाव परमात्मतत्व को न सेवते हुए, न जानते हुए, और न भावते हुए, अज्ञानी जीव मिथ्या मार्ग को वांछते, कुमार्ग की रुचि रखते हुए

नरकादि गति में घानी मे पिलना, करोत से विदरना, और शूली पर चढ़ना इत्यादि अनेक दुःखों को भोगते हैं। अज्ञानी जीव वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि से पराङ्मुख हैं। जिनके चित्त चंचल हैं, वे कभी निश्चल चित्त कर निजरूप को नहीं ध्याते हैं। और जो पुरुष मोह से रहित हैं, वीतरागनिर्विकल्प समाधि में लीन हैं, वे लीला मात्र में ही संसार को तैर जाते हैं।

स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों का त्याग करने का उपदेश देते हुए कहा है कि—

स्पर्शं ज्ञानमुमळ्ळवु स्पर्शं बगेवागळेनुमरियव वेंटु ।
स्पर्शं मने नोडि मेच्चुवे स्पर्शद तीटक्के पेसि मुळिसं माळ्पे ॥८१

अर्थ—हे जीव ! स्पर्शन इन्द्रिय ज्ञान स्वरूप नहीं है। स्पर्शन इन्द्रियों का स्वाद लेते समय वे आठ प्रकार के मृदु, कर्कश, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्षादि जो स्पर्श हैं तुझको नहीं जानते हैं। परन्तु तू ऐसे जड़ स्पर्श को स्पर्श कर अत्यन्त मोहित होता है और आनन्दित होता है। तू स्पर्शन इन्द्रियों का भोग कर या स्पर्श कर पुनः उन पर राग और द्वेष करता है। और उनसे प्रेम करके पुनः संसार के भ्रमण का कारण बन जाता है। यह कितने अज्ञान की बात है।

जितना जितना इन्द्रिय विषय सुख में लगाव होता जाता है उतना उतना ही अधिक अधिक दुःख होता है, ऐसे कहते हैं।

एल्लेल्लि मनं पत्तुगु मल्लिल्ल ये दुःख हेतु वें बुदनरि यल् ।
वल्लडे परतत्वदोळं सल्लदे तत्नल्लि योगि नेलसि ये निलुवं ॥८२॥

अर्थ—मन जहाँ जहाँ आसक्त होता है तहां तहां दुःख होता जाता है अर्थात् वहां दुःख ही दुःख होता है। ऐसा समझने के बाद अगर वह योगी उन इंद्रियों के प्रति आसक्त न होकर अपने अन्दर ही आसक्त हो तो वही योगी श्रेष्ठ होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥८२॥

विवेचन—ग्रंथकार ने यह बताया है कि मन जहाँ जहां आसक्त होता है वहां दुःख ही दुःख होता है। ऐसा समझने के बाद योगी इन्द्रियों में आसक्त न होकर अगर अपने अन्दर ही आसक्त हो तो संसार से शीघ्र ही मुक्त हो सकता है। वही योगी श्रेष्ठ है। जब तक इस जीव को स्व पर का भेद प्रतीत नहीं होता तब तक अज्ञानी कहलाता है। जब तक अज्ञान अवस्था रहती है तब तक आत्मा के साथ लगे हुए कर्मरूपी मैल से हमेशा आकुलता पाता है। यह आकुलता इन्द्रिय जनित भोग विषयों के कारण है। जब स्व पर का ज्ञाता हो जाता है तब शीघ्र ही उसको छोड़कर अपने स्वरूप में आता है।

कहा भी है कि विषयसुख की अपेक्षा मोक्ष का मिलना सुलभ है।

वार्तादिर्भिविषयलोलविचारशून्यः,
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम् ।
तच्चेष्टितं यदि सकृत् परलोकबुद्ध्या,
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥

अर्थ अरे, जैसा कि तू असि मसि कृषि आदि अनेक तरह के उद्योग करता हुआ निरंतर इस विषयसुख की प्राप्ति के लिए क्लेश उठाता है, वैसा क्लेश यदि एक बार भी परलोक सिद्धि के लिए उठाये तो फिर तुझे जन्म-मरणादिक दुःख कभी न भोगने पड़ें। अर्थात् अविनाशी सुख की प्राप्ति हो जाय। परन्तु तू एक तो विषयों में आसक्त हो रहा है और दूसरे तुझे विवेक नहीं रहा। इसलिये तू ऐसा समझता है कि घर में रहकर उद्योग से धन कमाकर विषय भोग सहज प्राप्त हो सकता है और उससे सुख भी होता है पर, खूब पक्का समझले कि, इससे अविनाशी सच्चा मोक्ष सुख की प्राप्ति होना नितान्त असंभव है। इस विषयसुख को तू सहज और सच्चा सुख समझता है। इसी से तेरी इच्छा परिग्रह जाल से हटती नहीं है। परन्तु यह तू निश्चय समझ कि, विषय संग्रह के लिये जितना क्लेश तू निरंतर सहता है और फिर भी वे विषय इच्छित रूप में प्राप्त नहीं हो पाते, उतना की कष्ट यदि मोक्षसुखार्थ कभी एक बार भी किया जाय तो अवश्य अविनश्वर सुख प्राप्त हो सकता है। यदि अब भी वैसा करे तो भी कुछ नहीं बिगड़ा है। तू डर मत, विषयों के उपार्जन से मोक्ष सुख का उपार्जन करना सहज है और वही असली सुख है।

बाह्य पदार्थों से राग द्वेष हटाने का उपदेश—

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्मयको,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ?
अन्तःशान्तिमुपैहि यावदुदयप्राप्तान्तकप्रस्फुरन् ।
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥

अर्थ—अरे भव्य जीव ! तू वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता। इसलिये स्त्री, पुत्रादि इतर वस्तुओं में मोहित होकर रत्न सुवर्णादिक को हितकारी समझता है, शत्रु सर्प विषादि को अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों ही गमाता है ? तेरी ऐसी कल्पना तभी तक होती है जब तक कि तू

असली आत्मीय शांति को प्राप्त नहीं होता। यह तेरी सभी कल्पनाएं झूठी हैं, क्योंकि, अन्य पदार्थों में तुझे सुख दुःख देने की शक्ति नही है, जो कुछ सुख दुःख होते तुझे दिखाई देते है वे तेरी ही संकल्पवासना के फल हैं। देख, इधर तो तू यों ही फँसा रहेगा किंतु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दवा लेगा। इसलिये उससे वचने का उपाय देख और वह यह है कि जव तक, चाहे जब आजाने वाले निर्दय काल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान जठराग्नि में पड़कर तू भस्म नहीं हुआ तव तक तू अपने अंतःकरण को पूर्ण शांत करले, जिससे कि उस काल का आक्रमण आगामी भव के लिये दुःखदायी न हो, क्योंकि अंतरंग में शांति (संतोष) उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का बंध होगा अथवा परम शांति उत्पन्न होने पर मोक्ष-सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिये काल का भय मिट जायगा।

योगी को विपयो ने ही पागल वना दिया है—

तार्णबुटे पेरतोंदपूर्वरस में केय्सार्गुमे मत्तमा।
उणिसा तंबुलमा विदग्ध गणिकासंयोगमावस्त्र भू-
षणमाल्यादिगकेंदु पंबलिसी निच्चं निच्चमी पिष्टवैपे।
षणर्माचर्वितचर्वणं सुखमिदें निन्नं मरूक्माडितो। ८३॥

अर्थ—हे जीव ! इंद्रिय विषय भोग को कितना भी भोगा जाय उससे कभी भी तेरी तृप्ति नहीं होती है। अर्थात् उससे कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती है। और उससे कभी भी कोई सुख की नयी चीज प्राप्त हुई है ? पुनः पुनः वही भोजन, वही तांवूल, वही चतुर वेश्या वाली के साथ संयोग का विषय और वही रत्नों के हार सुगंध पुष्पमालायें, वही अलंकार आदि, निरंतर उन्हीं का उपभोग और भोगोपभोग के लिये हायहाय करके संग्रह करने में अनेक प्रकार से अस्त व्यस्त रहता है अर्थात् निरंतर इस पिष्ट पेषण और चर्वित चर्वण के समान सुख ही क्या सुख कहलाता है ? अरे इम विषय भोग के हेतु किसने तुझे पागल वना दिया है ॥८३॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में कहा है कि यह अज्ञानी जीव अनादि-काल से वार वार पंचेद्रिय विषयभोग को भोगता हुआ आरहा है जैसे कि वेसन अनेक मसालों से मिलकर व्यंजन वन जाता है। वेसन केलड्डू के रूप में, या पकौड़ी के रूप में या और व्यजंन रूप में परिवर्तित होकर स्वादिष्ट बनता है। उस समय यह जीव कहता है कि आज मैंने वहुत वढ़िया चीज खायी है। जब वह व्यंजन रहित या मसाले रहित केवल पानी में रौंद कर या रोटी बनकर सम्मुख

आता है तब वह फीका मालूम होता है। जो मसालेदार बना हुआ था वही जब मिष्टान्न के रूप में परिवर्तित होता है तब वह उस पर राग करता है। इस तरह यह जीव इस परवस्तु का लालच और उसी की लालसा रखकर वार वार जन्म मरण कर उसी को ग्रहण करता है। और जब दूसरी वार खाता है या दूसरी वार पचेंद्रिय विषय भोगों का उपभोग करता है उस समय मन में यह विचार करता है कि मैंने ये जिन्दगी में कभी नहीं भोगा और ऐसी सम्पत्ति मुझे कभी प्राप्त नहीं हुई। इस प्रकार विषय भोग में आसक्त होकर यह आत्मा मलिन बनकर निंद्य गति को प्राप्त होता है। जब तक यह जीव इन्द्रिय विषय में इस प्रकार फंसा रहेगा तब तक इस जीव को आत्मा के स्वरूप की पहिचान नहीं होगी।

आचार्य ने बताया है कि पूर्व जन्म में निदान सहित व्रत दान, तप आदि शुभ क्रिया करके जो पुण्य-बंध किया उस पुण्य बंध को ही तूने अपना सुख माना है। परन्तु यह पुण्य इस आत्मा को सुख देने वाला नहीं है। तू बार बार उसी पुण्य का संग्रह करके इस संसार में जन्म और मरण करता आया है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि सम्यक्त्व पूर्वक तपश्चर्या करके पंचेंद्रिय विषयों को छोड़ देना ही तेरे लिये उचित है।

रुचिपूर्वक आत्म ध्यान में तल्लीन होकर पाप और पुण्य दोनों को हटाकर अपने स्वरूप की ही शरण ले। परमात्म प्रकाश में योगीन्द्राचार्य ने भी कहा है कि हे जीव! सम्यक्त्व सहित तप कर्म निर्जरा के लिये कारण है। सम्यक्त्व रहित चक्रवर्ती और देव पद ये दोनों पुनः संसार के लिये कारण हैं। इसलिये सम्यक्त्व की अपेक्षा चक्रवर्ती और देव पद भी अच्छा नहीं है। ऐसा कहा है।

जो सम्यग्दर्शन के सन्मुख हैं, वे अनन्त सुख को पाते हैं, और जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं, वे पुण्य भी करते हैं, तो पुण्य के फल से अल्प सुख पाके संसार में अनन्त दुःख भोगते हैं। निज शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप निश्चयसम्यक्त्व के सन्मुख हुए जो सत्पुरुष हैं, वे इसी भव में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन की तरह अविनाशी सुख को पाते हैं, और कितने ही नकुल सहदेव की तरह अहमिंद्र पद के सुख पाते हैं तथा जो सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य भी करते हैं, तो भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं, इसलिये हे जीव! तू इस प्रकार आत्मानुभव के बिना जो बाह्य पदार्थ में बार बार लालसा रखकर जन्म मरण रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है, वह ठीक नहीं है। अब तो चेत। तुझे पुण्य और पाप इन दोनों से भिन्न शुद्धात्म स्वरूप का मनन करना ही योग्य है। और उसी से तेरी तृप्ति होगी। पर द्रव्य से कभी तृप्ति नहीं होगी। इसलिए अब तो अपने अज्ञान को छोड़कर सम्यग्ज्ञानी बन और शुद्धात्म के प्रति रुचि रखकर उसी में रत रह।

आचार्य आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि भोगोपभोग के होने से इस आत्मा के साथ अनुराग उत्पन्न होता है।

भोगंगवमनदोक्सले रागमनोदविसुगुमोप्पडनुभविकेमनो ॥
रागमनोविसदवुह्यद्योगमनोदविसे रसज्ञननुभविसुगुमें ॥८४॥

अर्थ—भोगोपभोग विषय मन में अच्छी तरह अनुराग उत्पन्न करते हैं। तो भी उनको अनुभव करं ज्ञानी के मन में प्रेम उत्पन्न नहीं होता। आत्मरस का स्वादी व्यक्ति क्या विषयों में रुचि करेगा ? कदापि नहीं। वह विषय सुख अगर मन में प्रवेश करे तो वह ज्ञानी उस आत्म सुखका अनुभव कभी भी नहीं कर सकता है ऐसा समझना चाहिये ॥८४॥

विवेचन—आचार्य वतला रहे हैं कि अभेदरत्नत्रय की भावना से रहित मनुष्य का जन्म निष्फल है। यह जीव अनादिकाल से भोगोपभोग विषय में आसक्त होकर उसको ही अनुभव करके इस ससार में चक्र के समान परिभ्रमण कर रहा है। जव तक यह विषय वासना इस अज्ञानी जीव के हृदय में वनी रहेगी तव तक इस जीव को शुद्धात्मा की प्रतीति नहीं हो सकती है। आचार्य ने इस अज्ञानी जीव को सम्बोधन करते हुए कहा है कि हे जीव ! अनादि काल से इस जीव ने कई वार मनुष्य भव धारण किया और छोड़ा परन्तु उससे अपना जो हित करना था वह नहीं किया। जो तूने अनादिकाल से विषय भोगों को भोगा था, उसी की लालसा रखकर तू एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक पर्याय धारण करके इस विषय भोग को भोगता रहा और उसी में आसक्त होकर रहा है।

हे जीव ! तू विषयों में लीन होकर अनन्त काल तक भटका और अभी भी विषयासक्त वना हुआ है। अव विषयासक्त होकर कितने काल तक भटकेगा अव तो मोक्ष का साधन कर। कहते हैं कि—

विसयासत्तउ जीव तुहुं कित्तिउ काल गमीसि ।
सिव-संगमु करि णिचलउ अवसइं सुक्खु लहीसि ॥

हे अज्ञानी जीव ! तू विषयों में आसक्त होकर कितना काल वितायेगा ? अव तो शुद्धात्मा का अनुभव कर, जिससे कि अवश्य मोक्ष को प्राप्त हो। हे अज्ञानी, ! तू शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परम आनन्दरूप अविनाशी सुख के अनुभव से रहित हुआ विषयों में लीन होकर कितने काल तक भटकेगा। पहले तो अनन्तकाल तक भ्रमण किया, अब भी भ्रमण से नहीं थका, सो बहिर्मुख परिणाम करके कब तक भटकेगा। अब तो केवल ज्ञान दर्शन रूप अपने शुद्धात्मा

का अनुभव कर, निज भावों का संबंध कर। घोर उपसर्ग और बाईस परीषह की उत्पत्ति में भी सुमेरु के समान निश्चल होकर आत्म ध्यान को धारण कर, उसके प्रभाव से निःसंशय मोक्ष पावेगा। जो मोक्ष अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तगुणों का ठिकाना है, उसे विषयों के त्याग से अवश्य पावेगा।

तू निजस्वरूप का संसर्ग मत छोड़, निजस्वरूप ही उपादेय है, ऐसा ही बार बार उपदेश करते हैं—हे तपोधन ! आत्म कल्याण को छोड़कर तू कहीं भी मत जा। जो अज्ञानी जीव निजभाव में लीन नहीं होते हैं, वे सभी दुःखों को सहते है, ऐसा तू देख। यह आत्म कल्याण प्रत्यक्ष में संसार सागर को तरने का उपाय हैं। उसको छोड़कर हे तपोधन ! तू शुद्धात्मा की भावना कर। शत्रु जो मिथ्यात्व रागादि है, उनमे कभी गमन मत कर, केवल आत्मस्वरूप में मगन रह। जो कोई अज्ञानी विषय कषाय के वश होकर शिवसंगम में लीन नहीं रहते, उनको व्याकुलता रूपी दुःख भव वन में सताता है। संसारी जीव सभी व्याकुल हैं, सर्वत्र दुःख है, कोई सुखी नहीं है, एक शिवपद ही परम आनन्द का धाम है। जो अपने स्वभाव में निश्चयनय कर ठहरने वाला केवल ज्ञानादि अनन्तगुण सहित परमात्मा है उसी का नाम शिव है, ऐसा सर्वत्र जानना। अथवा निर्वाण का नाम शिव है, अन्य कोई शिव नाम का पदार्थ नहीं है, जैसा कि नैयायिक वैशेषिकों ने जगत् का कर्ता हर्ता कोई अन्य शिव माना है, ऐसा तू मत मान। तू अपने स्वरूप को अथवा केवल ज्ञानियों को अथवा मोक्षपद को शिव समझ। यही श्री वीतरागदेव की आज्ञा है।

काल जीव और संसार ये तीनों अनादि हैं उसमें अनादिकाल से भटकते हुए इस जीव ने मिथ्यात्व-रागादिक के वश होकर अपना शुद्धात्मस्वरूप न देखा, न जाना। यह संसारी जीव अनादिकाल से आत्म-ज्ञान की भावना से रहित रहा है। इस जीव ने स्वर्ग नरक राज्यादि सब पाये हैं, परन्तु ये दो वस्तुयें न मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन न पाया, दूसरे श्री जिनराजस्वामी न मिले। यह जीव अनादि से मिथ्यादृष्टि रहा है, और क्षुद्र देवों का उपासक है। श्री जिनराज भगवान की भक्ति इसके कभी नहीं हुई, अन्य देवों का उपासक हुआ पर सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। यहां कोई प्रश्न करे, कि अनादि का मिथ्यादृष्टि होने से सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ, यह तो ठीक है, परन्तु जिनराजस्वामी न पाये, ऐसा नहीं हो सकता ? क्योंकि "भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ" ऐसा शास्त्र का वचन है, अर्थात् भव भव में इस जीव ने जिनवर पूजे और गुरू बंदे। परन्तु तुम कहते हो, कि इस जीव ने भव-वन में भ्रमण करते हुए जिनराजस्वामी नहीं पाये ? उसका समाधान-भाव भक्ति इसकी कभी न हुई, भाव भक्ति तो सम्यग्दृष्टि को ही होती है

और लौकिक-भक्ति संसार के प्रयोजन के लिये हुई, वह गिनती में नहीं। ऊपर की सब बातें निःसार हैं, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव भक्ति मिथ्यादृष्टि को नहीं होती। ज्ञानी जीव ही जिनराज के दास हैं सो सम्यक्त्व विना भाव-भक्ति के अभाव से जिनस्वामी नहीं पाये, इसमें संदेह नहीं है। जो जिनवरस्वामी को पाते, तो उन्हीं के समान होते। लोक दिखावारूप भक्ति हुई, तो किम काम की यह जानना। अब श्री जिनदेव का और सम्यग्दर्शन का स्वरूप सुनो। जो अनंत ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित हैं, वे जिनस्वामी हैं, वे ही परम आराधने योग्य हैं, तथा शुद्धात्मज्ञानरूप निश्चय-सम्यक्त्व अथवा वीतराग सर्वज्ञ देव के उपदेश हुए षट् द्रव्य, सात तत्व, नौ पदार्थ, और पांच अस्तिकाय उनका श्रद्धानरूप सराग सम्यक्त्व यह निश्चय व्यवहार दो प्रकार का सम्यक्त्व है निश्चय का नाम वीतराग है, व्यवहार का नाम सराग है। "शियसंगमु सम्मत्तु" इसका अर्थ यह भी है, कि शिव जो जिनेन्द्रदेव है उनका संगम अर्थात् भाव-सेवन इस जीव को नहीं हुआ, और सम्यक्त्व नही उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्व होता तो परमात्मा का भी परिचय होता। तू परिवार गृहादि पर वस्तुओं का चिंतन करता हुआ कर्म कलक रहित केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित मोक्ष को नहीं पावेगा, और मोक्ष का मार्ग जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रय है उसको भी नहीं पावेगा। इन गृहादि के चिंतवन से भव वन में भ्रमण करेगा। इसलिये इनका चिंतवन तो मत कर, लेकिन वारह प्रकार के तप का चिंतवन कर। इसी से मोक्ष पायेगा। वह मोक्ष तीर्थङ्कर परमदेवाधिदेव महापुरुषों के आश्रित है, इसलिये सबसे उत्कृष्ट है। मोक्ष के समान अन्य पदार्थ नहीं। यहां परद्रव्य की इच्छा को त्याग वीतराग, परम आनन्दरूप जो परमात्मस्वरूप है उसके ध्यान में ठहरकर, घर परिवारादिक का ममत्व छोड़, एक केवल निजस्वरूप की भावना करना यही तात्पर्य है। आत्म भावना के सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है।

आचार्य आगे श्लोक में वतलाते हैं कि अनन्त भव को प्राप्त कर करके पंचेन्द्रिय विपय रूपी शत्रु के आधीन होकर अनन्त काल तक विषय सुख में मग्न होकर कभी पुण्य और कभी पाप इसी चक्कर में भ्रमण करता रहा। अब तू चेत और अपने स्वरूप की तरफ झुक ऐसी सूचना देते हैं। कहा भी है कि—

पत्तिर्दनतं भवमुम नित्तं दुं विषयवैरिगलिगेयुदिदैयं।
मत्तं परत्रयादिनि मित्तं निनगोंदु भवमनीयलुमारी ॥८५॥

अर्थ—हे जीव ! तूने अनन्त भव प्राप्त कर पंचेन्द्रिय विषय रूपी शत्रु के लिए, ही अपना जीवन विता दिया और स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने के लिए

एक भव भी दान नहीं दे सकता है ? हे मनुष्य ! इस भव को स्वर्ग और मोक्ष के लिए दान कर, जिससे तेरी जिन्दगी सुधर जाय ॥८५॥

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि इस जीव ने अनादि काल से अनेक भव प्राप्त करके इस इन्द्रिय विषय को भोगते हुए अभी तृप्ति नहीं प्राप्त की। क्योंकि बाह्यात्मा बनकर उसी को अपनी आत्मा समझता है। रात दिन उसी की चिन्ता में, उसी के स्वरूप में चिंतित होकर पुनः उसी पर्याय में परिरमण करता रहता है। जब तक पर द्रव्य में ममता रहेगी तब तक शान्ति नहीं मिल सकती। ग्रन्थकार यह कहते हैं कि हे मन्दभागी, अज्ञानी ! अनादि काल से इतने भव धारण किये और उन्हें इन्द्रिय विषय में खर्च कर दिया। एक भव भी पर भव के लिए खर्च करना नहीं चाहता है। इसलिए सोच, ऐसे उत्कृष्ट मनुष्य भव को पाकर आत्म कल्याण करने के लिए दान के रूप में इसका त्याग करेग। तब तू इस पर्याय में आत्म सुख की प्राप्ति करने का साधन कर लेगा। इसलिए आचार्य कहते हैं कि अब तू चेत, जो बहिरंग स्त्री पुत्र आदि है ये अपने शरीर सम्बन्धी हैं अर्थात् पुद्गल सम्बन्धी हैं। पूर्व जन्म में जो पाप और पुण्य किया है उसी के अनुसार इन्होंने भी आकर तुझ से शरीर का सम्बन्ध किया है। जब तेरा पुण्य खतम हो जायेगा तब उसमें से एक भी तेरे साथ नहीं होगा। स्त्री, पुत्र, आदि तभी तक तेरा साथ देंगे जब तक तेरे शरीर में शक्ति है, पैसा कमाने की शक्ति है। जब अशुभ कर्म का उदय होगा, तेरी तरफ तिरछी दृष्टि से देखेंगे, और उस समय अपमान करेंगे। यह भी पाप और पुण्य का फल है। जब आपत्ति आती है कोई भी साथ नहीं देता। ऐसा समझ कर चेत और अपने सच्चे आत्म स्वरूप की तरफ मुख कर। और समय जितना अवशेष है आत्म साधन में मन लगा करके उसका साधन कर। क्योंकि इस जीव के द्वारा कर्मों का फल सुख और दुःख जो पांच इन्द्रियों का विषय रूप है उसे निश्चय नय से स्पर्शन आदि इन्द्रियों के निमित्त से भोगा जाता है। ये द्रव्यकर्म मूर्तिक हैं और मूर्तिक के निमित्त से आत्मा में रागद्वेष होते हैं इनसे अनेक प्रकार के दुःख का अनुभव कर रहा है। कहा भी है कि—

जम्हा कम्मस्सफलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥

जो जीव विषयों से रहित परमात्मा की भावना से पैदा होने वाले सुखमय अमृत के स्वाद से गिरा हुआ है, वह जीव उदय में आकर प्राप्त हुए कर्मों का फल भोगता है। वह कर्मफल मूर्तिक पंच इंद्रियों के विषय रूप तथा हर्ष विषाद रूप तथा सुखदुःखमय है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से अमूर्तिक हैं तथापि अशुद्ध निश्चय

नय से परमार्थ रूप व अमूर्तिक परम आल्हादमय लक्षणधारी निश्चय सुख के विपरीत होने के कारण यह विषयों का सुख दुःख हर्ष विषाद रूप मूर्तिक है क्योंकि निश्चय पूर्वक स्पर्शनादि पांच इंद्रियों से रहित अमूर्तिक शुद्ध आत्म तत्त्व से विपरीत जो स्पर्शनादि मूर्तिक इन्द्रियाँ हैं उनके द्वारा ही भोगा जाता है। अतएव कर्म जिनका ये सुख दुःख कार्य हैं वे भी मूर्तिक हैं क्योंकि कारण के सदृश ही कार्य होता है। मूर्तिक कार्यरूप अनुमान से उनका कारण भी मूर्तिक जाना जाता है। पांचों इंद्रियों के स्पर्शादि विषय मूर्तिक हैं। तथा वे मूर्तिक इंद्रियों से भोगे जाते हैं। उनसे सुख दुःख होता है वह भी स्वयं मूर्तिक है। इस तरह कर्म को मूर्तिक सिद्ध किया गया, यह सूत्र का अर्थ है। इसलिये मूर्तिक पदार्थ को त्याग करके अमूर्तिक अपने सिद्धात्मा के प्रति झुक जाने का उपदेश दिया है। इसलिये यह जीव इसके विपरीत वाह्य इंद्रिय विषय से इस संसार में भ्रमण कर रहा है।

द्रव्य काल क्षेत्र भव और भाव ऐसे पांच प्रकार के संसार हैं। इस पांच प्रकार के संसार में तू अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। विषयभोग में अज्ञानी जीव के संसार में किस प्रकार सम्बन्ध जुड़ते हैं यह १८ नाते की प्रसिद्ध कथा से सरलता से समझ में आ सकता है। इसके प्रमुख पात्र धनदेव और पात्री बसन्ततिलका वेश्या तथा उसकी पुत्री कमला के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर उक्त बातें कही गई हैं। कथा इस प्रकार है .....मालव देश की उज्जैनी नगरी में राजा विश्वसेन, सेठ सुदत्त और वसन्ततिलका वेश्या रहती थी। सेठ सुदत्त सोलह करोड़ द्रव्य का स्वामी था। उसने वसन्ततिलका वेश्या को अपने घर में रख लिया। वह गर्भवती हुई और खाज, खांसी, श्वास आदि रोगों ने उसे घेर लिया। तव सेठ ने उसे अपने घर से निकाल दिया। अपने घर में आकर वसन्ततिलका ने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। खिन्न होकर उसने रत्न कम्वल में लपेट कर कमला नाम की पुत्री को तो दक्षिण ओर की गली में डाल दिया। उसे प्रयाग का व्यापारी सुकेत ले गया और उसने अपनी सुपुत्रा नाम की पत्नी को सौंप दिया। तथा धनदेव पुत्र को उसी तरह रत्न कम्वल में लपेट कर उत्तर ओर की गली में रख दिया। उसे अयोध्यावासी सुभद्र ले गया और उसने उसे अपनी सुव्रता नाम की पत्नी को सौंप दिया। पूर्व जन्म में उपार्जित पाप कर्म के उदय से धनदेव और कमला का आपस में विवाह हो गया। एक वार धनदेव व्यापार के लिये उज्जैनी गया, वहां वसन्ततिलका वेश्या से उसका सम्वन्ध हो गया। दोनों के सम्वन्ध से वरुण नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। एक वार कमला ने श्रीमुनिदत्त से अपने पूर्वभव पूछे। श्रीमुनिदत्त ने सव सम्बन्ध वतलाये, जो इस प्रकार हैं। उज्जैनी में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम काश्यपी था। उन दोनों के अग्निभूति और सोमभूति

नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों परदेश से विद्याध्ययन करके लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने जिनमती आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुएं देखा तथा सुभद्रा आर्यिका को अपने श्वसुर जिनभद्र मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा इस पर दोनों भाईयों ने उपहास किया कि जवान की स्त्री बूढ़ी और बूढ़े की स्त्री जवान, विधाता ने अच्छा उलट फेर किया है। कुछ समय पश्चात् अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उज्जैनी में ही वसन्तसेन की पुत्री वसन्ततिलका हुई और अग्निभूति तथा सोमभूति दोनों मरकर उसके धनदेव और कमला नाम के पुत्र और पुत्री हुई। ब्राह्मण की पत्नी व्यभिचारिणी काश्यपी मरकर धनदेव के सम्बन्ध से वसन्ततिलका के घर वरुण नाम का पुत्र हुआ। इस कथा को सुनकर कमला को जातिस्मरण हो आया। और उसने मुनिराज से अणुव्रत ग्रहण किये और उज्जैनी जाकर वसन्ततिलका के घर घुसकर पालने में पड़े हुए वरुण को झुलाने लगी और उससे कहने लगी—

१—मेरे पति के पुत्र होने से तुम मेरे पुत्र हो।
२—मेरे भाई धनदेव के पुत्र होने से तुम मेरे भतीजे हो।
३—तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अतः तुम मेरे भाई हो।
४—धनदेव के छोटे भाई होने से तुम मेरे देवर हो।
५—धनदेव मेरी माता वसन्ततिलका का पति है, इसलिये धनदेव मेरा पिता है। उसके भाई होने से तुम मेरे काका हो।
६—मैं वेश्या वसन्ततिलका की सौत हूं। अतः धनदेव मेरा पुत्र है तुम उसके भी पुत्र हो, अतः तुम मेरे पौत्र हो।
ये छः नाते बच्चे के साथ हुए।

आगे—

१—वसन्ततिलका का पति होने से धनदेव मेरा पिता है।
२—तुम मेरे काका हो और धनदेव तुम्हारा भी पिता है, अतः वह मेरा दादा है।
३—तथा वह मेरा पति भी है।
४—उसकी और मेरी माता एक ही है, अतः धनदेव मेरा भाई है।
५—मैं वेश्या वसन्ततिलका की सौत हूं और उस वेश्या का वह पुत्र है, अतः वह मेरा भी पुत्र है।
६—वेश्या मेरी सास है, मैं उसकी पुत्रवधू हूं और धनदेव वेश्या का पति है, अतः वह मेरा श्वशुर है।
ये छः नाते धनदेव के साथ हुए

आगे—

१—मेरे भाई धनदेव की पत्नी होने से वेश्या मेरी भावज है।
२—तेरे मेरे दोनों के धनदेव पिता हैं और वेश्या उनकी माता है, अतः वह मेरी दादी है।
३—धनदेव की और तेरी भी माता होने से वह मेरी भी माता है।
४—मेरे पति धनदेव की माता होने से वह मेरी सौत है।
५—धनदेव मेरी सौत का पुत्र होने से मेरा भी पुत्र कहलाया। उसकी पत्नी होने से वह वेश्या मेरी पुत्रवधू है।
६—मैं धनदेव की स्त्री हूं और वह उसकी माता है, अतः मेरी सास है।

इन अठारह नातों को सुनकर वेश्या, धनदेव आदि को भी सब बातें ज्ञात हो जाने से जातिस्मरण हो आया। सभी ने जिन दीक्षा लेली और मरकर स्वर्ग चले गये। इस प्रकार एक ही भव में १८ नाते तक हो जाते हैं, तो दूसरे भव की तो कथा ही क्या है।

इस प्रकार संसार पांच प्रकार का है—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार। परिग्रह का नाम संसार है। द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव से यह पांच प्रकार का होता है। पहले द्रव्य परिवर्तन या द्रव्य संसार का स्वरूप कहते हैं। यह जीव मिथ्यात्व और कषाय से युक्त कर्म पुद्गल को ग्रहण करता है और छोड़ता है। कर्म वन्ध के पांच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान है। क्योंकि मोहनीय कर्म के ये भेद हैं। सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान और वलवान कर्म है। इसके अभाव में शेष सब कर्म निर्वल हो जाते हैं, और संसार परिभ्रमण का चक्र ही रुक जाता है। मिथ्यात्व के पांच भेद है। कषाय के २५ भेद हैं। इन मिथ्यात्व और कषाय के आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरणादि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्ध को प्रति समय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कर्म वर्गणायें भरी हुई हैं। उनमें से अपने योग्य कर्म वर्गणा ही ग्रहण करता है। आयु कर्म सर्वदा नहीं वंधता है। यह जीव सात कर्मों के योग्य पुद्गलों को प्रति समय ग्रहण करता है। और काल पूर्ण होने पर उन्हें भोग कर छोड़ देता है। इसी प्रकार ६ पर्याप्तियों के योग्य नो कर्म पुद्गलों को ही प्रति समय ग्रहण करता है और छोड़ता है इस प्रकार यह जीव कर्म पुद्गल और नो कर्म पुद्गल को ग्रहण करता है और छोड़ता है। किसी भी समय में एक जीव ने ज्ञानावरणादि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्ध ग्रहण के अभाव काल वीत जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ दिया। इसके वाद अनन्त वार अग्रहीत को ग्रहण करके, अनन्त वार मिश्र का ग्रहण करके और

अनन्त वार गृहीत को ग्रहण करके छोड़ दिया। इसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप रस गन्ध स्पर्श आदि भाव को लेकर उसी जीव के वैसे ही कर्मरूप परिणत होते है उसे कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इसी तरह किसी विकसित समय में एक जीव ने तीन शरीरों की ६ पर्याप्तियों के योग्य नो कर्म पुद्गल ग्रहण किये और भोग कर छोड़ दिये। तब ये ही नो कर्म पुद्गल उसी रस आदि को लेकर उसी जीव के द्वारा पुनः ग्रहण किये जाते हैं उसे नो कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। कर्म द्रव्य परिवर्तन और नो कर्म द्रव्य परिवर्तन को द्रव्य संसार कहते हैं। इस प्रकार इस जीव ने पुद्गल परिवर्तन रूप सभी पुद्गलों को अनन्त वार ग्रहण किया और छोड़ा। जो पुद्गल पहले ग्रहण किया और छोड़ा उन्हें ग्रहीत कहते हैं। दोनों के मिलाप को मिश्र कहते हैं। समस्त लोकाकाश का ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जहाँ सभी जीव अनेक वार जिये और मरे न हों। यह लोक जगत श्रेणी रूप है सात राजू की जगत श्रेणी होती है। इसका घन ३४३ राजू होता है। इन ३४३ राजुओं में सभी जीव अनेक वार जन्म ले चुके और मर चुके हैं। ये ही क्षेत्र परिवर्तन है।

अब काल परिवर्तन के बारे में कहते हैं—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी से लेकर वह जीव जन्म लेता है और मरता है। इसको काल परिवर्तन कहते हैं।

अब भव परिवर्तन के बारे में कहते हैं—संसारी जीव नरक आदि गतियों में सब स्थितियों में ग्रैवेयक तक जन्म लेता है। इसको भव परिवर्तन कहते हैं।

अब भाव परिवर्तन के बारे में कहते हैं कि सैनी जीव जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध के कारण अनेक प्रकार की कषायों से तथा श्रेणी के असंख्य भाव-परिणाम योग्य परिणामों से संसार में परिभ्रमण करता है। जिस भव में जन्म मरण किया था उसी मे पुनः जन्म लेता है। उसे भाव परिवर्तन कहते हैं।

इस प्रकार पांच संसार का संक्षेप मे वर्णन किया है।

हे जीव! अगर तू पांच प्रकार के इस संसार से मुक्त होना चाहता है तो सम्पूर्ण पर द्रव्य से मुख मोड़ कर निज शुद्धात्मा का मनन कर क्योंकि यह आत्मा उन सम्पूर्ण पर द्रव्यों से भिन्न है। जड़ रहित है, निर्विकार है, नित्य है, अखण्ड है, अविनाशी है, अनन्त सुख का भण्डार है, शुद्ध परमात्मा है, परम निरंजन है, वही मोक्ष सुख का धाम है। इसको छोड़ करके संसार में सारे जड़ पदार्थ क्षणिक हैं और हमेशा इस आत्मा को परिवर्तनशील संसार में भ्रमण कराने वाले हैं। ऐसा जानकर अपने निज स्वरूप में प्रवेश करना ही सुख का लक्षण है। जैसे परमार्थ प्रकाश में प्रभाकर भट्ट को समझाते हुए कहा है, कि—'हे भव्य जीव! पर द्रव्य

को छोड़कर जिसने अपना स्वरूप केवल ज्ञान पा लिया है वही परमात्मा है और वह अपने अन्दर है। इसी का ध्यान करो।

जिसने देहादिक समस्त परद्रव्य को छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिक भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनों से रहित केवलज्ञानमयी अपनी आत्मा का लाभ कर लिया है, ऐसे आत्मा को हे प्रभाकर भट्ट, तू माया, मिथ्या, निदान रूप शल्य वगैरह समस्त विभाव (विकार) परिणामों से रहित निर्मल चित्त से परमात्मा जान, तथा केवलज्ञानादि गुणों वाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादि रूप सब परवस्तु त्यागने योग्य हैं, ऐसा समझना चाहिए।

सारांश यह है कि केवलज्ञानादि रूप उस परमात्मा के समान रागादि रहित अपने शुद्धात्मा को पहचान, वही साक्षात् उपादेय है, अन्य सब संकल्प विकल्प त्यागने योग्य हैं। अब संकल्प विकल्प का स्वरूप कहते हैं, कि जो बाह्य-वस्तु पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब बांधव, वगैरह सचेतन पदार्थ तथा चाँदी, सोना, रत्न मणि के आभूषण वगैरह अचेतन पदार्थ हैं, इन सबको अपना समझे, कि ये मेरे हैं, ऐसे ममत्व परिणाम को संकल्प जानना तथा मैं सुखी, मैं दुःखी, इत्यादि हर्ष विषाद रूप परिणाम होना वह विकल्प है। इस प्रकार संकल्प और विकल्प का स्वरूप जानना चाहिए।

पंचेन्द्रिय विषय से दुःखी होकर भी यह जीव उस दुःख को न छोड़ते हुए पुनः पुनः उसी को अनुभव करता है ऐसा कहते है—

एन्नेदु इंद्रियंगळ वेन्व बेसकेय्ये नमेदे निन्नेगमवनि।
नेन्न वशमागि माडुवे नैन्नदद कय्यु दुःखमं मेच्चिदेयं ॥८६॥

अर्थ—हे जीव! मेरे पांच इन्द्रिय के विषय जब मुझे ही भंज रहे थे तब मैंने बहुत कष्ट पाया। अब मैं उनके आधीन नहीं होऊँगा। इस तरह तू विचार न करके जान बूझकर उन्हीं इन्द्रियों को पुनः सेवन करके दुःख उठा रहा है। तू पुनः उसी में रागी क्यों होता है॥८६॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में इस प्रकार विवेचन किया है कि जीव ने उस विषय भोग को नहीं भोगा परन्तु विषय भोग जीव को भोग रहा है। अनादि काल से जिसको मैं खा रहा हूँ, पी रहा हूँ और मैं अनुभव कर रहा हूँ, इस प्रकार ऐसी मान्यता वस्तुतः अज्ञान के कारण ही है परन्तु हे प्राणी! विचार

कर कि पंचेन्द्रिय विषय को तू नहीं भोग रहा है परन्तु पंचेन्द्रिय विषय तुझको भोग रहा है। कहा भी है कि—

भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृणा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

हमने भोग नहीं भोगे बल्कि भोगों ने हमको भोगा है। हमने तप नहीं तपे बल्कि हमीं तपे हैं, काल नहीं बीता बल्कि हम ही समाप्त हुए हैं, और तृष्णा वृद्ध नहीं हुई बल्कि हम ही जर्जरित हो गये हैं।

अज्ञान से आत्मा अपने स्व स्वरूप से च्युत होने के कारण पर में मग्न होकर पर द्रव्य से उत्पन्न होने वाले जो रस हैं, उनके वशीभूत होकर कहता है कि मैंने स्वाद ले लिया, मैंने खा लिया, मैंने अनुभव कर लिया। इस तरह से यह जीव अज्ञान से अनादि काल से जड़ पंचेन्द्रिय विषयों का स्वादी बना हुआ है। परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव! आज तक तेरी समझ में नहीं आया कि तेरा स्वरूप ज्ञान दर्शन चैतन्य अखण्ड अविनाशी और अमूर्तिक है और जो रूपी पदार्थ मेरे सामने दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे जड़ हैं। परन्तु इसका और मेरा, रूपी और अरूपी का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। मेरा स्वरूप भिन्न है और जड़ का स्वरूप भिन्न है। दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इस प्रकार तूने विचार कर नहीं देखा। अज्ञान से पर वस्तु में परिरमण भाव करता है। जब परद्रव्य की मर्यादा पूर्ण हो जाती है तब उसको अपनी मर्यादा पूर्ण समझता है। तेरा रूप हमेशा ब्रह्म स्वरूप है, तू अपने में उत्पन्न हुए अनन्त ज्ञान रूपी रस को ग्रहण करने वाला है और अपने अन्तर के सुख रूप अन्न को खाकर सुखी होने वाला है। जो पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न होने वाला है उससे पुद्गल की पुष्टि हो सकती है परन्तु आत्मा की पुष्टि कभी नहीं हो सकती। इस प्रकार विचार करके बाह्य राग परिणति को मिटाने की कोशिश कर। पर द्रव्य, पर भाव, पर क्षेत्र, पर काल आदि पर चतुष्टय को दूर करके अपने अन्दर अनादि काल से स्वभाव, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वद्रव्य इस तरह से जो यह स्व चतुष्टय है यही आत्मा का स्वरूप है। तू अपने अन्दर देखेगा तो तू पंचेन्द्रिय विषय को भोगने वाला नहीं है। अपने अतीन्द्रिय विषय का स्वादी आपही है। पंचेन्द्रिय विषय का सेवन करने वाला मैं नहीं हूं इस तरह से भावना करके रागपरिणति को दूर करना ही बुद्धिमत्ता है।

भेदभाव मिटने के बाद ज्ञानी किसी भी पर द्रव्य को अपना नहीं मानता है। जब तक भेद नहीं मिटता है तब तक अज्ञानी जीव भेदभाव को लेकर पर

द्रव्य रूप में परिरमण करता है। जब तक अज्ञान भाव रहता है, तब तक अपने को पर का कर्ता मान लेता है। जब, स्व पर का ज्ञान हो जाता है तो आप ही अपना कर्ता-धर्ता हो जाता है। कहा भी है कि—

चेया उ पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ॥
एवं बंधो उ दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए॥

यह आत्मा अनादि से लेकर अपने और बंध के पृथक्-पृथक् लक्षण का भेद ज्ञान न होने से पर और आत्मा के एकपने का निश्चित अभिप्राय करने से पर द्रव्य का कर्ता हुआ ज्ञानावरण आदि कर्म की प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है। और प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है, आत्मा के परिणाम के अनुसार परिणमती है। इस तरह आत्मा और प्रकृति इन दोनों के परमार्थ से कर्ता कर्मपने के भाव के अभाव होने पर भी परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव से दोनों के ही बन्ध देखा जाता है उस बन्ध से संसार होता है, उसी से दोनों के कर्ता कर्म का व्यवहार प्रवर्तता है।

आत्मा और प्रकृति के परमार्थ से कर्ता कर्म पने का अभाव है तो भी परस्पर निमित्त नैमित्तिकभाव से कर्ता कर्म का भाव है, इससे बन्ध है, बन्ध से संसार है। ऐसा व्यवहार है।

इस प्रकार हे योगी! अपने मन में इस तरह से विचार करके पर पदार्थ में ममत्व भाव से रहित होकर आप अपने अन्दर स्वभाव पर विचार कर तो शीघ्र ही शुद्ध निजात्म रस का स्वादी होकर शुद्ध परमात्म स्वरूप निरंजन आत्मा हो जायगा। इससे तुझे सुख और शान्ति मिलेगी। पर द्रव्य के मोह से या पंचेन्द्रिय के विषय से तुझे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी। यही सद्गुरु का उपदेश है।

यह जीव तीन प्रकार के भावों में परिरमण करता है। ऐसा कहते है......

अशुभदिन शुभं शुभदिंदे शुभनें तां शुद्धदिंदे शुद्धने यक्कुं।
निशितमति बगेवोडदरिं विशुद्धशुद्धोपयोग मतंदु सारं॥८७॥

अर्थ—यह जीव अशुभ भावनाओं से अशुभ, शुभ भावना से शुभ और शुद्ध भावनाओं से शुद्ध होता है अर्थात् जैसे भाव करता है वैसा होता है। तीक्ष्ण

बुद्धि वाला जीव ही अगर ठीक विचार करे तो अपने अन्दर सारे विचार करके अशुभ और शुभ दोनों भावों से रहित होकर अपने अन्दर ही रत हो परिशुद्ध बन शुद्ध निरंजन परमात्मा बन सकता है ये ही इसका सार है।

जीव के अन्दर अशुभ, शुभ और शुद्ध ऐसे तीन परिणाम होते हैं। इन तोन भावनाओं में से हमेशा इस जीव के अन्दर प्रति समय कोई न कोई परिणाम रहता ही है। अशुभ योग से पाप का वन्ध होता है और शुभ योग से पुण्य वन्ध होता है। शुद्धोपयोग से पाप पुण्य दोनौं नष्ट होकर अन्त में मोक्ष प्राप्ति होती है। इसलिये इन तीनों योगो में से अन्त के शुद्धोपयोग का ही ध्यान करना ज्ञानी योगी को उचित है ऐसा ग्रन्थकार कहते हैं ॥८७॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस लोक में जीव के तीन प्रकार के परिणाम कहे हैं- शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीनों परिणामों में से जीव के अन्दर हमेशा कोई न कोई परिणाम रहता ही है। अशुभ भावना से अशुभ परिणामों का वंध होता है। शुभ परिणाम से शुभ भावना का बंध होता है। और शुद्ध योग से शुद्ध भाव होता है। ग्रंथकार ने सबसे पहले अशुभ योग को त्याग करने के लिये उपदेश किया है। अशुभ परिणाम के द्वारा ही लक्ष चौरासी योनियों में इस जीव को परिभ्रमण करना पड़ता है कभी नारकी कभी पशुगति, कभी मनुष्यगति, कभी शुभ भावना से देवगति आदि पर्याय में जन्म लेता है। जब यह जीव शुभ और अशुभ दोनों को त्याग देता है तव शुद्धोपयोग को प्राप्त होकर ध्यानरुपी अग्नि के द्वारा संपूर्ण कर्मो का नाश कर मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

ग्रंथकार कहते हैं कि इस संसारी अज्ञानी प्राणी को नरक निगोद या दुर्गति का बंध कराने वाले अशुभ भाव हैं। उनको त्याग करने का उपदेश दिया गया है। परमात्म प्रकाश में योगीन्द्राचार्य ने भी कहा है कि—

सुहं-परिणामे धम्मु पर असुहे होइ अधम्मु।
दोहिं वि एहि विवज्जियउं सुद्ध ण बंधइ कम्मु ॥ ७१ ॥

बढ़ाई, प्रतिष्ठा, परवस्तु का लाभ, और देखे सुने भोगे हुए भोगों की वांछारूप खोटे ध्यान, इनसे जबतक यह चित्त रंगा हुआ है, अर्थात् विषय कषायों से तन्मय है, तब तक हे जीव ! किसी देश में जा, तीर्थादिकों में भ्रमण कर अथवा चाहे जैसा आचरण कर, किसी प्रकार मोक्ष नहीं है। कहा है—जैसे स्फटिक- मणि शुद्ध उज्ज्वल है. उसके काला रंग लगावें, तो काला मालूम होता है, और पीला रंग लगावें तो पीला भासता है, और यदि कुछ भी न लगावें, तो शुद्ध

स्फटिक ही है। उसी तरह यह आत्मा क्रम से अशुभ, शुभ, शुद्ध इन परिणामों से परिणत होता है। उनमें से मिथ्यात्व और विषय कषायादि अशुभ के अवलम्बन से तो पाप को ही बांधता है। उसके फल से नरक निगोदादि के दुःखों को भोगता है। और अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्ठियों के गुणस्मरण और दानपूजादि इन शुभ क्रियाओं से संसार की स्थिति का छेदनेवाला जो तीर्थंङ्कर नामकर्म है उसको आदि ले विशिष्ट गुणरूप पुण्यप्रकृतियों को अवांछित वृत्ति से बांधता है। तथा केवल शुद्धात्मा के अवलम्बनरूप शुद्धोपयोग से उसी भव में केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्ष को पाता है। इन तीन प्रकार के उपयोगों में से सर्वथा उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है, अन्य नहीं है। और शुभ अशुभ इन दोनों में से अशुभ तो सब प्रकार से निषिद्ध है, नरक निगोद का कारण है, किसी तरह उपादेय नही है-हेय है, तथा शुभोपयोग प्रथम अवस्था में उपादेय है, और चरम अवस्था में उपादेय नहीं है, हेय है।

निश्चय से आत्म-ज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थो का ज्ञान है इससे प्रयोजन नहीं है।

जं णियथबोहइं वाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण।
दुक्खह कारणु जेण तर जीवहं होइ खणेण ॥ ७५ ॥

आगे निश्चयकर आत्मज्ञान से बहिर्मुख वाह्य पदार्थो का ज्ञान है, उससे प्रयोजन नही सधता, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर कहते हैं—जो आत्मज्ञान से वाहर शास्त्र वगैरह का ज्ञान भी है उस ज्ञान से कुछ कार्य नहीं क्योंकि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान रहित तप शीघ्र ही जीव को दुःख का कारण होता है। निदानवंध आदि तीन शल्यों को आदि ले समस्त विषयाभिलापरुप मनोरथों के विकल्पजालरूपी अग्नि की ज्वालाओं से रहित जो निज सम्यग्ज्ञान है, उससे रहित वाह्य पदार्थो का शास्त्र द्वारा ज्ञान है, उससे कुछ काम नहीं। कार्य तो एक आत्मा के जानने से है।

यहां शिष्य ने प्रश्न किया. कि निदानबंध रहित आत्मज्ञान तुमने बतलाया उसमें निदानवंध किसे कहते हैं ? उसका समाधान—देखे सुने और भोगे हुए इन्द्रियों के भोगों से जिसका चित्त रंग रहा है, ऐसा अज्ञानी जीव रूप-लावण्य सौभाग्य का अभिलाषी वासुदेव चक्रवर्ती पद के भोगों की वांछा करे, दान पूजा तपश्चरणादिकर भोगों की अभिलाषा करे, वह निदानवंध है। सो यह बड़ी शल्य है। इस शल्य से रहित जो आत्मज्ञान है उसके बिना शब्द शास्त्रादि का ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है। क्योंकि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान रहित तप भी दुःख का

कारण है। ज्ञान रहित तप से जो संसार की सम्पदायें मिलती हैं, वे क्षणभंगुर हैं। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि आत्मज्ञान से रहित जो शास्त्र का ज्ञान और तपश्चरणादि हैं, उनसे मुख्यताकर पुण्य का बंध होता है। उस पुण्य के प्रभाव से जगत की विभूति पाता है, वह क्षणभंगुर है। इसलिये अज्ञान तप और श्रुत यद्यपि पुण्य का कारण है तो भी मोक्ष का कारण नहीं है।

इसलिये शुद्धात्म विना कोई चीज आदर योग्य नहीं है। मिथ्यात्व रागादिक के छोड़ने से निज शुद्धात्म द्रव्य के यथार्थ ज्ञान में जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियों को शुद्ध वुद्ध परम स्वभाव परमात्मा को छोड़ के दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नही भासती। इसलिये उनका मन कभी विषयवासना में नहीं रमता। ये विषय कैसे हैं। जो कि शुद्धात्मा की प्राप्ति के शत्रु हैं। ऐसे ये भव-भ्रमण के कारण हैं, काम भोगरूप पांच इन्द्रियों के विषय उनमें मूढ़ जीवों का ही मन रमता है, सम्यग्दृष्टि का मन नहीं रमता। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि, जिन्होंने वीतराग सहजानंद अखंड सुख में तन्मय परमात्मतत्व को जान लिया है। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि जो विषय-वासना के अनुरागी हैं, वे अज्ञानी हैं और जो ज्ञानी जन हैं, वे विषयविकार से सदा विरक्त ही हैं।

दीखने वाला रूप ज्ञान नहीं है ऐसा कहते हैं।

रूपं ज्ञानमुमल्लवु रूपं वर्गवागकेनुमरियव वैडु ।
रूपमने नोडि मुलिवै रूपि नोळितेके रागमं नीमाळ्पं ॥८८॥

अर्थ—हे जीव ! रूप ज्ञान रूप नहीं है। रूप को जानते समय ये पांच प्रकार के—श्वेत, पीत, हरा, नीला, काला आदि रूप तुझको या तेरे स्वरूप को नहीं जानते हैं। फिर तू ऐसे रूप को देखकर उनसे क्यों द्वेष करता है। और रूप में इस तरह प्रेम क्यों करता है ? ॥ ८८ ॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह वताया है कि हे योगी ! पीला, नीला, हरा आदि रूप को देखकर क्यों रागद्वेष करता है ? क्योंकि यह रूप तुझको अर्थात् तेरे स्वरूप को नहीं जानता है, तेरे स्वरूप को नहीं जानने वाले रूप को अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चेतना रहित जड़रूप को देखकर उनसे द्वेष क्यों करता है ? और वह जड़ है, तेरा रूप अरूप है, और ज्ञान दर्शन चेतन स्वरूप है और रूपातीत है। ऐसा जानते हुए तुझे जड़ से द्वेष करना उचित नहीं है। कदाचित् तू धारण किये हुए शरीर के गोरे रूप को देखकर उससे प्रेम करता है। काले रूप को देखकर द्वेष करता है।

अरे अज्ञानी जीव ! तूने सुरूप और कुरूप के प्रति रागद्वेष करके अत्यन्त निद्यगति को प्राप्त होकर गधा, ऊंट, सुअर आदि अनेक पर्याय में जन्म लेकर अनेक प्रकार के दुःख पाये हैं। यह दुःख तुझे अपने अज्ञान के कारण ही उठाने पड़े। इन जड़ शरीरादि रूपी पदार्थ पर रागद्वेष करने से तुझे कौन सा फायदा हुआ ? इससे उल्टा दीर्घ संसार का चक्कर काटना पड़ रहा है । इसलिए जीव ! अब तू जड़ रूप का रागद्वेष, मोह छोड़कर अपने अरूपी सच्चिदानन्द अखड अविनाशी अनेक गुण के भंडार रूपातीत आत्मा के ऊपर प्रेम कर तभी शांति मिलेगी अन्यथा कहीं पर शांति नहीं मिलेगी। जितने भी कुरूप सुरूप शरीर या अन्य रूपी पदार्थ तुझे प्राप्त हुए हैं ये भी पूर्वजन्म में उपार्जन किये हुए पाप-पुण्य के द्वारा ही प्राप्त हुए हैं। परन्तु ये सभी पदार्थ पाप और पुण्य की मर्यादा को लेकर आये हैं। जिस समय यह मर्यादा पूर्ण होती है, उसी दिन तुझसे ये जुदा हो जाया करते हैं। अतः अब तू चेत और अपने शरीर रूपी घट के बीच पड़े हुए अरूपी आत्मानन्द का अनुभव कर।

जब तक बाह्य विषयों से उपरत न होगा, तुझे कभी सुख और शांति नहीं मिलेगी यह निश्चय समझ। निश्चय से चिन्ता रहित ध्यान ही मुक्ति का कारण है। जहाँ चिन्ता है, वहाँ मोक्ष नहीं। आगे कहा है कि—

अद्धम्मीलिय-लोयणिहि जोउ कि झंपिय एहि ।
एमुइ लब्भई परम-गइ णिच्चिंत्ति ठियएहि ॥

ख्याति पूजा और लाभ आदि समस्त चिन्ताओं से रहित जो निश्चित पुरुष हैं, वे ही शुद्धात्म स्वरूप में स्थिरता पाते हैं, उन्हीं को ध्यान की सिद्धि होती है, और वे ही परम गति के पात्र हैं।

पर पदार्थ की चिन्ता हमेशा ही संसार के लिए कारण है। इसलिए योगी निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव, परमार्थ चिन्तन में पर की चिन्ता को छोड़ेगा। तभी चिन्ता के अभाव से संसार भ्रमण छूटेगा। शुद्धात्म द्रव्य से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप, पाँच प्रकार से मुक्त होगा। जब तक चिन्ता है तब तक निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरों की तो क्या बात है, तीर्थङ्कर देव भी केवल ज्ञान अवस्था के पहले जब तक कुछ शुभाशुभ चिन्ता से सहित थे तब तक वे भी रागादिक रहित शुद्धोपयोग परिणामों को नहीं पा सके। संशय, विमोह, विभ्रम रहित अनन्त ज्ञानादि निर्मल गुण सहित हंस के समान उज्वल परमात्मा का शुद्ध भाव है। वह चिन्ता के बिना छोड़े नहीं होता। तीर्थङ्कर देव भी मुनि हो के निश्चित व्रत धारण करते हैं। तभी परमहंस दशा पाते हैं। ऐसा व्याख्यान जान

कर देखे, सुने, और भोगे हुए भोगों की वांछा आदि समस्त चिन्ताजाल को छोड़ कर परम सिद्धात्मा की भावना करने योग्य है। इसलिये हे योगी ! अगर तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति करना है तो मन को मार करके परब्रह्म का ध्यान करो। हे योगी ! तेरी क्या खोटी बुद्धि है जो तू संसार के कारण रूप व्यवहार करता है। अब तू मायाजाल रूप पाखडों से रहित जो सिद्धात्मा है, उसको जानकर विकल्प जालरूपी मन को मार।

आगे आत्मा को मलिन करने वाली चंचलता को छोड़ने का उपदेश देते हैं—

पोर्ददे चलमलिनतेयं पोर्ददे परवस्तु वनितुमं वशकरमं ।
पोर्ददे निजात्म भावदोळ्दिडे शुद्धोपयोग मेंबुदनरिया ।।८६।।

अर्थ—हे जीव ! अपने चंचल मन को पर वस्तु से हटा और पर वस्तु के आधीन न होकर अपने आत्म भाव में अर्थात् निजात्म चिन्तन में अगर स्थिर होगा तभी शुद्धोपयोग होगा इस प्रकार तू समझ।

विवेचन—आचार्य बतला रहे हैं कि यह मन पर वस्तु के आधीन होकर हमेशा आत्मा को मलिन करता है। ऐसी मलिन करने वाली पर वस्तु से हटकर अपने आत्म ध्यान में अर्थात् निज आत्म शुद्धोपयोग में अगर तू लवलीन होगा और उसी का ध्यान करेगा तो शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। पर वस्तु से बिल्कुल मन को हटाकर उसका ध्यान न करना उसका नाम भी शुद्धोपयोग है। जैसा तू ध्यान करेगा उसी प्रकार तुझे फल मिलेगा। और उसी प्रकार आत्मा परिणमन करेगा। जैसे कि स्फटिक मणि के पीछे लाल फूल या काला फूल जैसा रक्खा जाता है वैसी ही स्फटिक मणि दिखाई देती है। उसी प्रकार आत्मा का उपयोग जिधर लगाओगे, उसी रूप में आत्मा भी दिखाई देता है।

योगीन्द्र आचार्य ने कहा है कि—

जेण सरूवि झाइयइ अप्पा एहु अणंतु ।
तेण सरूवि परिणवइ जह फलिहउ मणि मंतु ।।

यह आत्मा शुभ, अशुभ, शुद्ध तीन उपयोग रूप परिणमता है। जो अशुभ योग का ध्यान करे तो पाप रूप परिणाम है। शुभ योग का ध्यान करे तो पुण्य रूप ध्यान है। जैसे स्फटिक मणि के नीचे जैसा रंग लगाओ अर्थात् हरा पीला, लाल, वह उसी रूप में स्फटिक मणि में प्रगट होता है। उसी तरह जीव द्रव्य

जिस रूप में परिरमण करता है उसी रूप समझता है। गारुडादि मंत्रों की सिद्धि से व्यक्ति गारुड़ बन जाता है जिससे सर्प डर जाता है। ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थों में आया है। जिस जिस तरह आत्मा परिरमण करती है उसी उसी रूप से आत्मा तन्मय हो जाती है। जैसे स्फटिक मणि उज्वल है। उसके नीचे जैसा रंग लगाओ, वैसा ही दिखाई देती है। ऐसा ही आत्मा का स्वरूप समझना चाहिए। समस्त रागादि विकल्प को छोड़ कर आत्मा के शुद्ध रूप को ध्यावे और विकारों पर दृष्टि न रक्खे, सम्पूर्ण चंचलता को छोड़ दे। जब तक पर वस्तु के प्रति चंचलता रहेगी तब तक आत्म ध्यान नहीं हो सकता है।

पर द्रव्य का प्रसंग महान दुःख मय है इसलिए हे योगी! उस चिन्ता से दूर हो। कहा भी है कि—

भल्लाहं वि णासंति गुण जहां संसग्ग खलेहिं ।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ तें पिट्टियइ घणेंहि ॥

विवेकी जीवों के शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि रागी, द्वेषी, अविवेकी जीवों की संगति मे नष्ट हो जाते हैं। अथवा आत्मा के निजगुण मिथ्यात्व, रागादि अशुद्ध भावों के सम्बन्ध से मलिन हो जाते हैं। जैसे अग्नि लोहे के संग से पीटी कूटी जाती है। यद्यपि आग को घन कूट नहीं सकता, परन्तु लोहे की संगति से अग्नि भी कूटने में आती है, उसी तरह दोषों के संग से गुण भी मलिन हो जाते हैं। यह कथन जानकर वह आकुलता रहित सुख के घातक देखे, सुने, अनुभव किये भोगों की वाँछा रूप निदानवन्ध आदि खोटे परिणाम रूपी दुष्टों की संगति नहीं करना अथवा दोपयुक्त रागी, द्वेपी, जीवों की संगति कभी नहीं करना।

आकुलता ही दुःख है इसका मूल मोह है। मोही जीवों को दुखी जानो। वह मोह परमात्म स्वरूप की भावना का प्रतिपक्षी, दर्शनमोह चारित्र मोहरूप है। इसलिए तू उसको छोड़। पुत्र, स्त्री, आदिक में मोह की बात से दूर रह, ये तो प्रत्यक्ष में त्यागने योग्य ही हैं, और विषय वासना के वश देह आदिक पर वस्तुओं का रागरूप मोह जाल है, वह भी सर्वथा त्यागना चाहिए। अन्तर वाह्य मोह को त्याग कर सम्यक् स्वभाव अंगीकार कर। शुद्धात्मा की भावना के लिए जो तपश्चरण है वह शरीर द्वारा होते हैं। शरीर स्थिति के लिए अन्न जलादिक लिए जाते हैं, उनमें विशेष राग न करना, राग रहित नीरस आहार ही लेना चाहिए।

आत्मा को नहीं भूलना ही शास्त्र है, वही तपश्चर्या है, वही दीक्षा है, निज शुद्धात्मा के मनन आदि में रुचि रखना भी इसी श्रेणी का नाम है—

मरेपिल्लदडुवे श्रुतं मरेपिल्लदडुवे मोक्षमार्गयदेनिकुं ।
मरेपिल्लदडुवे तपं मरेपिल्लदडुवे दीक्षेगोडुव निजगुरुवेनिकुं ।।६०।।

अर्थ—स्व पर ज्ञान से आत्मा को पहचान कर उसी के अन्दर रत रहना तथा रुचि रखना ही सच्चा शास्त्र है। भगवान वीतराग द्वारा कहा गया सात तत्वों का वार बार मनन करना मोक्ष का मार्ग है। उसी तत्व के अन्दर रमण करके सच्चे निजात्म तत्व में रमण करना ही तपश्चर्या है। पर वस्तु का सम्पर्क अपनी आत्मा से न होने देना हीं दीक्षा है और वही दीक्षा देने वाले गुरु है। अपने निज स्वरूप को अपने द्वारा समझ कर अपने अन्दर ही रमण करना और आपको आप ही जानना ये ही गुरु है। वस्तु में रहने वाले दोष को ढकने के लिए कोशिश करना और अपने स्वरूप को प्रकाशित करना ये ही उपगूहन अंग है। अपनी वस्तु अपने द्वारा प्रगट करने की शक्ति लगाना, पुरुषार्थ करना ही वस्तु स्वरूप का जानना है। इसको छोड़कर और कोई उपगूहन वात्सल्य स्थितिकरण आदि कोई दूसरा अंग नहीं है। ऐसा आचार्य ने कहा है।

कहने का तात्पर्य है कि शरीर और आत्मा का भेद ज्ञान ही लाभकारी है। बिना भेद ज्ञान हुए दीक्षा, शास्त्र स्वाध्याय, तप आदि आत्म कल्याण का कारण नहीं है। इसलिए मुख्यतः जीव को सबसे पहले स्व और पर ज्ञान की जरूरत है। कहा भी है कि—

संघस्तस्य न साधनं न गुरवो नो लोकपूजा परा।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणी पृष्ठैः कुतः संस्तरः ।।
कर्तात्मैव विबुध्यतायममलस्तस्यात्मतत्वस्थिरो ।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदां देहात्मनोः सर्वदा ।।

यहाँ आचार्य बतलाते हैं कि भेद विज्ञान से ही आत्म ध्यान की सिद्धि होती है। जो आत्मा को भली प्रकार समझ लेता है कि जैसे दूध और पानी का सम्वन्ध। दूध से पानी अलग है, वैसे ही आत्मा से पुद्गलमयी शरीरादि अलग हैं। जो पर को पर जानकर पर से ममत्व छोड़ देता है और निर्मल आत्मा को शुद्ध चैतन्यमयी सिद्ध भगवान के समान जानकर उसी आत्मिक तत्व में अपने उपयोग को स्थिर कर देता है वह आत्मा आत्मध्यान करके आत्मा की सिद्धि कर सकती है। जिस किसी के ऐसा आत्मध्यान तो हो नहीं और वह मुनियों के संघ में घूमा करे या आचार्यों की पाद पूजा व भक्ति किया करे व संसारी जीवों में अपनी विद्या का चमत्कार दिखाकर प्रतिष्ठा पाया करे व कभी तिनके का, कभी काष्ठ का, कभी

पाषाण का, कभी भूमितल का ही आसन बिछाकर निश्चल बैठा करे तो ये सब कार्य उसके आत्मध्यान के साधक नहीं हैं। इसलिए जो स्वहित करना चाहते हैं, उनको उचित है कि इन सब कारणों को मात्र बाहरी निमित्त कारण जाने। इनके सहारे भेद विज्ञान द्वारा जो सामायिक का अभ्यास करते हुए आत्मध्यान में लयता प्राप्त करते हैं वे ही सच्चे समाधि भाव को पाते है व उनका ही साधन मोक्ष का साधन है। बिना शुद्ध निश्चय नय का आलम्बन पाए पर से विराग नहीं होता है। पर से विराग विना स्वात्माराम में विश्राम नहीं होता। यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है तथापि उसको निर्मल जल के समान अपने शरीर में देखना चाहिए और जैसे गंगा नदी में गोता लगाया जाता है वैसे अपने आत्मा के जल सदृश निर्मल स्वभाव में अपने मन को डुवाना चाहिए। ॐ या सोऽहं मंत्र का आश्रय लेकर वार वार मन को आत्मारूपी नदी में डुवाने से मन का चंचलपना मिटता है और वीतरागता का भाव वढ़ता जाता है। आत्मध्यान ही परमोपकारी जहाज है। इसी पर चढ़ के भव्य जीव संसार से पार हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी को आत्मध्यान का ही अभ्यास करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अमूर्त आकाश के ऊपर चित्र का निर्माण करना असम्भव है उसी प्रकार अतीन्द्रिय आत्मा के विषय में कुछ वर्णन करना भी असम्भव ही है। वह तो केवल स्वानुभव के गोचर है। जो उस आत्मा में लीन है, वह तो दूर ही रहे। किन्तु जो उसका चिन्तन मात्र करता है उसका जीवन प्रशंसा के योग्य है, वह देवों के द्वारा भी पूजा जाता है। जो सर्वज्ञ देव ससार से पृथक् अर्थात् जीवन मुक्त होते हुए केवल ज्ञान रूप नेत्र को धारण करते हैं, उन्होंने इस आत्मा के आराधन का उपाय एक मात्र समताभाव बतलाया है। साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। जहाँ न कोई आकार है, न अकारादि अक्षर है, न कृष्ण नीलादि वर्ण है, और न कोई विकल्प ही है, किन्तु जहां केवल एक चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है उसी को साम्य कहा जाता है। वह समताभाव उत्कृष्ट तत्व माना गया है। वही समताभाव सब उपदेशों का उपदेश है जो मुक्ति का कारण है, अर्थात् समताभाव का उपदेश समस्त उपदेशों का सार है, क्योंकि उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। समताभाव सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है, वह शाश्वतिक (नित्य) सुख का स्थान है, वह समताभाव शुद्ध आत्मा का स्वरूप तथा मोक्ष रूपी अनुपम प्रासाद का द्वार है। पंडित जन समताभाव को समस्त शास्त्रों का सार वतलाते हैं। वह समताभाव कर्मरूपी महा बन को भस्म करने के लिए दावानल के समान है। जो समताभाव योगी जनों के योग का विषय होता हुआ वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के निमित्त से उत्पन्न हुए समस्त दोषों को नष्ट करने वाला है वह शरणभूत कहा जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है कि—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ॥
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥

ये प्राणी अनादि संसार से लेकर रागादिक को अच्छा जानकर उनको ही अपना स्वभाव मानकर उन्हीं में निश्चित हैं। उनको श्री गुरु दयालु होकर सम्बोधन करते हैं कि हे अन्धे प्राणियो! तुम जिस पद में सोते हो वह तुम्हारा पद नहीं है, तुम्हारा पद तो चैतन्य स्वरूपमय है, उसको प्राप्त होओ ऐसा सावधान करते हैं। जैसे कोई महन्त पुरुष मद पीकर मलिन जगह में सोता हो, उसको कोई आकर जगावे और कहे कि तेरी जगह तो सुवर्णमय धातु की अतिदृढ़ शुद्ध सुवर्ण से रची और वाह्य कजोड़े से रहित शुद्ध ऐसी है। सो हम बतलाते हैं, वहां आओ, वहाँ ही शयनादिक कर आनन्द प्राप्त करो। उसी तरह श्री गुरु ने उपदेश से सावधान किया है कि बाह्य अन्य द्रव्यों से मिलाप नहीं, और अन्तरंग विकार नहीं, ऐसे शुद्ध चैतन्य रूप अपने भाव का आश्रय करो। दो दो वार कहने से अति करुणा अनुराग सूचित होता है।

आगे कहते हैं कि तुम इसी प्रकार मुक्ति स्थान को प्राप्त करके अनन्त सुख को प्राप्त करो।

इंती निलवं पडेदात्यंतिक सुखपद मनेय्दु जिननाथंप्रो ।
ल्दंतिदु निन्न नों निश्चिंतं नोड्डुगु नीने जन्मअयमं ॥६१॥

अर्थ— हे जीव! तू इसी तरह इस स्थान को प्राप्त कर अनन्त सुख को प्राप्त कर। तब सुख का मार्ग अपने अन्दर मिलेगा। भगवान जिनेश्वर द्वारा कहा हुआ जो उपदेश है उस उपदेश के अनुसार निश्चित होकर अपने अन्दर ही देख। इस प्रकार देखने से इह लोक और पर लोक दोनों हीं नष्ट करके मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करेगा। जब तक तू पर वस्तु में रमण करेगा, तब तक तुझे मोक्ष मार्ग नहीं मिल सकता ॥६१॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने कहा है कि जो भगवान जिनेन्द्र देव द्वारा कहे हुए मार्ग के अनुसार आराधना करके तू अपने अन्दर ही देखेगा तो अपनी चीज तेरे

अन्दर ही मिलेगी। अन्य कहीं नहीं मिल सकती। जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी रहती है। वह कस्तूरी उसे दिखाई नहीं देती। उसकी खुशबू के लिये दौड़ धूप करता है। इसी तरह अखण्ड अविनाशी परम वीतराग निर्विकल्प आत्मानन्द सुखामृत अपने पास होते हुए भी यह जीव अपने आपको न समझ कर बाहर के पंचेन्द्रिय विषयों की और दौड़ धूप करता है और पर द्रव्य के द्वारा दुखी हो रहा है। और सुख को बाहर ढूँढ़ रहा है।

जैसे कोई जौहरी रत्नों की माला अपने गले में लटका करके भूल कर उसको अन्यत्र ढूंढ़ता है। कहीं पेटी, तिजोरी आदि में देखता है। परन्तु अपने गले में लटकने वाला वह रत्नों का हार अन्यत्र पेटी आदि में कहां मिलेगा अर्थात् कदापि नहीं मिल सकता। इसी तरह अनादि काल से तू अपना स्वरूप, अपना सुख अपने अन्दर होते हुए भी उसे बाहर पदार्थों में ढूँढ़ता फिर रहा है परन्तु वह सुख अपने अन्दर ही विद्यमान है। इसलिए भूली हुई वस्तु को बतलाने वाले श्री जिनेन्द्र देव के आगमरूपी दर्पण को जब तक न देखे, जब तक ठीक मनन न करे, तब तक वस्तु हमारे पास होते हुए भी नहीं मिलेगी। भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ मार्ग हमारे लिये दर्पण के समान है। उसी मार्ग के सहारे हम अपने लक्ष्य तक व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा पहुंच सकते हैं। इसलिए हमको भगवान जिनेन्द्र देव द्वारा कहे हुए सात तत्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, पांच पंचास्तिकाय ऐसे तत्वों का

मनन करके जीव तत्व को उपादेय और अजीव तत्व को उससे भिन्न मानकर अपने आत्मा में ही रत रहना तथा उसी का मनन करना वो ही अपना स्वरूप है। यह स्वरूप तेरे पास है। इसको साध्य करने के लिए पहले भगवान जिनेन्द्रदेव के व्यवहार तत्व को तू साधन, निमित्त बना। ऐसा किये विना निज तत्व की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

अज्ञानी जीव जब तक पंचेन्द्रिय विषयसम्वन्धी पर द्रव्य में रत रहता है, तब तक अनेक प्रकार के संशय आदि इसके मन में उत्पन्न होते रहते हैं। इस शरीर को अपना मानकर या इसके निमित्त से होने वाले सुख दुःख के प्रति इसके अन्दर भ्रम पैदा होता है। वह समझता है कि वाह्य पदार्थ ही मुझे दुःख देते हैं। परन्तु संसारी अज्ञानी प्राणी को यह पता नहीं कि ये पंचेन्द्रिय विषय जड़ हैं और मेरी आत्मा शुद्ध चैतन्य इससे भिन्न पदार्थ है और अरूपी है। अरूपी पदार्थ रूपी पदार्थ को कैसे पकड़ सकता है। इस तरह विचार न कर वह अज्ञानी मन में धारणा करता है कि जड़ ने मुझे पकड़कर रखा है। यही अज्ञान इस जीव को दुःख का कारण हो जाता है।

उदाहरणार्थ—जैसे एक वन्दर किसी के घर में प्रवेश करता है। चने के भरे हुए घड़े में हाथ डालता है। जव चना मुट्ठी में दवाता है और अपना हाथ

बन्नरकुंभमें मूठी वांधी सो छोडतानाही जाणताहे के कोई मोकुं पकडलीया·

वाहर निकालने की कोशिश करता है तव उसका हाथ नहीं निकलता है तो वन्दर यह समझता है कि मुझे घड़े ने पकड़ा है तव वह मुंह फाड़ कर चिल्लाने लगता

है। तब घर वाले डण्डे से पिटाई करते हैं तो वह चने छोड़ देता है और उसका हाथ निकल जाता है। परन्तु अज्ञानी बन्दर यही सोचता है कि घड़े ने मुझे पकड़ रक्खा है। इसी तरह इस अज्ञानी जीव ने संसार में पर पदार्थ को खुद ही पकड़ कर रखा हुआ है और समझता है कि मुझे पर पदार्थ ने पकड़ा हुआ है। इस तरह से जब तक अज्ञान भाव है तब तक सुख दुःख को यह जीव हमेशा सहता रहता है। इसलिए श्री गुरुदेव कहते हैं कि हे अज्ञानी प्राणी! संसार में जितने रूपी पदार्थ हैं वे सब चेतना रहित हैं और तू शुद्ध चैतन्य ज्ञान दर्शन से पूर्ण है और अरूपी है, जड़ पदार्थ को तूने खुद पकड़ा हुआ है और तू अपने को पागल के समान अज्ञान अवस्था में 'जड़ ने मुझको पकड़ा है छुड़ाओ २' आदि चिल्लाता है। और अनेक प्रकार के दुःख या संताप सहते हुए संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे जीव! तू अज्ञान से जड़ के साथ सम्बन्ध करके जड़ के द्वारा हीं दुःख पा रहा है, जैसे अग्नि लोहे की संगति से पीटी जाती है। उसी तरह हे आत्मन्! जड़ वस्तु के संसर्ग से तुझको दुःख भोगना पड़ता है। अर्थात् पंचेन्द्रिय विषय की मार बार २ खा करके दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए तू जड़ वस्तु पर राग और मोह को त्याग, तब तू सुखी हो जायेगा और असली निजात्म तत्व की प्रतीति तुझे होगी। तभी तू सुखी होगा।

कोई मूर्ख जीव जंगल में एक झाड़ को पकड़कर कहता है कि मुझे छुड़ाओ, मुझे झाड़ ने पकड़ा हुआ है। तब कोई ज्ञानी आकर कहता है कि झाड़ तो तेरे से भिन्न वस्तु है, वह तो अपने स्वरूप में है परन्तु झाड़ को तूने पकड़ा हुआ है तू अज्ञानवश कहता है कि झाड़ ने मुझे पकड़ा है। अगर तू विचार करके देख तो झाड़ तुझसे भिन्न है, अज्ञान से झाड़ को तूने पकड़ा है। इसलिए झाड़ को तू छोड़ दे, तू छूट जायगा। इसी तरह अज्ञानी जीव सांसारिक पंचेन्द्रिय सम्बन्धी पर वस्तु और पर भाव पर राग मोह करके उसको अपना मान करके पकड़े हुए है। इसलिए तू दुखी हो रहा है। अगर तू मन में विचार करके देखेगा तो तुझे किसी ने नहीं पकड़ा है, तूने ही पर वस्तु को पकड़ा है। इसलिए इस राग द्वेष को उत्पन्न करने वाली पर वस्तु को हटा कर अपने अन्दर रत हो जा और जैसे जिनेन्द्र भगवान ने निज पदार्थ, निज तत्व का या स्वरूप का जैसे वर्णन किया है उसका मनन कर। इससे तेरा सुख तेरे अन्दर मिल जायेगा और हमेशा के लिए शुद्ध परमात्म पद प्राप्त करके तुझे अखण्ड अविनाशी मोक्ष मिलेगा।

परिणाम ही सुख दुःख का कारण है—

परिणाममोदे दुःखद् बरविगं सौख्यदेळ्गेगं कारणमा।
परिणामदिंदे दुःखम् परिहरिसुव सौख्यमप्प पागि नेगळ्॥६२॥

अर्थ---मन की भावना को परिणाम कहते हैं। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इस कहावत के अनुसार ऐसे परिणाम ही दुःख और सुख को लाने में कारणभूत हैं। इस परिणाम से ही दुःख उत्पन्न होता है। इसलिए हे जीव ! इस जीव के दुःख के कारण तेरे दुष्कृत्य हैं, दुष्परिणाम हैं, अशुभ योग हैं। यदि अशुभ को नाश करने वाले और शुभ उत्पन्न करने वाले मार्ग के अनुसार तू आचरण करेगा तो दुःख नष्ट करके सुख को प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

विवेचन---ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि सुख और दुःख का कारण अपने परिणाम ही हैं। जैसा भाव होता है उसी प्रकार फल मिलता है। अशुभ भाव होगा तो अशुभ फल मिलता है। शुभ भाव होगा तो शुभ फल मिलेगा। इसलिए आचार्य बतला रहे हैं कि शुद्ध भाव के बिना संसार में मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि—

भुजंतु वि णिय-कम्म-फलु जो तहिं राउ ण जाइ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ ॥

जिन शुद्धात्मा के ज्ञान के अभाव से उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके फल को भोगता हुआ भी वीतराग-चिदानन्द परमस्वभावरूप शुद्धात्म तत्व की भावना से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख रूप अमृत से तृप्त हुआ जो रागी द्वेषी नहीं होता वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मों को नहीं बांधता है, और नये कर्मों के बंध का अभाव होने से प्राचीन कर्मों की निर्जरा होती है। यह संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का मूल है। ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया, कि हे प्रभो ! कर्म के फल को भोगता हुआ भी ज्ञान से नहीं बंधता, ऐसा सांख्य आदिक भी कहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ? उसका समाधान श्री गुरु करते हैं—हम तो आत्म ज्ञान संयुक्त ज्ञानी जीवों की अपेक्षा से कहते हैं। वे ज्ञान के प्रभाव से कर्म-फल भोगते हुए भी राग द्वेष भाव नहीं करते। इसलिए उनके नये बन्ध का अभाव है, और जो मिथ्यादृष्टि अज्ञान भाव से बाह्य पूर्वोपार्जित कर्म-फल को भोगते हुए रागी द्वेषी होते हैं, उनके अवश्य बन्ध होता है। इस तरह सांख्य नहीं कहता, वह वीतराग चारित्र से रहित कथन करता है। इसलिए उन सांख्यादिकों को दूषण दिया जाता है। इसलिए वीतराग चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये हमेशा मोक्षाभिलाषी जीव के शुद्धात्मा की भावना से कर्मरूपी मल दूर हो जाता है ऐसा समझकर हे योगी ! आत्मारूप पृथिवी के ऊपर कर्मरूपी बीज से आविर्भूत हुआ यह चित्तरूपी वृक्ष जिस संसाररूप फल को

उत्पन्न करता है उसे मोक्षाभिलाषी जीव को भेद ज्ञानरूप तीक्ष्ण तीव्र अग्नि के द्वारा जला देना चाहिये। यद्यपि कर्मरूपी कीचड़ मेरे निर्मल आत्मारूप जल को मलिन करता है तो भी निश्चित भेद को प्रगट करने वाले ज्ञानरूप निर्मली के होने पर मुझे उससे क्या भय है ? अर्थात् कुछ भय नहीं है। जिस प्रकार कीचड़ से मलिन किया गया पानी निर्मली के डाल देने पर स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न दुष्ट क्रोधादि विकारों के द्वारा मलिनता को प्राप्त हुई आत्मा स्व-पर-भेदज्ञान के द्वारा निश्चय से निर्मल हो जाती है। इसलिये विवेकी जीव को कर्मकृत मलिनता का कुछ भी भय नहीं रहता है।

तत्व श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति की योग्यता से युक्त जीवों को ही भव्य जीव कहते हैं। और वही मोक्ष के योग्य हैं। ऐसा कहते हैं।

भव्यळिगेहितं स्व द्रव्याराधनेये मोक्षयदरिपवकुं ॥
निर्व्याज्यं योगि पर द्रव्याराधने शुभाशुमंगळनीगुं ॥९३॥

अर्थ—तत्व श्रद्धानरूप ऐसे सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति की योग्यता से युक्त जीवों को ही भव्य जीव कहते हैं और जिसके अन्दर यह योग्यता नहीं है ऐसे जीवों को अभव्य कहते हैं। भव्यजीव के अन्दर ही मुक्ति की योग्यता है, अभव्यों में मुक्ति की योग्यता नहीं है। द्रव्य, पदार्थ और वस्तु ये तीनों नाम एकार्थवाची तथा वोध कराने वाले पर्याय शब्द हैं। भव्यजीवों के समुदाय को उस आत्म वस्तु की आराधना ही हितकारक होती है। उस आराधना से निर्बन्ध होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। परवस्तु शुभ और अशुभ ऐसी दो प्रकार की है। हे योगी ! शुभ पर वस्तु की आराधना शुभ पुण्य फल को उत्पन्न करती है। अशुभ वस्तु की आराधना अशुभ पापरूपी फल को उत्पन्न करने वाली होती है ॥ ९३ ॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि हे जीव ! तुझे अत्यन्त कठिनता से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है। भगवान जिनेन्द्र का कहा हुआ मार्ग ही तेरे लिए कल्याणकारी है। इसलिए उन्होंने जो व्यवहार निश्चय सम्यग्दर्शन का मार्ग बतलाया है वही मार्ग उपादेय है। ऐसा समझ कर तत्व पर श्रद्धान रख यही आत्म कल्याण का मार्ग है। शुद्धात्मा की भावना के शत्रु जो मिथ्यात्व रागादि हैं उनमें कभी गुमान न कर। केवल आत्म स्वरूप में लगा रह जो कोई अज्ञानी विषय कषाय के आधीन होकर शिव संगम में लीन नहीं होते हैं, उनको व्याकुलता रूपी दुःख सहन करना पड़ता है। ये संसारी जीव सभी व्याकुल हैं कोई सुखी नहीं है। जो अपने स्वरूप में निश्चय से ठहरने वाला केवल

ज्ञानादि अनन्त गुण सहित परमात्मा है वही शिव है। ऐसा जानना। अन्य कोई शिव नाम का पदार्थ नहीं। तू अपने स्वरूप अथवा केवल ज्ञानियों को शिव समझ। ये ही वीतराग देव की आज्ञा है।

श्री भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है कि—

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव सायरु वि अणंतु।
जीविं बिण्णि ण पत्तई जिणु सामिउ सम्मतु॥

काल, जीव, और संसार ये तीनों अनादि हैं, उसमें अनादि काल से भटकते हुए इस जीव ने मिथ्यात्व रागादिक के वश होकर अपना शुद्धात्म स्वरूप न देखा, न जाना। यह संसारी जीव अनादि काल से आत्म-ज्ञान की भावना से रहित है। इस जीव ने स्वर्ग नरक राज्यादि सब पाये, परन्तु ये दो वस्तुयें न मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन न पाया, दूसरे श्री जिनराजस्वामी न पाये। यह जीव अनादि का मिथ्यादृष्टि है, और क्षुद्र देवों का उपासक रहा है। श्रीजिन-राज भगवान की भक्ति इसे कभी नहीं मिली, अन्य देवों का उपासक रहकर सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। यहां कोई प्रश्न करे, कि अनादि का मिथ्यादृष्टि होने से सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ, यह तो ठीक हैं, परन्तु जिनराजस्वामी न पाये, ऐसा नहीं हो सकता? क्योंकि "भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ" ऐसा शास्त्र का वचन है, अर्थात् भव भव में इस जीव ने जिनवर पूजे और गुरु वंदे। परन्तु तुम कहते हो, कि इस जीव ने भव वन में भ्रमते जिनराजस्वामी नहीं पाये, उसका समाधान-भावभक्ति इसके कभी न हुई, भावभक्ति तो सम्यग्दृष्टि के ही होती है, और वाह्य लौकिक-भक्ति इसके संसार के प्रयोजन के लिये हुई वह गिनती में नहीं। ऊपर की सब बातें निःसार (थोथी) हैं, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव भक्ति मिथ्यादृष्टि के नहीं होती। ज्ञानी जीव ही जिनराज के दास हैं, सो सम्यक्त्व बिना भाव भक्ति के अभाव से जिनस्वामी नहीं पाये, इसमें सन्देह नहीं है। जो जिनवरस्वामी को पाता तो उस ही के समान होता। ऊपरी लोक दिखावारूप भक्ति हुई, तो किस काम की। अब श्रीजिनदेव का और सम्यग्दर्शन का स्वरूप सुनो। अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित जिनस्वामी हैं। वे ही परम आराधने योग्य हैं तथा शुद्धात्म ज्ञान रूप निश्चय सम्यक्त्व (वीतराग सम्यक्त्व) अथवा वीतराग सर्वज्ञ देव के उपदेशे हुए षट् द्रव्य, सात तत्व, नौ पदार्थ, और पांच अस्तिकाय उनका श्रद्धान रूप सराग सम्यक्त्व यह निश्चय व्यवहार दो प्रकार का सम्यक्त्व है। निश्चय का नाम वीतराग है, व्यवहार का नाम सराग है। एक तो चौथे पद का यह अर्थ है, और

दूसरे ऐसा "सिवसंगमु सम्मत्तु" इसका अर्थ ऐसा है, कि शिव जो जिनेन्द्र देव हैं उनका संगम अर्थात् भाव सेवन इस जीव को नहीं हुआ, और सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्व हो तो परमात्मा का भी परिचय हो।

यहाँ घर शब्द का मुख्य रूप स्त्री जानना, स्त्री ही घर का मूल है, स्त्री बिना गृहवास नहीं कहलाता। ऐसा ही दूसरे शास्त्रों में भी कहा है, कि घर को घर मत जानो, स्त्री ही घर है, जिन पुरुषों ने स्त्री का त्याग किया, उन्होंने घर का त्याग किया। यह घर मोह का बन्धन कर अति दृढ़ बधा हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है। यहाँ तात्पर्य ऐसा है, कि शुद्धात्मज्ञान, दर्शन शुद्ध भाव रूप जो परमात्म पदार्थ है उसकी भावना से विमुख जो विषय कषाय हैं, उनसे यह मन व्याकुल होता है। इसलिए मन की शुद्धि के बिना गृहस्थ के यति की तरह शुद्धात्मा का ध्यान नहीं होता। इस कारण घर का त्याग करना योग्य है, घर के बिना त्यागे मन शुद्ध नहीं होता। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि कषायों से और इन दुष्ट इन्द्रियों से मन व्याकुल होता है, इसलिए गृहस्थ लोग आत्म-भावना नहीं कर सकते।

अमूर्त वीतराग भावरूप जो निज शुद्धात्मा है उससे व्यवहारनय की अपेक्षा से दूध पानी की तरह यह देह एकमेक हो रही है, ऐसी देह, जीव का स्वरूप नहीं है, तो पुत्र कलत्र धन धान्यादि अपने किस तरह हो सकेंगे ? ऐसा जानकर बाह्य पदार्थों में ममता छोड़कर शुद्धात्मा की अनुभूति रूप जो वीतराग निर्विकल्प समाधि है उसमें ठहर कर सब प्रकार से शुद्धोपयोग की भावना करनी चाहिए।

शुभ योग, अशुभ योग, शुद्ध योग ये तीन योग हैं। इनमें से शुद्ध योग ही ग्रहण करने योग्य है, ऐसा बतलाते हुए कहते हैं—

उपयोगत्रय मदरोळ् विपरीतं मोदलेरडे नाल्कं गतियोळ् ।
उपयोग्यं मोक्षार्थिगे तपमुं शुद्धोपयोग मंतदे सारं ॥९४॥

अर्थ—अशुभयोग, शुभयोग और शुद्धोपयोग ऐसे तीन प्रकार के उपयोग हैं। उनमें से पहले के दो उपयोग नरक गति तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देव गति में ले जाते हैं। ये मोक्षार्थी भव्य जीवों के लिए विपरीत हैं। तप और शुद्धोपयोग ये उपयुक्त हैं। उसमें भी शुद्धोपयोग ही सारभूत है। अशुभ-शुभ उपयोगों से उत्पन्न होने वाले पाप और पुण्य इस आत्मा को लोहे और सोने की बेड़ी के समान बन्धन कारक हैं वे दोनों उपयोग मोक्ष के बाधक होते हैं और शुद्धोपयोग ही उन दोनों-पाप और पुण्य बन्ध के नाश का कारण होता है ॥९४॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि उपयोग तीन प्रकार के हैं। अशुभ उपयोग, शुभउपयोग, शुद्धउपयोग। इनमें से पहला अशुभ उपयोग, केवल पाप का बन्ध करने वाला है। दूसरा शुभ उपयोग है, वह शुभ फल का देने वाला है। ये दोनों छोडने योग्य हैं और एक शुद्ध उपयोग ग्रहण करने योग्य है। अगर योगी शुभ और अशुभ दोनों को आत्मा से भिन्न मानकर केवल अपने शुद्धोपयोग का आश्रय लेकर उसी में रत हो जाय तो शुद्धात्मा अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसलिए इस जीव को शुद्धात्मा की भावना करना ही श्रेष्ठ है।

प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।

हे योगी ! यह आत्मा अमूर्त स्वभाव होने से रस, रूप, गंध, स्पर्श शब्द संस्थानादिक पौद्गलिक भावों से रहित है,। धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार अमूर्त द्रव्यों से भी भिन्न है, स्वजीव सत्ता की अपेक्षा अन्य जीव द्रव्य से भी भिन्न है, अपने अस्तित्व कर सद्रूप वस्तु मात्र हैं, और यहाँ पर अलिंग ग्रहण विशेषण इसलिए कहा है, कि वह आत्मा किसी पुद्गलीक चिन्ह से ग्रहण नहीं किया जाता। इस विशेषण पद के अनेक अर्थ है; उनमें से कुछ थोड़े दिखलाते हैं—लिंग नाम इंद्रियों का है, उन इंद्रियों से यह आत्मा पदार्थो का ग्रहण (ज्ञान) करने वाला नहीं है, अतीन्द्रिय स्वभाव से पदार्थों को जानता है, इसलिए अलिंग ग्रहण है। अथवा इंद्रियों से अन्य जीव भी इस आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकते. यह तो अतीन्द्रिय स्वसंवेदन ज्ञानगम्य (अपने अनुभव गोचर) है, इसलिएं भी अलिंग ग्रहण है। जैसे धुएं चिन्ह को देखकर अग्नि का ज्ञान करते है, वैसे अनुमान ज्ञान कर लिंग अर्थात् चिन्ह कर यह आत्मा अन्य पदार्थों का जानने वाला नहीं है, यह तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान से जानता है, इस कारण भी अलिंग ग्रहण है। कोई भी जीव इंद्रिय गम्य चिन्ह से इस आत्मा का अनुमान नहीं कर सकता, अर्थात् इंद्रिय ज्ञान जनित अनुमान से ग्रहण नहीं किया जा सकता, इस कारण भी अलिंग ग्रहण है। इत्यादि अलिग ग्रहण शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यह शुद्ध आत्मा केवल अनुभव गम्य है, वचन से नहीं कहा जा सकता, कहने से अशुद्धता का प्रसंग आता है। इसलिए शुद्ध जीव द्रव्य ज्ञानगम्य है। जो अनुभवी हैं, वे ही शांतरस के स्वाद को जानते हैं। इसका अन्य कथन है, वह व्यवहार मात्र है। जिनके काल लब्धि निकट आ गई है, वे ही व्यवहार मात्र शब्द

ब्रह्म का निमित्त पाकर स्वरूप में लीन होते हैं। इस कारण अवाच्य शुद्ध जीव द्रव्य अनुभव योग्य ही हैं।

इस जीव को शुद्धोपयोग भावना ही इष्ट है—

शुद्धं तां फलभागिप शुद्धं बंधकमे मोक्षमिल्लवरिदं ।
शुद्धाशुद्ध विर्वाजत शुद्धं मोक्षक्के कारणं सामान्यं ॥६५॥

अर्थ—आप शुद्ध होकर रहना—शुभ योग रूप होकर रहना। ये दो सुख फल को देने वाले हैं। जो अशुद्ध है वह अशुभ उपयोग है, पाप बंध का कारण है। अशुभ भाव से मोक्ष को प्राप्ति नहीं होती है, केवल शुद्धोपयोग ही मोक्ष के लिए कारण है ॥६५॥

विवेचन—यह जीव शुभ और अशुभ कर्म के योग से चारों गतियों में भ्रमण कराने वाले परिणाम को प्राप्त होकर साता असाता कर्म को सहते हुए संसार में भ्रमण कर रहा है। जब अशुभ कर्म का उदय आ जाता है, तब वह अशुभ योग के द्वारा किये हुए कर्म फल को भोगता है। जब शुभ कर्म शुभ योग द्वारा किया जाता है, तो उस शुभ योग के फल स्वरूप देव पद चक्रवर्ती पद आदि पुण्य फल को भोगने वाला होता है। इस तरह यह जीव अनादि काल से पुण्य और पाप के निमित्त से संसार में भ्रमण कर रहा है इस कारण उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई। आचार्य कहते हैं कि हे योगी! अगर तू अपने अमूर्तिक अखण्ड अविनाशी शुद्धोपयोग स्वरूप में रमण करेगा इसका स्वाद लेगा तो शुभ और अशुभ दोनों मिलकर भी तेरे मार्ग में बाधा नहीं डाल सकेंगे, बल्कि वे सहायक ही होंगे इसलिए तू सम्पूर्ण पर द्रव्य को भिन्न समझ कर शुद्धोपयोगी होजा।

प्रवचनसार में कहा है कि—

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥

जब जीव के नवीन कर्म बन्ध होता है, तब वह तीन जाति होता है—जो जीव के प्रदेशों में पूर्वबद्ध वर्गणा हैं, उनसे तो नूतन कर्मवर्गणा स्निग्ध रूक्ष भाव बंधती हैं, और जो जीव के रागादि अशुद्धोपयोग होता है, उससे जीवबन्ध होता है, तथा जीव और पुद्गल के परिणमन से निमित्त नैमित्तिक-भाव कर जो दोनों का एकक्षेत्रावगाह है, वह आपस में जीव पुद्गल का बन्ध होता है। इस प्रकार तीन जाति का बन्ध जानना चाहिए।

जो जीव राग भाव कर परिणमता है, वही नवीन द्रव्य कर्म कर बंधता है, और जो जीव वैराग्य स्वरूप परिणमन करता है, वह कर्मों से नहीं बंधता।

रागपरिणत जीव नूतन कर्म से छूटता ही नहीं, और वैराग्य परिणति वाला नवीन कर्मों से छूट जाता है, तथा पुराने कर्मों से छूटता है। राग परिणति वाला जीव नवीन कर्मों से भी बंधता है, और पुराने कर्मों से भी पहले का बंधा हुआ है। वैराग्य परिणत जीव बंध अवस्था के होने पर अबंध हो गया है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि द्रव्यबंध का कारण रागादि अशुद्धोपयोग है, वही निश्चयबंध है, द्रव्य उपचारमात्र है। इसका भावार्थ यह है कि जो परिणाम राग, द्वेष, मोह की विशेषना लिए हुए हों, वही परिणाम बंध के कारण हैं। मोह सामान्य राग, द्वेष, मोह के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें से द्वेष, मोह तो अशुभ भाव ही हैं, और राग शुभ अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। धर्मानुराग शुभ है, और विषयराग अशुभ भाव है। इस प्रकार ये शुभाशुभ दो तरह के परिणाम बंध के ही कारण हैं। यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। कहीं एक रूपवती सुन्दर स्त्री का शव पड़ा हुआ था वहाँ एक साधु आया। वह उस शव को देख कर मन में सोचने लगा—अहा! पुण्य से क्या रूप पाया था। किन्तु इस रूप का मूल्य क्या है, जब कि इसने मनुष्य पर्याय पाकर भी आत्म कल्याण नहीं किया। इस रूप पर यह स्त्री गर्व करती रही होगी किन्तु यह शरीर, यह रूप कितना क्षणिक और कितना विनश्वर है, यह इस स्त्री को देखकर पता लगता है। तभी एक कामी पुरुष वहाँ

कामी बीचार कर्ता है के याजीवती होती तोमें इसकूं भोगलेतो परमहंस बीचारतो है के जप तपसील बीना ब्रथाही मरगई स्वान विचार करतो है के येह इहांसें अलग होजावे तोमें इस वेश्या का मृतक कलेवरकूं षाऊं इति·

घूमता फिरता आया। उसने शव को देखा और विचारने लगा—बाह, रूप तो यह है। यदि मुझे यह जीवित दशा में मिल जाती तो जिन्दगी में बहार आ जाती।

इतने में एक कुत्ता आ गया। वह लाश को देखकर सोचने लगा—ये लोग हट जायें तो मैं इसका मांस खाऊँ। लाश एक है, किन्तु सबके भाव भिन्न भिन्न है। साधु के शुभ भाव हैं। उसे शुभ बन्ध होगा। कामी और कुत्ते के अशुभ भाव हैं। उन्हें अशुभ बन्ध होगा।

आत्मा का स्वभाव अद्वैत ही है इसलिए द्वैत को छोड़ना चाहिए।

द्वैतभावमदु नाल्कु भेदम् द्वैतभावनेयदोदे योगिनीं ।
द्वैत भावमं विसुटु पारिणामिका द्वैतदिं पडेवे स्वस्वरूपमं ॥९६॥

अर्थ—हे योगी ! वह द्वैत भाव चार प्रकार के हैं। तू द्वैतभाव को दूर करके पारिणामिक भाव रूप जो अद्वैत भाव है उससे स्व स्वरूप को प्राप्तं होगा। यह जीव द्वैतभाव की दृष्टि से नारकी जीव, तिर्यंच जीव, मनुष्य जीव और देवगति के जीव ऐसे चार गति के जीव होते हैं। अद्वैत दृष्टि से द्वैतभाव को छोड़कर स्व स्वरूप पारिणामिक भाव से यह जीव अकेला ही है ऐसा समझ कर भावना करने से पापकर्म दूर होकर निज स्वरूप को तू प्राप्त होगा। ऐसा ही सद्गुरु भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥९६॥

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने बतलाया है कि हे योगी ! तेरा स्वरूप अद्वैत स्वरूप है परन्तु अनादि काल से पर परिणति के निमित्त से द्वैत को प्राप्त होकर दुनिया के नानारूप धारण किये। इस आत्मा के साथ दूसरा रहने पर ही असली अद्वैत स्वभाव का अनुभव हो सकता है।

परमात्म प्रकाश में कहा भी है।

परू जाणंतु वि परम मुणि पर-संसग्गु चयंति ।
पर-संगई परमप्पयहं लक्खहं जेण चलंति ॥१०८॥

शुद्धोपयोगी मुनि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में लीन हुए परद्रव्यों के साथ संबंध छोड़ देते हैं। अन्दर के विकार रागादि भावकर्म और बाहर के शरीरादि ये सब पर द्रव्य कहे जाते हैं,। वे मुनिराज एक आत्मभाव के सिवाय सब पर द्रव्य का संसर्ग छोड़ देते है। तथा रागी द्वेषी मिथ्यात्वी, असंयमी, जीवों का संबंध छोड़ देते हैं। इनके संसर्ग से जो परमपद वीतरागानित्यानंद अमूर्त स्वभाव परम समरसी भाव रूप परमात्मतत्व ध्यान करके योग्य हैं, उससे चलायमान हो जाते हैं, अर्थात् तीन गुप्ति रूप परम समाधि से रहित हो जाते हैं। यहाँ पर परमध्यान के घातक जो मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध परिणाम है तथा रागी द्वेषी पुरुषों का संसर्ग सर्वथा त्याग देना चाहिये।

आगे यह कहते हैं—अपनी आत्म भावना की आराधना रातदिन करना उसका चिन्तवन करना ही ठीक है ।

सहजाराधने दोरेकोळ् लहनिशं योगि भेदविज्ञानिये नीं ।
बहिरंगद विकलेतेयिं बहिरात्मनु मप्पयेद मळजनकत्वं ।।९७।।

अर्थ—हे योगी ! आत्म भावना की आराधना प्राप्त होने से रात दिन सतत देह और आत्मा के भेद विज्ञान की प्राप्ति होगी। बाह्य परवस्तु के विचार से, चित्त की चंचलता से, तेरा आत्मा बहिरात्मा हो जाता है । आत्मा कर्म फल को उत्पन्न करने का कारण बन जाता है । अपने आपको वही भेदविज्ञान की प्राप्ति से निरंतर उसी सुख में तन्मय होकर रहने वाला होगा ऐसा इसका भावार्थ है ।।९७।।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में बतलाया है कि बाह्य पर वस्तु के विचार मात्र से मन चंचल होता है । उसी चंचलता के निमित्त से यह आत्मा बहिरात्मा होती है । और वही अपने आत्मा को मलिन करने के लिये निमित्त कारण हो जाती है । जब भेद विज्ञान होता है, तब उस भेद विज्ञान के द्वारा विषय वासना दूर होती है । इसलिये योगी के लिये अपनी आत्मा में निरंतर रत होने को कहा है । जब तक संपूर्ण बाह्य इन्द्रियों को पर पदार्थ से भेद विज्ञान के द्वारा हटाकर अपनी आत्मा के अन्दर मनन नहीं करेंगे या रत नहीं होंगे, तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है । मोक्ष का अर्थ आत्मा से बाह्य पर द्रव्य को हटाना है ।

हे योगी ! पर द्रव्य का सम्बन्ध महा दुःख रूप है । इसलिये राग भाव जब तक रहेगा तब तक तुझे स्व पर का ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है । विवेकी जीवों के शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि रागी द्वेषी अविवेकी जीवों की संगति से नाश हो जाते हैं। अथवा आत्मा के निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध भावों के संबंध से मलिन हो जाते हैं । जैसे अग्नि लोहे के संग से पीटी-कूटी जाती है । यद्यपि आग को घन कूट नहीं सकता, परन्तु लोहे की संगति से अग्नि भी कूटने में आती है, उसी तरह दोषों के संग से गुण भी मलिन हो जाते हैं । यह कथन जानकर आकुलता रहित सुख के घातक जो देखे सुने अनुभव किये भोगों की वाँछारूप निदानबंध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्टों की संगति नहीं करना, अथवा अनेक दोषों सहित रागी द्वेषी जीवों की भी संगति कभी नहीं करना, यह तात्पर्य है ।

हे योगी ! जो पंचेन्द्रियों के विषय में आसक्त है उनका अकाज होता है। इसलिये पंचेन्द्रिय विषयों को तू छोड़कर अपने आत्म ध्यान में लीन होजा । यही तुझे परम हितकारी है । विषयों के कारण ही अज्ञानी आत्मा संसार में अनेक प्रकार के दुःख उठाती है । अब तो चैत ।

यह मूढ़ अज्ञानी जीव इन पंचेन्द्रिय विषयों से सुख चाहता है । पंचेन्द्रिय विषयों से सुख की इच्छा करना ऐसे ही है, जैसे कोई व्यक्ति अमावस्या की घोर काली रात में चन्द्रमा को तलाश कर रहा हो । और सोचता हो—शायद चन्द्रमा कहीं उदय हो जावे । जैसे अमावस्या को चन्द्रमा नही निकलता, वैसे ही पचेन्द्रिय विषयों से सुख चाहना भी व्यर्थ है ।

येकपुरुष अमावस्याकी मध्यरात्रीका अंधारामें चंद्रमाकूं हेरताहै ढूंढताहै स्यात् चंद्रमाकी चानणीमें ढूंढनोच दूदरस होवोजावे

पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा आदि जो सब खोटे ध्यान है वे ही हुए विकल्प, उनसे रहित विषय कषाय रहित जो निर्दोष परमात्मा है उसका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप जो निर्विकल्प समाधि, है उससे उत्पन्न वीतराग परम आह्लादरूप सुख-अमृत. है उसके रस के स्वाद से पूर्ण कलश की तरह भरा हुआ जो केवल ज्ञानादि व्यक्ति रूप कार्य समयसार, है उसका उत्पन्न करने वाला जो शुद्धोपयोग कारण समयसार, है उसकी भावना से रहित संसारी जीव विषयों के अनुरागी पांच इंद्रियों के लोलुपी भव भव में नाश पाते है । पतंगादिक एक

विषय में लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो पाँच इन्द्रियों के विपयों में मोहित हैं, वे वीतराग चिदानंदस्वभाव परमात्मतत्व उसको न सेवते हुए, न जानेते हुए, और न भावते हुए, अज्ञानी जीव मिथ्या मार्ग को वाँछते, कुमार्ग की रुचि रखते हुए नरकादि गति में घानी में पिलते करोंत से विदरते और शूलो पर चढ़ते दुःखों को देहादिक की प्रीति से भोगते हैं। ये अज्ञानी जीव वीताराग-निर्विकल्प परम समाधि से पराङ्मुख हैं, जिनके चित्त चचल हैं, कभी निश्चल चित्तकर निजरूप नहीं ध्यावते हैं। और जो पुरुष राग से रहित है, वे वीतराग-निर्विकल्प समाधि में लीन हैं, वे ही लीलामात्र में संसार को तैर जाते हैं।

चिंतित वस्तु को देने वाली अपनी आत्मा के अन्दर ही अपनी आत्मा है उसी का ध्यान करना योग्य है। ऐसा कहते हैं।

चिंतामणि पेरंतुटें चिंतिसदने कोडुव पेयगुंटघुर्दारं।
चिंतिसु निजात्मनं चिच्चिंतामणी ताने कुडुगुसक्षयसुखमं ॥९८॥

अर्थ—अपनी आत्मा के अन्दर जिस वस्तु को चितवन करते हैं उस वस्तु को ही देने में समर्थ चिंतामणि के समान आत्मा ही चिंतामणि है। ऐसे अपने अंदर ही रहने वाले आत्म स्वरूप को छोड़कर क्या और कोई अन्य चिंतामणि है ? नहीं। इसलिये हे योगी ! ऐसी निज शुद्धात्मा का ध्यान करो। वही चिंतामणि तुझे नाश रहित अत्यंत शाश्वत मोक्ष पद को देने वाला है अर्थात् शाश्वत सुख को देने वाला है ॥९८॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक के अन्दर यह विवेचन किया है कि अपनी आत्मा के अन्दर जिस वस्तु का चिन्तवन करते हैं, उस वस्तु को भी देने में समर्थ ऐसा जो चिंतामणी रत्न उसके समान परम पवित्र आत्मा है वही वास्तविक चिंतामणि है। ऐसे आत्म रत्न को चिंतामणि रूप समझकर उसी का ध्यान करने से इच्छित पदार्थ मोक्ष की प्राप्ति होगी। हे योगी ! आत्म स्वरूप को मत छोड़ो। इस आत्म स्वरूप को छोड़कर अन्य और कोई इच्छित मोक्ष को देने वाला नहीं है। इसलिये तू अपने आत्म स्वरूप का ही ध्यान कर। चिंतामणि पत्थर है वह जड़ वस्तु है। वह चिंतित वस्तु को कैसे दे सकता है। इसलिये अज्ञानी लोग उस चिंतामणि वाह्य पत्थर को ही कामना पूरी करने वाला समझते हैं किन्तु असली चिंतामणि तो अनादिकाल से अपने अन्दर ही छिपा हुआ है। इस रत्न को प्राप्त करने के लिये ऊपर के आठ कर्म ज्ञानावरणी दर्शना-वरणी आदि का जो आवरण पड़ा हुआ है, उस आवरण को जब तक दूर नहीं

करेगा या पुरुषार्थ नहीं करेगा, तब तक वह रत्न प्रगट नहीं हो सकता है। जब वह परदा दूर हो जायगा, तब उस वस्तु को जिसको रात दिन प्राप्त करने की इच्छा करता है, वह चिंतामणि आत्मा का शुद्ध स्वरूप मिल जायगा। अपनी आत्मा ही परमात्मा है, वही अपना स्वरूप है। ऐसा समझकर तू परमात्मा का ध्यान कर, यही तेरे लिये योग्य है। अन्य वस्तु के ध्यान करने से क्या फायदा ?

प्रश्न—आत्मा का परिचय कैसे हो ?

आत्म-परिचय किस प्रकार कर सकते है इसके बारे में कहते हैं कि—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥

उत्पत्ति, स्थिति, नाश इन तीनों धर्मो का सतत रहना यह तो हुआ वस्तुओं का सामान्य लक्षण। इन्हीं सर्व वस्तुओं के अंतर्गत जीव भी एक द्रव्य या तत्व है। उसका भी सामान्य स्वभाव तो वही है जो बाकी सर्व वस्तुओं का है। परन्तु जीवों का जो निजी तत्व है, वह उसी के कल्याण के लिए है। शास्त्रों का उपदेश व व्रत, तप, दान, धर्म, ये सर्व कर्म केवल जीव के ही कल्याणार्थ कहे व किये जाते हैं। इसलिए जीव की निराली पहिचान करना बहुत ही आवश्यक कार्य है। उसके कल्याण के मार्ग उसके जानने पर ही जाने जा सकते हैं। तब ?

जीव का स्वभाव ज्ञान है। जीवों को जितने दुःख, अशांति, उद्वेग, क्षोभ, होते दीखते हैं वे सब रागद्वेष के वश होने से व अज्ञान रहने से होते है इसी प्रकार जहाँ जहाँ पर राग द्वेप की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पड़ती है वहाँ वहाँ पर सुख शांति व अनुद्वेग देखने में आता है। वस्तु में उद्वेग व अशांति न रहना यही उस वस्तु का मूल स्वभाव समझना चाहिए। क्षोभ व अशांति अथवा उथल पुथल होना विजातीय संयोग का कार्य है। इसीलिए क्षोभ रहित शाँत होकर ठहरना आत्मा का मूल स्वभाव समझा जाता है। रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा मे क्षोभ अशांति मिटती है और शांति प्राप्त होती है। रागद्वेष की अवस्था जैसे-जैसे मंद होकर तत्वज्ञान की वृद्धि होती है वैसे ही वैसे जीवों को शांति प्राप्त होती हुई जान पड़ती है। इसलिए रागद्वेष का पूर्ण अभाव होकर ज्ञान की पूर्णता होने को निज स्वभाव व पूर्ण सुख शांति प्राप्त होने का कारण मान लेना अनुभव के विरुद्ध न होगा।

वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति होना ही अविनाशी अवस्था का प्राप्त होना है। वह अवस्था कभी फिर नहीं छूटती है। इसलिए जो अपने अविनाशी पद की

आकांक्षा करते हों उन्हें चाहिए कि, ज्ञान की आराधना करें । क्योंकि, ज्ञान जीव का मूल स्वभाव है। किसी भी वस्तु की चिरकाल तक भावना या आराधना करने से उसकी प्राप्ति एक दिन अवश्य होती है।

कोई यहाँ प्रश्न करता है कि आत्म स्वरूप की प्राप्ति होगई, यह पता कैसे चलता है और उसे बताता कौन है।

गुरु महाराज उससे हंसकर कहते हैं कि अरे पगले ! जब आत्म स्वरूप की प्राप्ति होगी तो तुझे बतलाने कौन जायगा, तुझे स्वयं ही ज्ञात हो जायगा।

एक पुत्री अपनी माँ से कहने लगी—माँ ! तेरा पेट मोटा क्यों हो रहा है। माँ बोली—बेटी ! समय आने दे। जब तेरी यह अवस्था होगी, तब तुझे स्वयं अनुभव हो जायगा।

गर्भवती स्त्री की पुत्री अपणी मातासैं बुजती है हेमात तेरीपेट मोटो कैसे है• अबवा स्त्री पुत्रीकूं जथ वर्त्त कहदेवनोवी निश्चंपउसकूं होवनाई समयपायनिश्चय होवचो अथवानाईची होव•

निर्मोही साधुओं की शुद्ध ज्ञान भावना का वर्णन करते हुए कहा है कि—

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्येत् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीतौ निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ।।

अपने श्रेष्ठ ज्ञान को बार बार पसार कर यथास्थित सर्व तत्वों को देख और रागद्वेष को छोड़कर उन तत्वों का बार बार जैसा का तैसा चिंतवन करे । ऐसा चिंतवन आत्मवेदी वीतराग के हाथ से ही हो सकता है।

जो कि मोही हैं वे जिस पदार्थ को देखने लगते हैं उसी में उनकी प्रीति, होती है अथवा नहीं तो अप्रीति अवश्य व तत्क्षण् उत्पन्न होती है। वह उत्पन्न हुए विना रहती नहीं। और उसके उत्पन्न होने पर जीव को कर्म बन्धन तैयार है।

योगी के लिए बतलाते हैं कि अनेक प्रकार के निःसार भाषण को छोड़कर सम्यग्ज्ञान के बीज रूप आत्मा का ही ध्यान करना श्रेयस्कर है ऐसा बतलाते हैं—

वृहदलंघ्यसुबोधद, बीजमं सहज भावविशिष्टसुतत्वमं।
बहुविकल्पद जल्पदगळ्केयिं दिहदोळीक्षिसु योगी निजात्मनं ॥९९॥

अर्थ—हे योगी! तू नाना प्रकार के निःसार भाषण को छोड़कर अत्यन्त महत्वपूर्ण और कभी किसी के द्वारा उल्लंघन न होने वाले सम्यग्दर्शन ज्ञान सुख आदि भावों से युक्त और उत्तम तत्व रूप रहने वाली अपने आत्मा को अपने अन्दर देख और उसी का ध्यान कर। और तू एक निमिषमात्र भी उससे अलग न हट। एकाग्रता पूर्वक ध्यान करने से सम्पूर्ण आत्मा के साथ लगा हुआ यह जड़ कर्म भिन्न होकर तुझे अत्यन्त शुद्ध चित् स्वरूप सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति होगी और उसी से अनन्त सुख तथा शान्ति देने वाले निर्वाण सुख की प्राप्ति होगी।

हे योगी! जैसे स्फटिक मूर्ति कीचड़ से लिप्त होने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती है उसी तरह चित् स्वरूप तेरी आत्मा अनादि काल से कर्म रूपी मल से लिप्त होने पर भी अपने ज्ञानादि चित आकृति को भी नहीं छोड़ती है किन्तु कर्मों का आवरण पड़ गया है, जिसने तेरे स्वरूप की पहिचान करने नहीं दी। इसलिए तू अपने पुरुषार्थ के द्वारा इस कर्म रूपी पर्दे को दूर कर। यदि तू अपने अन्दर अपनी आराधना करेगा तो अपने अनुभव में आत्म स्वरूप की प्राप्ति होगी जब आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है तब वह कर्मो को नष्ट कर देता है। कर्म नष्ट होने पर परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप ज्ञान दर्शन चारित्रमय शुद्धात्मा की उपलब्धि हो जाती है।

साधु के अकारण बन्धुता होती है—

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्।
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ॥
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते।
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥

अनेक दुःखों के कारण तथा मलमूत्रादि की अपवित्रता से भरे हुए इस शरीर से जीव विरक्त नहीं होता यह वात तो अलग ही रही पर ऐसे के साथ अधिक प्रीति न करता हो, यह भी तो उससे नहीं बनता है। उल्टा उस शरीर के साथ अधिकाधिक प्रीति करता है। खैर, यह प्राणी तो भूल ही रहा है पर, इसे कोई यह सुझाता भी तो नहीं है कि तू ऐसा मत कर। इस प्राणी के जितने बंधुजन तथा मित्र हैं वे सब कर्कश तथा अप्रिय लगने के डर से ऐसा एक शब्द भी, कभी नहीं बोलते कि जिससे इस प्राणी की शरीर संबंधी प्रीति कम हो। परिपाक के समय चाहे वह कितना ही दुखी क्यों न हो पर, उसके मित्र बांधव सदा वही बात सुनाते और बताते हैं जिससे उसे तत्काल अनिष्ट न भासता हो। इसलिए वे सच्चे मित्र बांधव नहीं है, क्योंकि वे अहित से उसे रोकते नहीं हैं। तो फिर सच्चा मित्र या बांधव कौन है ? जो उस अहित प्रवृत्ति से उसे बचाता हो। ऐसा कौन है ? ऐसे साधु संतपुरुष होते हैं जो जीवों की शरीरादि के साथ उत्कट प्रीति देख कर यह विचार नहीं करते कि इन जीवों को हमारा उपदेश कठोर लगेगा। किन्तु वे फलसमय में हितावह समझ कर अपने सारे उपदेश को सुनाते ही हैं और परिपाक समय में दुःखदाई ऐसे शरीर प्रेम को छुड़ाने का यत्न करते ही रहते हैं। ऐसे महापुरुषों के निष्कारण परहित की तरफ देखो। ये महापुरुष ही सच्चे मित्र या हितू हैं। क्या जीवों को हितोपदेश सुनाने के बदले उन जीवों से उन्हें कुछ मिलेगा ? नहीं। उनका स्वभाव ही परम दयालु होता है जिससे वे सदा सवों का निष्कारण हित साधन करने में प्रवृत्ति रखते हैं।

विषयों को न भोगकर उन्हें छोड़ने वाले की भावना और उसका फल—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥

पर पदार्थ कभी अपना नहीं बन सकता है। पर पदार्थ इकट्ठे करने की भावना कितनी ही चाहे की जाये और कितने ही उपाय किये जायें, पर वे अपने निज स्वरूप में आकर मिल नहीं सकते हैं। आत्मा आत्मा ही रहेगी और पर पर ही रहेंगे। यह वस्तु स्वभाव की स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्तिक और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान हैं और जड़ हैं। इस प्रकार जीव और वाकी कुल पदार्थ अपने अपने निराले स्वभावों को रखने वाले माने गये हैं तो उनका एक दूसरे में मिल जाना या एक दूसरे की एक दूसरे से भलाई बुराई होना असम्भव बात है। जड़ चेतन का, मूर्तिमान्-अमूर्तिक का मेल होना ही कठिन है तो एक दूसरे की वे भलाई बुराई क्या करेंगे ? दूसरी बात यह है कि, आत्मा में वह आनन्द भरा हुआ है जो कि जड़ पदार्थों में असंभव है। शरीर

से चेतना निकल जाने पर यह शरीर तुच्छ और फीका लगता है। इसका कारण यही है कि शरीर जड़ है, उसमें आनन्द या सुख की मात्रा क्या रह सकती है ? शरीर में रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतन का ही चिन्ह है, न कि जड़ शरीर का। क्योंकि, आनन्द या सुख, ज्ञान के विना नहीं होता। वह ज्ञान का ही कार्य है, ज्ञान का ही रूपान्तर है। तो फिर जड़ में वह कैसे मिल सकता है ? इसीलिए सुख की लालसा से जड़ विषयों का सेवन करना, उनसे सुख चाहना पूरी भूल है। तव ? केवल आत्मा का स्वभाव जानने के लिए उसी का ध्यान करो, चितन करो तो सम्भव है कि कभी आत्मा का पूरा ज्ञान हो जाने से पूरा निश्चल सुख प्राप्त हो जाय। जव कि अज्ञान अवस्था में भी थोड़ा सा ज्ञान शेष रहने के कारण जीवों को कुछ सुख अनुभव होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी वनने पर पूरा सुख क्यों न मिलेगा ? जव कि चेतना ही आनन्ददायक है तो जड़ पदार्थों में फंसने से आनन्द कैसे मिल सकता है ? क्योंकि, जड़ पदार्थों मे फंसने से ज्ञान नष्ट या हीन अवस्था को प्राप्त होता है जिससे कि आनन्द की मात्रा घट जाना संभव है। जड़ पदार्थों में फंसने वाला जीव आत्म ज्ञान से तो वंचित होता ही है और इधर जड़ पदार्थों से कुछ मिलने वाला नहीं है इसलिए दोनों तरफ के लाभ से जाता है। उसे न इधर का सुख न उधर का सुख। यदि वही जीव सव तजकर अकेले अपने आपको भजने लगे तो पूर्ण, तीनों जग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। फिर उससे वचा ही क्या रहा ? इसीलिए मानना चाहिए कि वह तीनों लोक का स्वामी वन चुका।

जव कि यह जीव सव झगड़े छोड़कर आत्मज्ञान को प्राप्त करके सारे असार संसार में अपने चिदानन्द को सारभूत समझने लगा और उस लोक श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करने लगा तो इससे वडा और तीन लोक का स्वामी कौन होगा ? कोई नहीं। उस समय यही तीन लोक का स्वामी वन जायेगा। क्योंकि, जो जिसका स्वामी होता है वह उसके सार सुख को भोगता है। जीव जव कि तीनों लोक के एकमात्र सार सुख आत्मानन्द को भोगने लगा तो वह तीनों ही लोक का स्वामी हो चुका है।